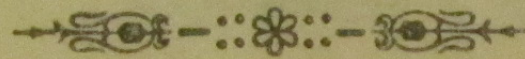


॥ श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ॥

प्रकाशितग्रन्थसंख्या— १३६

❀ श्रीमद्भगवद्गीता ❀



श्रीपादविश्वनाथचक्रवर्त्तिमहोदयविरचित—

“सारार्थवर्षिणी” टीकया एवं श्रीयुत-

बलदेवविद्याभूषणमहोदयविरचित

“गीताभूषण” भाष्येण

समलंकृता



प्रकाशक—

कृष्णदासबाबा

कुसुमसरोवर

राधाकुण्ड

सम्बत्— २०२३

व्योच्छावर— ४ रु ५० ०पैसे

धन्यवादपत्रम्



श्रीमान् डाक्टर चन्द्रशेखरपाण्डे, देवास, (इन्दौर)
निवासी को एवं श्रीमान् शंकरलाल तिवारीजी
(वृन्दावननिवासी) को हम हार्दिकधन्यवाद देते हैं
कि दोनों ने इस गीता के प्रकाशन में सर्व-
प्रकार से सहायता देकर परम उत्साहित
किया है, हम प्रभु से दोनों की
शुभकामना चाहते
हैं।

भूमिका—

जगत्प्रसिद्ध इस गीताशास्त्र में निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग एवं भक्तियोग आदि समस्त विषयों का उपदेश है, वक्ता भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण, श्रोता रणविमुख सखा अर्जुन। जब युद्धभूमि में अर्जुन की युद्ध करने की इच्छा न हुई तब भगवान् ने युद्ध में प्रवृत्त कराने के छल से इस गीता का उपदेश दिया। "समस्त उपनिषद् गौत्रों के दुग्ध रूप इस गीतामृत के दोग्धा श्रीकृष्ण, सुधि-गण भोक्ता तथा धनुर्धारी अर्जुन बछड़ा है" ऐसा बतलाया गया है। वे देव समूह त्रिकाण्डात्मक हैं कर्म, ज्ञान एवं भक्ति। उपनिषदों में भक्तितत्त्व निगूढ़ भाव से निहित है। उन उपनिषदों का साररूप गीताशास्त्र है तथा उपनिषदों का निगूढ़ भक्तिधन गीताशास्त्र में निहित है। तात्पर्य—उपनिषदों के सार रूप इस गीताशास्त्र में भक्तिधन निगूढतया सन्निवेश है।

अर्थात् महामूल्य भक्तिरूप परम निधि के रत्नमण्डित सम्पुट रूप यह गीता शास्त्र है। इस के प्रथम छै अध्याय में निष्काम कर्म-योग एवं तीसरे छै अध्याय में ज्ञानयोग है, परन्तु महानिधि के कारण तथा अत्यन्त रहस्य के कारण एवं परमदुर्लभता के कारण भक्तियोग बीच में रखा गया है जो कि कर्म एवं ज्ञान दोनों का संजीवक रूप से अभिहित होता है।

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्ती जी महोदय गौड़ीय—सम्प्रदाय के महान् आचार्य, विद्वद्शिरोमणि, महान् रसिक माने गये हैं। ऐसा कि गौड़ीयवैष्णव समाज ने उन को श्रीरूपगोस्वामी के पुनः प्राकट्य होना घोषित किया है। उनकी रसिकता श्रीमद् भागवत की "सारार्थदर्शिनी" टीका से व्यक्त होती है। उन्होंने इस गीता-शास्त्र की टीका में रस संयुक्त सिद्धान्तमृत का प्रचुर वर्णन करा कर गीतानुभवी जनता का महान् उपकार किया है, यदि कोई

भावपूर्ण, रससंपृक्त गीताशास्त्र का भावास्वादन करना चाहें तो चक्रवर्तीजी की इस टीका का अवश्य अवलोकन करें। उन की रसिकता यहाँ स्पष्ट ही व्यक्त होती है कि—उन्होंने टीका का सम्पूर्ण निष्कर्षण कर कहीं रखा था, परन्तु उस में से चूहों ने शेष के दो पन्ने खा गये। वे पुनः लिख भी सकते थे परन्तु लिखा नहीं—आप शेष ७४ से ७६ श्लोकों की टीका के वारे में कहते हैं—“अतः परं पञ्च-श्लोकव्याख्या सर्वगीतातात्पर्यनिष्कर्षेऽन्तिमश्लोका यत्र वर्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्नलिखम्। तां तन्मात्रवादाम्, स प्रसीदतु तस्मै नमः। इति श्रीमद्भगवद्गीताटीका “सारार्थवर्षिणी” समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिति”॥

अर्थात्—“इसके आगे समस्त गीतार्थ-तात्पर्य निष्कर्षरूप अन्तिम पांच श्लोक की व्याख्या जहाँ रक्खी हुई थी, उन दो पन्नों को विनायक अर्थात् गणेश जी ने अपने वाहन अखु अर्थात् चूहों में हरण करा लिया, भावार्थ-चूहे दो पन्ने खा गये। इसमें गणेश जी का क्या आशय था नहीं कह सकता, इसलिये मैंने पुनः उन पांच श्लोकों की टीका नहीं लिखी। वे गणेशजी प्रसन्न हों उनको नमस्कार” ऐसा कहकर उन्होंने अपना सारार्थवर्षिणी टीका को समाप्त किया। कलिकत्ता “गौड़ीयमिशन” ने बड़ा भारी उपकार किया कि उस मिशन ने चक्रवर्तीजी की “सारार्थवर्षिणी” टीका का बंगाल में प्रकाशन कर विद्वत्समाज के प्रत्यक्षीभूत किया। श्रीहृषीकेशशोण, वि, ए, ने चक्रवर्तीटीका का अनुसरण से एक मर्मनुवाद प्रस्तुत कर छपवाया। श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती जी महोदय का सम्पादकत्व में श्रीकुञ्जबिहारिविद्याभूषण के प्रकाशकत्व में श्रीपाद बलदेवविद्याभूषण महोदय का “गीताभूषणभाष्य” बंगाल में सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। अस्तु मुद्रणादि में प्रेस सम्बन्धा त्रुटियाँ रह गई होंगी तो उस लिये क्षमा चाहते हैं। (कृष्णदास)

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्त्तिठाकुरकृता

‘सारार्थवर्षिणी’ टीका

गौरांशुकः सत्कुमुदप्रसोदी स्वाभिरुचयया गोस्तमसो निहन्ता।
श्रीकृष्णचैतन्यसुधनिधिर्मनोऽधितिष्ठन् स्वरतिं करोतु ॥१॥
प्राचीनबाचः सुबिचार्य्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य ॥२॥

इह खलु सकलशास्त्राभिमत-श्रीमन्नरसरोजभजनः स्वयं भगवान्नराकृति-परब्रह्मश्रीबसुदेवसूनुः साक्षाच्छ्रीगोपालपुण्या-मवतीर्यापार-परमात्मक्य-प्रापञ्चिक-सकललोचन-गोचरीकृतो भवाब्धिनिमज्जमानान् जगज्जनानुद्धृत्य स्वसौन्दर्य्यमाधुर्य्यस्वादनया स्वीयप्रेममहाम्बुधौ निमज्जयामास।

शिष्टरक्षा दुष्टनिग्रह-व्रतनिष्ठामहिष्ठप्रतिष्ठोऽपि भुवो भारदुःखापहारमिषेण दुष्टानामपि स्वद्वेष्टृणामपि महासंसार-माह-प्रासी-भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परम-रक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धानात्तारकाल-जनिष्यमाणाननाद्यविद्याबन्धनिबन्धनशोकमोहाद्या-कुलानपि जीवानुद्धर्त्तुं शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तुं स्वप्रियसखं तादृश-स्वेच्छाबशादेव रणमूर्द्धन्युद्धतशोकमोहं श्री-

धन्यवादपत्रम्

श्रीमान् डाक्टर चन्द्रशेखरपाण्डे, देवास, (इन्दौर)
निवासी को एवं श्रीमान् शंकरलाल तिवारीजी
(वृन्दावननिवासी) को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं
कि दोनों ने इस गीता के प्रकाशन में सर्व-
प्रकार से सहायता देकर परम उत्साहित
किया है, हम प्रभु से दोनों की
शुभकामना चाहते
हैं ।

भूमिका—

जगत्प्रसिद्ध इस गीताशास्त्र में निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग एवं भक्तियोग आदि समस्त विषयों का उपदेश है, वक्ता भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण, श्रोता रणविमुख सखा अर्जुन । जब युद्धभूमि में अर्जुन की युद्ध करने की इच्छा न हुई तब भगवान् ने युद्ध में प्रवृत्त कराने के छल से इस गीता का उपदेश दिया । “समस्त उपनिषद् गौत्रों के दुग्ध रूप इस गीतामृत के दोग्धा श्रीकृष्ण, सुधि-गण भोक्ता तथा धनुर्धारी अर्जुन बछड़ा है” ऐसा बतलाया गया है । वे देव समूह त्रिकाण्डात्मक हैं कर्म, ज्ञान एवं भक्ति । उपनिषदों में भक्तितत्त्व निगूढ़ भाव से निहित है । उन उपनिषदों का साररूप गीताशास्त्र है तथा उपनिषदों का निगूढ़ भक्तिधन गीताशास्त्र में निहित है । तात्पर्य—उपनिषदों के सार रूप इस गीताशास्त्र में भक्तिधन निगूढतया सन्निवेश है ।

अर्थात् महामूल्य भक्तिरूप परम निधि के रत्नमण्डित सम्पुट रूप यह गीता शास्त्र है । इस के प्रथम छै अध्याय में निष्काम कर्म-योग एवं तीसरे छै अध्याय में ज्ञानयोग है, परन्तु महानिधि के कारण तथा अत्यन्त रहस्य के कारण एवं परमदुर्लभता के कारण भक्तियोग बीच में रखा गया है जो कि कर्म एवं ज्ञान दोनों का संजीवक रूप से अभिहित होता है ।

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्ती जी महोदय गौड़ीय—सम्प्रदाय के महान् आचार्य, विद्वद्शिरोमणि, महान् रसिक माने गये हैं । ऐसा कि गौड़ीयवैष्णव समाज ने उन को श्रीरूपगोस्वामी के पुनः प्राकट्य होना घोषित किया है । उनकी रसिकता श्रीमद् भागवत की “सारार्थदर्शिनी” टीका से व्यक्त होती है । उन्होंने इस गीता-शास्त्र की टीका में रस संयुक्त सिद्धान्तामृत का प्रचुर वर्णन करा कर गीतानुभवो जनता का महान् उपकार किया है, यदि कोई

भावपूर्ण, रससंपृक्त गीताशास्त्र का भावास्वादन करना चाहें तो चक्रवर्तीजी की इस टीका का अवश्य अवलोकन करें। उन की रसिकता यहाँ स्पष्ट ही व्यक्त होती है कि—उन्होंने टीका का सम्पूर्ण निर्माण कर कहीं रखा था, परन्तु उस में से चूहों ने शेष के दो पन्ने खा गये। वे पुनः लिख भी सकते थे परन्तु लिखा नहीं—आप शेष ७४ से ७८ श्लोकों की टीका के वारे में कहते हैं—“अतः परं पञ्च-श्लोकव्याख्या सर्वगीतातात्पर्यनिष्कर्षेऽन्तिमश्लोका यत्र वर्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्नलिखम्। तां तन्मात्रवादाम्, स प्रसीदतु तस्मै नमः। इति श्रीमद्भगवद्-गीताटीका “साराथर्वणिणी” समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिति”।

अर्थात्—“इसके आगे समस्त गीतार्थ-तात्पर्य निष्कर्षरूप अन्तिम पांच श्लोक की व्याख्या जहाँ रक्खी हुई थी, उन दो पन्नों को विना-यक अर्थात् गणेश जी ने अपने वाहन अखु अर्थात् चूहों में हरण करा लिया, भावार्थ-चूहे दो पन्ने खागये। इसमें गणेश जी का क्या आशय था नहीं कह सकता, इसलिये मैंने पुनः उन पांच श्लो-कों की टीका नहीं लिखी। वे गणेशजी प्रसन्न हों उनको नमस्कार” ऐसा कहकर उन्होंने अपना साराथर्वणिणी टीका को समाप्त किया। कलिकत्ता “गौड़ीयमिशन” ने बड़ा भारी उपकार किया कि उस मिशन ने चक्रवर्तीजी को “साराथर्वणिणी” टीका का बंगाली में प्रकाशन कर विद्वत्समाज के प्रत्यक्षीभूत किया। श्रीहृषीकेशशौन, वि, ए, ने चक्रवर्तीटीका का अनुसरण से एक मर्मनुवाद प्रस्तुत कर छपवाया। श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती जी महोदय का सम्पाद-कत्व में श्रीकुञ्जविहारिविद्याभूषण के प्रकाशकत्व में श्रीपाद बल-देवविद्याभूषण महोदय का “गीताभूषणभाष्य” बंगाली में सानु-वाद प्रकाशित हो चुका है। अस्तु मुद्रणादि में प्रेस सम्बन्धा त्रुटियाँ रह गई होंगी तो उस लिये क्षमा चाहते हैं। (कृष्णदास)

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्त्तिठाकुरकृता

‘साराथर्वणिणी’ टीका

गौरांशुकः सत्कुमुदप्रमोदी स्वाभिरुचयया गोस्तमसो निहन्ता।
श्रीकृष्णचैतन्यसुधनिधिर्मे मनोऽधितिष्ठन् स्वरतिं करोतु ॥१॥
प्राचीनवाचः सुबिचार्य्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य ॥२॥

इह खलु सकलशास्त्राभिमत-श्रीमन्नरायणसरोजभजनः स्वयं
भगवान्नराकृति-परब्रह्मश्रीबसुदेवसूनुः साक्षाच्छ्रीगोपालपुण्य-
मवतीर्य्यापार-परमातर्क्य-प्रापञ्चिक-सकललोचन-गोचरीकृतो
भवान्निधनिमज्जमानान् जगज्जनानुद्धृत्य स्वसौन्दर्य्यमाधुर्य्यास्वा-
दनया रवीयप्रेममहाम्बुधौ निमज्जयामास।

शिष्टरक्षा दुष्टनिग्रह-व्रतनिष्ठामहिष्ठप्रतिष्ठोऽपि भुवो भारदुःखाप-
हारमिषेण दुष्टानामपि स्वद्वेष्टृणामपि महासंसार-ग्राह-ग्रासी-
भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परम-रक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धा-
नात्तारकाल-जनिष्यमाणाननाद्यविद्याबन्धनिबन्धनशोकमोहाद्या-
कुलानपि जीवानुद्धर्त्तुं शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तुं
स्वप्रियसखं तादृश-स्वेच्छाबशादेव रणमूर्द्धन्युद्धूतशोकमोहं श्री-

मदङ्गुनं लक्ष्यीकृत्य काण्डत्रितयात्मक-सर्ववेदतात्पर्य-पर्यव-
सितार्थरत्नालङ्कृतं श्रीगीताशास्त्रमष्टादशाध्यायमन्तर्भूताष्टादश-
विद्यं साक्षाद्विद्यमानीकृतमिव परमपुरुषार्थमाविर्भावयाम्बभूव ।
तत्राध्यायानां षट्केन प्रथमेन निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयेन
भक्तियोगः, तृतीयेन ज्ञानयोगो दर्शितः । तत्रापि भक्तियोगस्या-
तिरहस्यत्वादुभय-सञ्जीवकत्वेनाभ्यर्हितत्वात् सर्वदुर्लभत्वाच्च
मध्यवर्तीकृतः । कर्म-ज्ञानयोर्भाक्तराहित्येन वैयर्थ्यात्ते द्वे
भक्तिमिश्रे एव सम्मताकृते । भक्तिस्तु द्विविधा—केवला, प्रधा-
नीभूता च । तत्राद्या स्वत एव परमप्रवला, ते द्वे (कर्म-
ज्ञाने) विनैव विशुद्ध-प्रभावती, अकिञ्चना, अनन्यादि-शब्द-
वाच्या ; द्वितीया तु कर्म-ज्ञानमिश्रेत्यखिलमग्रे विवृतीभ-
विष्यति ।

अथाङ्गुनस्य शोकमोहौ कथम्भूतावित्यपेक्षायां महाभार-
तवक्ता श्रीवैशम्पायनो जनमेजयं प्राति तत्र भीष्मपर्वणि कथा-
मवतारयति,—‘धृतराष्ट्र उवाच’ इति । कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो युद्धार्थं
सङ्गता मामका दुर्योधनाद्याः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किं
कृतवन्तस्तद्ब्रूहि । ननु युयुत्सव इति त्वं ब्रवीष्येवातो युद्धमेव
कर्तुमुद्यतास्ते तदपि किमकुर्वतेति केनाभिप्रायेण पृच्छसीत्यत
आह,—‘धर्मक्षेत्रे इति । “कुरुक्षेत्रं देवयजनम्” इति श्रुतेस्तत्-
क्षेत्रस्य धर्मप्रवर्तकत्वं प्रसिद्धम् । अतस्तत्संसर्गमहिम्ना यद्य-
धार्मिकाणामपि दुर्योधनादीनां क्रोधनिवृत्त्या धर्मे मतिः
स्यात् ; पाण्डवास्तु स्वभावत एव धार्मिकास्ततो बन्धूहिंसन-
मनुचितमित्युभयेषामपि विवेके उद्भूते सन्धिरपि संभाव्यते ;
ततश्च ममानन्द एवेति सञ्जयं प्राति ज्ञापयितुमिष्टो भावो वाह्यः ।
आभ्यन्तरस्तु सन्धौ सति पूर्ववत् सकण्टकमेव राज्यं मदा-
त्मजानामिति मे दुर्वार एव विषादः । तस्मादस्माकीनो भीष्म-

स्वर्जुनेन दुर्जय एवेत्यतो युद्धमेव श्रेयस्तदेव भूयादिति तु
तन्मनोरथोपयोगी दुर्लभः । अत्र धर्मक्षेत्रे इति क्षेत्रपदेन-धर्मस्य
धर्मावतारस्य सपरिकरयुधिष्ठिरस्य धान्यस्थानीयत्वम्, तत्पाल-
कस्य श्रीकृष्णस्य कृषिबलस्थानीयत्वम्, कृष्णकृतनानाविधसा-
हाय्यस्य जलसेचनसेतुबन्धनादिस्थानीयत्वम्, श्रीकृष्णसंहार्य-
दुर्योधनादेर्धान्यद्वेषिधान्याकारतृणविशेषस्थानीत्वं च बोधितं
सरस्वत्या ॥१॥

श्रीमद्-वलदेवविद्याभूषणकृतं

‘गीताभूषण’भाष्यम्

ॐ नमः श्रीगोविन्दाय

सत्यानन्ताचिन्त्यशक्त्येकपदे सर्वाध्यक्षे भक्तरक्षातिदक्षे ।
श्रीगोविन्दे विश्वसर्गादिकन्दे पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥१॥

अज्ञान-नीरधिरूपैति यया विशोषं

भक्तिः परापि भजते परिपोषमुच्चैः ।

तत्त्वं परं स्फुरति दुर्गममप्यजस्रं

साद्गुण्यभृत् स्वरचितां प्रणमामि गीताम् ॥२॥

अथ सुखचिद्घनः स्वयं भगवानचिन्त्यशक्तिः पुरुषोत्तमः
स्वसङ्कल्पायत्ताविचित्रः—जगदुदयादिविरिञ्चयादिसंचिन्त्यचरणः
स्वजन्मादिलीलया स्वतुल्यान् सहाबिभूतान् पार्षदान् प्रहर्ष-
यंस्तथैव जीवान् बहून्विद्याशाहूलीवदनाद्विमोच्य स्वान्तर्द्धा-
नोत्तरभाविनोऽन्यानुद्धिधीर्पुंराहबभूविद्धन् स्वात्मभूतमप्यङ्गुनम-
वितर्क्यस्वशक्त्या समोहमिव कुर्वन् तन्मोहविगार्जनापदेशेन
सपरिकरस्वात्मयाथात्म्यैकनिरूपिकां स्वगीतोपनिषदमुपादिशत् ।
तस्यां खल्वीश्वर-जीव-प्रकृति-काल-कर्माणि पञ्चार्था बर्ण्यन्ते ;—

तेषु विभुसंबिदीश्वरः, अणुसम्बिजीवः, सत्त्वादिगुणत्रयाश्रयो
द्रव्यं प्रकृतिः, त्रैगुण्यशून्यं जडद्रव्यं कालः, पुं प्रयत्ननिष्पाद्यम-
दृष्टादिशब्दवाच्यं कर्मेति । तेषां लक्षणानि ;—एष्वीश्वरादीनि
चत्वारि नित्यानि ; जीवादीनि त्वीशवश्यानि, कर्म तु प्राग-
भाववदनादि बिनाशि च ; तत्र सम्बित्स्वरूपोऽपीश्वरो जीवश्च
सम्बेत्तास्मदर्थश्च,—“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म”, “यः सर्वज्ञः सर्व-
वित्”, “मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः” इत्यादि-श्रुतेः ;
“सोऽकामयत बहु स्याम्”, “सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवे-
दिषम्” इत्यादि श्रुतेश्च । न चोभयत्र महत्तात्त्वजातोऽयमहङ्कारः
तदा तन्यानुत्पत्तोर्विलीनत्वाच्च । स च स च कर्ता भोक्ता
सिद्धः—“सर्वज्ञः सर्वविन कर्ता वोद्धा” इति पदेभ्यः ; अनु-
भवितृत्वं खलु भोक्तृत्वं सर्वाभ्युपगतं ; “सोऽश्नुते सर्वान्
कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इति श्रुतेस्तूभयोस्तत् प्रव्यक्तम् ।
यद्यपि सम्बित्स्वरूपात् सम्बेत्तात्त्वादि नान्यत् प्रकाशस्वरूपाद्-
रवेरिव प्रकाशकत्वादि, तथापि विशेषसामर्थ्यात्तदन्यत्वव्यवहारः ।
विशेषश्च भेदप्रतिनिधिर्न भेदः ; स च भेदाभावेऽपि भेदकार्य-
स्य धर्मधर्मिभावादिब्यवहारस्य हेतुः,—सत्ता सती भेदो भिन्नः
कालः सर्वदास्तीत्यादिषु बिद्वद्भिः प्रतीतः । तत्प्रतीत्यन्यथानुप-
पत्त्या “एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति” इति श्रुत्या
च सिद्धः । इह हि ब्रह्मधर्मानभिधाय तद्भेदः प्रतिपिध्यते । न
खलु भेदप्रतिनिधेस्तस्याप्यभावे धर्मधर्मिभावधर्मबहुत्वे शक्ये
वक्तुमित्यनिच्छुभिरपि स्वीकार्याः स्युः त इमेऽर्थाः शास्त्रेऽस्मिन्
यथास्थानमनुसन्धेयाः । इह हि जीवात्म-परमात्म-तद्धाम तत्-
प्राप्त्युपायानां स्वरूपाणि यथावन्निरूप्यन्ते । तत्र जीवात्म-
याथात्म्य-परमात्मयाथात्म्योपयोगितया परमात्मयाथात्म्यन्तु तदु-
पासनोपयोगितया प्रकृत्यादिकं तु परमात्मनः स्वरूपकरणतयो-

पदिश्यते । तदुपायाश्च कर्मज्ञानभक्तिभेदात् त्रेधा । तत्र श्रुत-
तत्फलनैरपेक्षेण कर्तृत्वाभिनिवेशपरित्यागेन चानुष्ठितस्य स्व-
बिहितस्य कर्मणः हृद्विशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्त्योरुपकारित्वात्
परम्परया तत्प्राप्तावुपायत्वम् । तच्च श्रुतिविहितकर्म हिंसा-
शून्यमत्र मुख्यम् । मोक्षधर्मे पितापुत्रादिसंबादात् हिंसावत्ता-
गौणं विप्रकृष्टत्वात् तयोस्तु साक्षादेव तथात्वम् । ननु तथानुष्ठी-
तेन कर्मणा हृद्विशुद्ध्या ज्ञानोदयेन मुक्तौ सत्यां भक्त्या को
विशेषः ? उच्यते, ज्ञानमेव किञ्चिद्विशेषाद्भक्तिरिति ; निर्णिमेषवी-
क्षणकटाक्षवीक्षणवदनयोरन्तरं चिद्विग्रहतयानुसन्धिज्ञानं तेन
तत्सालोक्यादिः । विचित्रलीलारसाश्रयतयानुसन्धिस्तु भक्ति-
स्तया क्रोडीकृतसालोक्यादितद्वारिवस्यानन्दलाभः पुमर्थः । भक्ते-
ज्ञानत्वं तु “सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति” इति श्रुतेः
सिद्धम् । तदिदं श्रवणादिभावादिशब्दव्यपदिष्टं दृष्टम् । ज्ञानस्य
श्रवणाद्याकारत्वं चित्सुखस्य विष्णोः कुन्तलादिप्रतीकत्ववत्
प्रत्येतव्यमिति वक्ष्यामः । षट्त्रिकेऽस्मिन्शास्त्रे—प्रथमेन षट्केने-
श्वरांशस्य जीवस्यांशीश्वरभक्त्युपयोगिस्वरूपदर्शनम् ; तच्चान्त-
र्गतज्ञाननिष्कामकर्मसाध्यं निरूप्यते । मध्येन परम-प्राप्यस्यां-
शीश्वरस्य प्रापणी भक्तिस्तन्महिमवीपूर्विकाभिधीयते । अन्त्येन
तु पूर्वोदितानामेवेश्वरादीनां स्वरूपाणि परिशोध्यन्ते ।
त्रयाणां षट्कानां कर्मभक्तिज्ञानपूर्वता-व्यपदेशस्तु तत्तत्प्राधा-
न्येनैव ; चरमे भक्तेः प्रतिपत्तेश्चोक्तिस्तु रत्नसम्पुटोद्ध्व-
लिखित-तत्सुचकलिपिन्यायेन । अस्य शास्त्रस्य श्रद्धालुः सद्धर्म-
निष्ठो विजितेन्द्रियोऽधिकारी । स च सनिष्ठ-परिनिष्ठित-निरपेक्ष-
भेदात्त्रिविधः—तेषु स्वर्गादिलोकानपि दिदृक्षुर्निष्ठया स्वधर्मान्
हर्यर्चनरूपानाचरन् प्रथमः ; लोकसंजिघृक्षया तानाचरन् हरि-
भक्तिनिरतो द्वितीयः ; स च स च साश्रमः ; सत्य-तपो-जपादिभि-

विशुद्धचित्तो ह्यर्थेकनिरतः तृतीयो निराश्रमः । बाच्यबाचकभावः
सम्बन्धः, — बाच्य उक्तलक्षणः श्रीकृष्णः, बाचकस्तद्गीताशास्त्रं
तादृशः सोऽत्र विषयः । अशेष-क्लेश-निवृत्तिपूर्वकस्तत्साक्षात्-
कारस्तु प्रयोजनमित्यनुबन्धचतुष्टयम् । अत्रेश्वरादिषु त्रिषु ब्रह्म-
शब्दोऽक्षरशब्दश्च, बद्धजीवेषु तद्देहेषु च क्षरशब्दः, ईश्वरजीवदेहे
मनसि बुद्धौ धृतौ यत्ने चात्मशब्दः, त्रिगुणायां बासनायां शीले
स्वरूपे च प्रकृतिशब्दः, सत्ताभिप्रायस्वभावपदार्थजन्मसु क्रिया-
स्वात्मसु च भावशब्दः, कर्मादिषु त्रिषु चित्तवृत्तिनिरोधे च
योगशब्दः पठ्यते । एतच्छास्त्रं खलु स्वयं भगवतः साक्षाद्वचनं
सर्वतः श्रेष्ठं — “गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गता” इति पाद्मात् । धृतराष्ट्रा-
दिबाक्यन्तु तत्सङ्गतिलाभाय द्वैपायनेन विरचितम् । तच्च लव-
णाकरनिपात-न्यायेन तन्मयमित्युपोद्घातः । “संप्राममूर्द्धिन्
संवादो योऽभुद्गोविन्दपार्थयोः । तत्सङ्गत्यै कथां प्राख्याद्गी-
तासु प्रथमे मुनिः ॥” इह तावद्भगवदङ्गुनसंवादं प्रस्तोतुं कथा
निरूप्यते, — धर्मक्षेत्र इत्यादिभिः सप्तविंशत्या । तद्भगवतः पार्थ-
सारथ्यं विद्वान् धृतराष्ट्रः स्वपुत्रविजये सन्दिहानः सञ्जयं पृच्छ-
तीत्याह, — जन्मेजयं प्रति वैशम्पायनः, — धृतराष्ट्र उवाचेति । युयुत्सवो
योद्धुमिच्छन् मामका मत्पुत्राः पाण्डवाश्च कुरुक्षेत्रे समवेताः
किमकुर्वतेति । ननु युयुत्सवः समवेता इति त्वमेवात्थ ततो
युद्धे रन्नेव, पुनः किमकुर्वतेति कस्ते भाव इति चेत्, तत्राह, —
धर्मक्षेत्र इति । “यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां
भूतानां ब्रह्मसदनम्” इत्यादि-श्रवणाद्धर्मप्ररोहभूमिभूतं कुरुक्षेत्रं
प्रसिद्धम् । तत्प्रभानाद्विनष्टविद्वेषा मत्पुत्राः किं पाण्डवेभ्यस्तद्वाज्यं
दातुं निश्चिक्वुः ? किम्वा, पाण्डवाः सदैव धर्मशीला धर्मक्षेत्रे
तस्मिन् कुलक्षयहेतुकाद्धर्माङ्गीता वनप्रवेशमेव श्रेयो विममृशु-

रिति ? हे सञ्जयेति व्यासप्रसादाद्विनष्टरागद्वेषस्त्वं तथ्यं बदे-
त्यर्थः । पाण्डवानां मामकत्वानुक्तिर्धृतराष्ट्रस्य तेषु द्रोहमभि-
व्यनक्ति । धान्यक्षेत्रात्तद्विरोधिनां धान्याभासानामिव धर्मक्षेत्रा-
त्तद्विरोधिनां धर्माभासानां त्वत्पुत्राणामपगमो भावीति धर्म-
क्षेत्रशब्देन गीर्देव्या व्यज्यते ॥१॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

सा० व०—

विदिततदभिप्रायस्वदाशंसितं युद्धमेव भवेत् ; किन्तु तन्म-
नोरथप्रतिकूलामिति मनसि कृत्वोवाच-दृष्ट्वेति, व्यूढं व्यूहरचन-
यावस्थितम् । राजा दुर्योधनः सान्तर्भयमुवाच, — पश्यैतामिति
नवभिः श्लोकैः ॥२॥

द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन तव शिष्येणेति स्वबधार्थमुत्पन्न इति
जानतापि त्वयाऽयमध्यापित इति तव मन्दबुद्धित्वम् । धीमतेति
शत्रोरपि त्वत्तः सकाशात् त्वद्बोधोपायविद्या गृहीतेत्यस्य महा-
बुद्धित्वं फलकालेऽपि पश्येति भावः ॥३॥

गी० भू०—

एवं जन्मान्धस्य प्रज्ञाचक्षुषो धृतराष्ट्रस्य धर्मप्रज्ञाबिलोपान्मोहा-
न्धस्य मत्पुत्रः कदाचित् पाण्डवेभ्यस्तद्वाज्यं दद्यादिति बिम्बान-
चित्तास्य भावं विज्ञाय धर्मिष्ठः सञ्जयस्त्वत्पुत्रः कदाचिदपि तेभ्यो
राज्यं नार्पयिष्यतीति तत्सन्तोषमुत्पादयन्नाह, — दृष्ट्वेति । पाण्ड-

वानामनीकं सैन्यं, व्यूढं व्यूहरचनयावस्थितम्, आचार्यं धनु-
र्विद्याप्रदं द्रोणम् उपसङ्गम्य स्वयमेव तदन्तिकं गत्वा राजा राज-
नीतिनिपुणः बचनमल्पाक्षरत्वं गम्भीरार्थत्वं संक्रान्तबचनविशे-
षम् । अत्र स्वयमाचार्यसन्निधिगमनेन पाण्डवसैन्यप्रभावदर्शन-
हेतुकं तस्यान्तर्भयं गुरुगौरवेण तदन्तिकं स्वयमागतवानस्मीति
भयसङ्गोपनञ्च व्यज्यते । तदिदं राजनीतिनैपुण्यादिति च
राजपदेन ॥२॥

तत्तादृशं बचनमाह,—पश्यैतामित्यादिना । प्रियशिष्येषु युधि-
ष्ठिरादिषु स्नेहातिशयादाचार्यो न युध्येदिति विभाव्य तत्को-
पोत्पादनाय तस्मिन्तदब्रूवां व्यञ्जयन्नाह,—एतामिति । एतामति-
सन्निहितां प्रागल्भ्येनाचार्यमतिशूरञ्च त्वामविगणय्य स्थितां
दृष्ट्वा तदब्रूवां प्रतीहीति, व्यूढां व्यूहरचनया स्थापिताम् द्रुपद-
पुत्रेणेति त्वद्वैरिणा द्रुपदेन त्वद्वधाय धृष्टद्युम्नः पुत्रो यज्ञाग्नि-
कुण्डादुत्पादितोऽस्तीति, तव शिष्येणेति त्वं स्वशत्रुं जानन्नपि
धनुर्विद्यामध्यापितवानसीति तव मन्दधीत्वम्, धीमतेति शत्रो-
स्त्वत्तास्त्वद्वधोपायो गृहीत इति तस्य सुधीत्वम् । त्वदपेक्ष्यका-
रितैवास्माकमनर्थहेतुरिति ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

सारा० व०—

अत्र चम्बाम्, महान्तः शत्रुभिश्छेत्तुमशक्या इष्वासा
धनूंषि येषां ते; युयुधानः सात्यकिः, सौभद्रोऽभिमन्युः, द्रौप-
देया युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यो जाताः प्रतिबिन्ध्यादयः । महा-
रथादीनां लक्षणम्—“एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्वि-
नाम् । शस्त्रशास्त्र-प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्
योधयेद् यस्तु स एवातिरथः स्मृतः । रथी चैकेन यो योद्धा
तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥” इति ॥४-६॥

गी०भू०—

नन्वेकेन धृष्टद्युम्नेनाधिष्ठितालिपका सेनास्मदीयेनैकेनैव
सुजेया स्यादतस्त्वं मा त्रासीरिति चेत् तत्राह,—अत्रेति । अत्र
चम्बां महान्तः शत्रुभिश्छेत्तुमशक्या इष्वासाश्चापा येषां ते ।
युद्धकौशलमाशङ्क्याह,— भीमेति । युयुधानः सात्यकिः महा-
रथ इति युयुधानादीनां त्रयाणां विशेषणम् । धृष्टेति—वीर्य-
वानिति धृष्टकेत्वादीनां त्रयाणाम्, नरपुङ्गव इति पुरुजिदादीनां
त्रयाणाम् । युध्येति विक्रान्त इति युधामन्योः, वीर्यवानि-
त्युत्तमौजसश्चेति विशेषणम्, सौभद्रोऽभिमन्युः द्रौपदेया
युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यः क्रमात् द्रौपद्यां जाताः प्रतिबिन्धश्रुतसेन
श्रुतकीर्त्तिशतानीकश्रुतकर्माख्याः पञ्चपुत्राः, च-शब्दादन्ये च
घटोत्कचादयः । पाण्डवास्त्वतिख्यातत्वात् न गणिताः । ये एते
सप्तदश गणिता, ये चान्ये तत्पक्षीयास्ते सर्वे महारथा एव ।
अतिरथस्याप्युपलक्षणमेतत्, तल्लक्षणोक्तम्,—एकादशसह-
स्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति
स्मृतः ॥ अमितान् योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथी
चैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥” इति ॥४-६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
 नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
 भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
 अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिरतथैव च ॥८॥
 अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
 नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

सारा० व० —

निबोध बुध्यस्व; संज्ञार्थं सम्यग् ज्ञानार्थम् ॥७॥
 सोमदत्तिभूरिश्रवाः । त्यक्तजीविता इति जीवितत्यागेनापि
 यदि मदुपकारः स्यात्तादा तमपि कर्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः । बस्तुतस्तु
 “मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तामात्रं भव सव्यसाचिन्” इति
 भगवदुक्तेर्दुर्योधनसरस्वती सत्यमेवाह स्म ॥८-९॥

गी० भू० —

तर्हि किं पाण्डवसैन्याद्गीतोऽसीत्याचार्य्यभावं सम्भाव्या-
 न्तर्जातामपि भीतिमाच्छादयन् धाष्टर्येनाह,—अस्माकमिति—
 अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः परमोत्कृष्टा बुद्ध्यादिबल-
 शालिनो नायका नेतारः, तान् संज्ञार्थं सम्यक् ज्ञानार्थं ब्रवी-
 मीति । पाण्डवप्रेम्णा त्वं चेन्नो योत्स्यसे, तदापि भीष्मादि-
 भिर्मद्विजयः सेत्स्यत्येवेति तत्कोपोत्पादनं द्योत्यम् ॥७॥

तानाह,—भवानिति । भवान् द्रोणः, विकर्णो मदभ्राता
 कनिष्ठः, सोमदत्तिभूरिश्रवाः, समितिञ्जयः संग्रामविजयीति
 द्रोणादीनां सप्तानां विशेषणम् । नन्वेतावन्त एव मत्सैन्ये
 विशिष्टाः, किन्त्वसंख्येयाः सन्तीत्याह,—अन्ये चेति । बहवो जय-
 द्रथ-कृतबर्म्म-शल्यप्रभृतयः । त्यक्तेत्यादि कर्मणि निष्ठा,—जीवि-

तानि त्यक्तुं कृतनिश्चया इत्यर्थः । इत्थञ्च तेषां सर्वेषां मयि
 स्नेहातिरेकात् शौर्यातिरेकाद्युद्धपाण्डित्याच्च मद्विजयः
 सिद्ध्यदेवेति द्योत्यते ॥८-९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
 पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥१०॥
 अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
 भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

सारा० व० —

अपर्याप्तमपरिपूर्णम्—पाण्डवैः सह योद्धुमक्षममित्यर्थः ;—
 भीष्मेणाति—सूक्ष्मबुद्धिना शस्त्रशास्त्रप्रवीणेनाभितो रक्षितमपि,
 भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात् । एतेषां पाण्डवानां तु भीमेन स्थूल-
 बुद्धिना शस्त्रशास्त्रानभिज्ञेनापि रक्षितं पर्याप्तं परिपूर्णम्—
 अस्माभिः सह युद्धे प्रवीणमित्यर्थः ॥ १० ॥

तस्माद् युष्माभिः सावधानैर्भक्षितव्यमित्याह,—अयनेषु
 व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्ताः स्वां स्वां रणभूमिमपरित्य-
 ज्यैवावस्थिता भवन्तो भीष्ममेवाभितस्तथा रक्षन्तु, यथाऽन्यै-
 र्युध्यमानोऽयं पृष्ठतः कैश्चिन्न हन्यते, भीष्मबलेनैवास्माकं
 जीवितमिति भावः ॥ ११ ॥

गी० भू० —

नन्वेवमुभयोः सैन्ययोस्तौल्यात् तवैव विजयः कथमित्या-
 शङ्क्य स्वसैन्यस्याधिक्यमाह,—अपर्याप्तमिति । अपर्याप्त-
 मपरिमितमस्माकं बलम्, तत्रापि भीष्मेण महाबुद्धिमतातिरथे-
 नाभिरक्षितम् । एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितम्,
 तत्रापि भीमेन तुच्छबुद्धिनार्द्धरथेनाभिरक्षितमतः सिद्धविजयो-
 ऽहम् ॥१०॥

अथैवं मदुक्तिभावं विज्ञायाचार्यश्चेदुदासीत तदा मत्कार्य-
क्षतिरिति विभाव्य तस्मिन् स्वकार्यभारमर्पयन्नाह,—अयने-
ष्विति । अयनेषु सैन्यप्रवेशवर्त्मसु यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां
युद्धभूमिमपरित्यज्यावस्थिता भवन्तो भवदादयो भीष्ममेवाभितो
रक्षन्तु युद्धाभिनिवेशात् पार्श्वतः पृष्ठतश्चापश्यन्तं तं यथान्यो
न बिहन्यात्तथा कुर्वन्वित्यर्थः । सेनापतौ भीष्मे निर्वर्धे मद-
विजयसिद्धिरिति भावः । अयमाशयः,—भीष्मोऽस्माकं पिता-
महः, भवांस्तु गुरुः, तौ युवामस्मदेकान्तहितैषिणौ विदितौ ।
यावत्क्षसदसि मदन्यायं विदन्तावपि द्रौपद्या न्यायं पृष्टौ नाबो-
चतां, मया तु पाण्डवेषु प्रतीतं स्नेहाभासं त्याजयितुं तथा
निवेदितमिति ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योचैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणावानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

सारा०व० —

ततश्च स्वसन्मानश्रवणजनितहर्षस्तस्य दुर्योधनस्य भय-
विध्वंसनेन हर्षं संजनयितुं कुरुवृद्धो भीष्मः, सिंहनादमिति
उपमाने कर्मणि चेति णमुल्—सिंह इव विनद्येत्यर्थः ॥१२॥

ततश्चाभयत्रैव युद्धोत्साहः प्रवृत्त इत्याह—तत इति । पणवा
मार्दलाः, आनकाः पटहाः, गोमुखा वाद्यविशेषाः ॥१३॥

गी०भू०—

एवं दुर्योधनकृतां स्वस्तुतिमवधार्य सहर्षो भीष्मस्तदन्तर्जातां
भीतिमुत्सादयितुं शङ्खं दध्मावित्याह,—तस्येति । सिंहनाद-

मित्युपमाने 'कर्मणि' च इति पाणिनिसूत्राणामुल्, चात् कर्त्ता-
य्युपमाने इत्यर्थः, सिंह इव विनद्येत्यर्थः । मुखतः किञ्चिद-
नुक्त्वा शङ्खनादमात्रकरणेन जयपराजयौ खल्वीश्वराधीनौ,
त्वदर्थे क्षत्रधर्मेण देहं त्यज्यामीति व्यज्यते ॥१२॥

तत इति — सेनापतौ भीष्मे प्रवृत्तो तत्सैन्ये सहसा तत्क्षण-
मेव शङ्खादयोऽभ्यहन्यन्त बादिताः—कर्मकर्त्तरि प्रयोगः ।
पणवादयस्त्रयो बादित्र-भेदाः । स शब्दस्तुमुल एकाकारतया
महानासीत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सान्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

सारा०व० —

पाञ्चजन्यादयः शङ्खादीनां नामानि । अपराजितः—केनापि
पराजेतुमशक्यत्वात्; अथवा चापेन धनुषा राजितः प्रदीप्तः ॥१५-१८॥
गी०भू०—

अथ पाण्डवसैन्ये प्रवृत्तां युद्धोत्सवमाह—तत इति । अन्येषा-

मपि रथस्थितत्वे सत्यपि कृष्णार्जुनयो रथस्थितत्वोक्तिस्तद्-
रथस्याग्निदत्तत्वं त्रैलोक्यविजेतृत्वं महाप्रभत्वञ्च व्यज्यते ॥१४॥

पाञ्चजन्यमित्यादि - पाञ्चजन्यादयः कृष्णादिशङ्खानामा-
ह्वयाः । अत्र 'हृषीकेश'शब्देन परमेश्वरसहायित्वम् । पाञ्चजन्या-
दिशब्दैः प्रसिद्धाह्वयानेकदिव्यशङ्खवत्त्वम् । राजा भीमकर्मा
धनञ्जय इत्येभिर्युधिष्ठिरादीनां राजसूययाजित्वहिडिम्बादिनि-
हन्तृत्वदिग्विजयाहतानन्तधनत्वानि च व्यज्य पाण्डवसेनासूत्कर्षः
सूच्यते । परसेनासु तदभावादपकर्षश्च । काश्य इति—काश्यः
काशिराजः ; परमेष्वासः महाधनुर्द्धरः, चापराजितो धनुषा
दीप्तः । द्रुपद इति—पृथिवीपते हे धृतराष्ट्रेति तव दुर्मन्त्रणो-
दयः कुलक्षयलक्षणोऽनर्थः समागत इति सूच्यते ॥१५-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नमश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१६॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्वुद्धेयुद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

गी०भू०—

स इति - पाण्डवैः कृतः शङ्खनादो धार्तराष्ट्राणां भीष्मा-

दीनां सर्व्वेषां हृदयानि व्यदारयत् तद्विदारणतुल्यां पीडाम-
जनयदित्यर्थः । तुमुलोऽतितीव्रः, अभ्यनुनादयन् प्रतिध्वनिभिः पूर-
यन्नित्यर्थः । धार्तराष्ट्रैः कृतस्तु शङ्खादिनादस्तुमुलोऽपि तेषां
किञ्चिदपि क्षोभं नाजनयत् तथानुक्तेरिति बोध्यम् ॥१६॥

एवं धार्तराष्ट्राणां युद्धे भीतिं प्रदर्शय पाण्डवानां तु तत्रो-
त्साहमाह—अथेति सार्द्धकेन । अथ रिपुशङ्खनादकृतोत्साह-
भङ्गानन्तरं व्यवस्थितान् तद्भङ्गविरोधियुयुत्सयावस्थितान् धार्त्ता-
राष्ट्रान् भीष्मादीन् कपिध्वजोऽर्जुनो येन श्रीदाशरथेरपि महान्ति
कार्य्यानि पुरा साधितानि तेन महावीरेण ध्वजमधिष्ठिता हनु-
मतानुगृहीतो भयगन्धशून्य इत्यर्थः । हे महीपते ! प्रवृत्ते प्रवर्त्त-
माने । हृषीकेशमिति—हृषीकेशं सर्व्वेन्द्रियप्रवर्त्तिकं कृष्णं तदिदं
वाक्यमुवाचेति । सर्व्वेश्वरो हरियेषां नियोज्यरतेषां तदेकान्त-
भक्तानां पाण्डवानां विजये सन्देहगन्धोऽपि नास्ति भावः ॥२०॥

अर्जुनवाक्यमाह—सेनयोरिति । हे अच्युतेति स्वभाव-
सिद्धाद्भक्तवात्सल्यात् पारमैश्वर्याच्च न च्यवसे स्मेति तेन तेन च
नियन्त्रितो भक्तस्य मे वाक्यात्तत्र रथं स्थितं कुरु निर्भय तत्र
रथस्थापने फलमाह—यावदिति । योद्धुकामाज्ञा तु सहास्माभिः
सन्धिं चिकीर्षन्, अवस्थितान् न तु भीत्या प्रचलितान् ।
ननु त्वं योद्धा, न तु युद्धप्रेक्षकस्ततस्तद्दर्शनेन किमिति चेत्तत्राह—
कैरिति । अस्मिन् बन्धूनामेव मिथो रणोद्योगे कैर्बन्धुभिः सह
मम युद्धं भावीत्येतज्ज्ञानायैव मध्ये रथस्थापनमिति । ननु
बन्धुत्वादेते सन्धिमेव विधास्यन्तीति चेत् तत्राह— योत्स्यमाना-
निति न तु सन्धिं विधास्यतः । अवेक्षे प्रत्येयि । दुर्वुद्धेः कुधियः
स्वजीवनोपायानभिज्ञस्य युद्धे, न तु दुर्वुद्धयपनयने । अतो
मद्वयुद्धप्रतियोगिनिरीक्षणं युक्तमिति ॥२१-२३॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
 सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
 उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥२५॥

सारा० व०—

हृषीकेशः सर्वेन्द्रिय-नियन्ताप्येवमुक्तोऽर्जुनेनादिष्टः अर्जुन-
 वागिन्द्रियमात्रेणापि नियम्योऽभूदित्यहो प्रेमवश्यत्वं भगवत
 इति भावः । गुडाकेशेन—गुडा यथा माधुर्यमात्रप्रकाशकास्तत्तथा
 स्वीयस्नेहरसास्वादप्रकाशका अकेशा विष्णुब्रह्माशिवा यस्य तेन-
 अकारो विष्णुः, को ब्रह्मा, ईशो महादेवः । यत्र सर्वावतारिचूडा-
 मणीन्द्रः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एव प्रेमाधीनः सन् आज्ञा-
 नुवर्ती बभूव तत्र गुणावतारत्वात्तदंशा विष्णुब्रह्मरुद्राः कथ-
 मैश्वर्यं प्रकाशयन्तु ? किन्तु स्वकर्तृकं स्नेहरसं प्रकाशयैव स्वं
 स्वं कृतार्थं मन्यन्त इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीभगवता परमव्योम-
 नाथेनापि,—“द्विजात्मजा मे युवयोदिदृजुणा” इति; यद्वा,
 गुडाका निद्रा, तस्या ईशेन जितानिद्रेणेत्यर्थः; अत्रापि व्या-
 ख्यायाम्—साक्षान्मायाया अपि नियन्ता यः श्रीकृष्णः, स चापि
 येन प्रेम्णा विजित्य वशीकृतस्तेनार्जुनेन मायावृत्ति—निद्रा
 वराकी जितेति किं चित्रमिति भावः । भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः
 प्रमुखे सम्मुखे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञां च । प्रमुखत इति—
 समासप्रविष्टेऽपि ‘प्रमुखतः’ शब्द आकृष्यते ॥ २४-२५ ॥

गी० भू०—

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जयः प्राह—एवमिति । गुडाका
 निद्रा तस्या ईशः स्वसखश्रीभगवद्गुणलावण्यस्मृतिनिवेशेन

विजितनिद्रस्तत्परमभक्तस्तेनार्जुनेनैवमुक्तः प्रवर्त्तितो हृषीकेशस्त-
 चित्तावृत्त्यभिज्ञो भगवान् सेनयार्मध्ये भीष्मद्रोणयोः सर्वेषाञ्च
 महीक्षितां भूभुजाञ्च प्रमुखतः सम्मुखे रथोत्तमं अग्निदत्तं रथं
 स्थापयित्वावाच—हे पार्थ ! समवेतानेतान् कुरुन् पश्येति । पार्थ-
 हृषीकेश-शब्दाभ्यामिदं सूच्यते—मत्पितृष्वसृपुत्रत्वात् त्वत्सा-
 रथ्यमहं करिष्याम्येव त्वं त्वधुनैव युयुत्सां त्यक्ष्यसीति किं शत्रु-
 सैन्यबीक्षणेनेति सोपहासो भावः ॥२४-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृन्थ पितामहान् ।
 आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान् सखींस्तथा
 श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥
 तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्वन्धूनवस्थितान् ।
 कृपया परयाविष्टो विषीदन्निद्रमब्रवीत् ॥२७॥

सारा० व०—दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौत्राश्च तान् ॥ २६ ॥

गी० भू०—एवं भगवतोक्तोऽर्जुनः परसेनामपश्यदित्याह-तत्रेति
 सार्द्धकेन । तत्र परसेनायां पितृन् पितृव्यान भूरिश्रवः प्रभृतीन्,
 पितामहान् भीष्मसोमदत्तादीन्, आचार्यान् द्रोण-कृपादीन्,
 मातुलान् शल्य-शकुन्यादीन्, भ्रातृन् दुर्योधनादीन्, पुत्रान्
 लक्ष्मणादीन्, पौत्रान् नप्तृन् लक्ष्मणादि-पुत्रान्, सखीन् बय-
 स्यान् द्रौणि-सैन्धवादीन्, सुहृदः कृतवर्म्म-भगदत्तादीन्, एवं
 स्वसैन्येऽप्युपलक्षणीयम् । उभयोरपि सेनयोरवस्थितान् तान्
 सर्वान् समीक्ष्येत्यन्वयात् ॥२६॥

अथ सर्वेश्वरो दयालुः कृष्णः सपरिकरात्मोपदेशेन विश्व-
 मुद्दिधीर्षुरर्जुनं शिष्यं कर्तुं तत्स्वधर्म्मोऽपि युद्धे “मा हिंस्यात्
 सर्वा भूतानि” इति श्रुत्यर्थाभासेनाधर्म्मतामाभास्य तं समोहं

कृतवानित्याह—तान् समीक्ष्येति कौन्तेय इति स्वीयपितृष्वसृपुत्र-
त्वोक्त्या तद्वस्मौ मोहशोकौ तदा तस्य व्यज्येते । कृपया कर्त्र्या
इत्युक्तेः, स्वभावसिद्धस्य कृपेति द्योत्यते । अतः परयेति तद्विशे-
षणम्, अपरयेति वा च्छेदः—स्वसैन्ये पूर्वमापि कृपास्ति, पर-
सैन्ये त्वपरापि साभूदित्यर्थः । विषीदन्ननुतापः विन्दन् । अत्रो-
क्तिविषादयोरैककाल्याद्युक्तिकाले विषादकार्यार्थश्रुक्कम्पसन्न-
कण्ठतादीनि व्यज्यन्ते ॥२७॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सून् समुपस्थितान् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥२९॥
न च शक्रोऽम्यवस्थातुं भ्रमतीव न मे मनः ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

सारांशः—दृष्ट्वेत्यत्र स्थितरग्येत्यध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

विपरीतानि निमित्तानि, धर्तानि निमित्ताकोऽयमत्र मे वाम
इतिबन्निमित्तशब्दोऽयं प्रयोजनवाची । ततश्च युद्धे विजयिनो
मम राज्यलाभात् सुखं न भविष्यति, किन्तु तद्विपरीतमनु-
तापदुःखमेव भावीत्यर्थः ॥ ३० ॥

गी०भू०—कौन्तेयः शोकव्याकुलं यदाह तदनुवदति—दृष्ट्वेममिति ।
स्वजनं स्ववन्धुवर्गं जातावेकवचनं—“सगोत्रबान्धवज्जातिबन्धु-
स्व-स्वजनाः समाः” इत्यमरः । दृष्ट्वावस्थितस्य मम गात्राणि कर-
चरणादीनि सीदन्ति शीर्यन्ते, परिशुष्यतीति श्रमादिहेतुका-
च्छोषादतिशयित्वमस्य शोषस्य व्यज्यते ॥२८॥

वेपथुः कम्पः, रोमहर्षः पुलकः, गाण्डीवभ्रंशेनाघैर्य त्वग्दा-

हेन हृद्विदाहो दर्शितः ॥२९॥

न चेति—अवस्थातुं स्थिरो भवितुम् । मनो भ्रमतीव चेति
दौर्वर्त्यमूर्च्छयोरुदयः । निमित्तानि फलान्यत्र युद्धे विपरीतानि
पश्यामि । विजयिनो मे राज्यप्राप्तिरानन्दो न भविष्यति, किन्तु
तद्विपरीतोऽनुताप एव भावीति । निमित्ताशब्दः फलवाची, ‘कस्मै
निमित्तायात्र बससि’ इत्यादौ तथा प्रतीतेः ॥३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

सारांशः—श्रेयो न पश्यामीति—“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य-
मण्डलभेदिनौ । परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥”
इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविधानात्, हन्तुस्तु न किमपि सुकृतम् ।
ननु दृष्टं फलं यशोराज्यं वर्तते युद्धस्येत्यत आह,—न काङ्क्षे
इति ॥ ३१ ॥

गी०भू०—एवं तत्त्वज्ञानप्रतिकूलं शोकमुक्त्वा तत्प्रतिकूलां वि-
परीतबुद्धिमाह—न चेति । आहवे स्वजनं हत्वा श्रेयो नैव पश्यामीति,—
“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड्योगयुक्तश्च
रणे चाभिमुखो हतः” इत्यादिना हतस्य श्रेयःस्मरणात् हन्तुर्मे न
किञ्चिच्छ्रेयः, अस्वजनमिति वा च्छेदः—अस्वजनबधेऽपि श्रेय-
सोऽभावात् स्वजनबधे पुनः कुतस्तरां तदित्यर्थः । ननु यशोराज्य-
लाभो दृष्टं फलमस्तीति चेत्तत्राह—न काङ्क्षे इति । राज्यादि-
स्पृहाविरहादुपाये विजये मम प्रवृत्तिर्न युक्ता, रन्धने यथा भोज-
नेच्छाविरहिणः, तस्मादरण्यनिबसनमेवास्माकं श्लाघ्यजीव-
नत्वं भावीति ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।
 एतान्न हन्तुमिच्छामि धनतोऽपि मधुसूदन ॥३४॥
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
 निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥३५॥

गी०भू०—गोविन्देति । गाः सर्वेन्द्रियवृत्तीः बिन्दसीति त्वमे-
 व मे मनोगतं प्रतीहीत्यर्थः । राज्याद्यनाकाङ्क्षायां हेतुमाह—येषा-
 मिति । प्राणान् प्राणाणां धनानि धनाशामिति लक्षणया बोध्यम्,—
 स्वप्राणव्ययेऽपि स्वबन्धुसुखार्थां राज्यस्पृहा स्यात्तोषामप्यत्र
 नाशप्राप्तेरपार्थैव युद्धे प्रवृत्तिरिति भावः । ननु त्वं चेत् कारु-
 णिकस्तान्न हन्यास्तर्हि ते स्वराज्यं निष्कण्टकं कर्तुं त्वामेव हन्यु-
 रिति चेत्तत्राह—एतानिति । मां धनतोऽपि हिंसतोऽप्येतान् हन्तुमहं
 नेच्छामि । त्रैलोक्यराज्यस्य प्राप्तयेऽपि किं पुनर्भूमात्रस्य । नन्व-
 न्यान् हित्वा धृतराष्ट्रपुत्रा एव हन्तव्याः, बहुदुःखदातृणां तेषां घाते
 सुखसम्भवादिति चेत्तत्राह—निहत्येति । धार्तराष्ट्रान् दुष्योधना-
 दीन्निहत्य स्थितानां नः पाण्डवानां का प्रीतिः प्रसन्नता स्यान्न
 कापीति—अचिरसुखाभासस्पृहया चिरतरनरकहेतुभ्रातृबन्धो न
 योग्य इति भावः । हे जनार्दन—यद्येते हन्तव्यास्तर्हि भूमा-
 रापहारी त्वमेव तान् जहि परेशस्य ते पापगन्धसम्बन्धो न भवे-
 दिति व्यज्यते ॥३२-३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वेतानाततायिनः ।
 तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

सारा०व०—ननु “अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्र-
 दारापहारी च षडेते आततायिनः ॥” इति, “आततायिनमायान्तं
 हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति भारत ॥”
 इत्यादि वचनादेषां बध उचित एवेति ? तत्राह,—पापमिति ।
 एतान् हत्वा स्थितानस्मान् । ‘आततायिनमायान्तम्’ इत्यादिक-
 मर्थशास्त्रं धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्; यदुक्तं याज्ञवल्क्येन,—“अर्थ-
 शास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्” इति तस्मादाचार्यादीनां
 बधे पापं स्यादेव । न चैहिकं सुखमपि स्यादित्याह,—स्वजन-
 मिति ॥ ३६ ॥

गी०भू०—ननु “अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनोपहः । क्षेत्र-
 दारापहारी च षडेते आततायिनः ॥ आततायिनमायान्तं हन्या-
 देवाविचारयन् । नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति भारत ॥”—
 इत्युक्तेरेषां षाड्विध्येनाततायिनां युक्तो बध इति चेत्तत्राह—
 पापमिति । एतान् हत्वा स्थितानस्मान् पापमेव बन्धुक्षयहेतुक-
 माश्रयेत् । अयं भावः—आततायिनमायान्तमित्यादिकमर्थशास्त्रं
 “मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इति धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्—
 “अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः” इति स्मृतेः, तस्मा-
 द्दुर्बलार्थशास्त्रबलेन पूज्यानां द्रोणभीष्मादीनां वधः पापहेतु-
 रेवेति । न च श्रेयोऽनुपश्यामीत्यारभ्योक्तमुपसंहरति—तस्मा-
 दिति । पापसम्भवात् । दैहिकसुखस्याप्यभावाच्चेत्यर्थः । न
 हि गुरुभिर्बन्धुजनैश्च बिनास्माकं राज्यभोगः सुखायापि तु
 अनुतापायैव सम्पत्स्यते । हे माधवेति—श्रीपतिस्त्वमश्रीके युद्धे
 कथं प्रवर्त्तयसीति भावः ॥३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
 कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापांदस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

सारा०व०—नन्वेते तर्हि कथं युद्धे वर्तन्ते? तत्राह,—
यद्यपीति ॥३७-३८॥

गी०भू०—ननु “आहूतो न निवर्त्तेत यन्नादपि रणादपि विदितं
क्षत्रियस्य” इति क्षत्रधर्मस्मरणात् तैराहूतानां भवतां युद्धे प्रवृत्ति-
र्युक्तेति चेत्तत्राह—यद्यपीहि द्वाभ्याम् । पापे प्रवृत्तौ लोभस्तेषां
हेतुरस्माकं तु लोभाविरहान्न तत्र प्रवृत्तिरिति । इष्टसाधनता-ज्ञानं
खलु प्रवर्त्तिकम्, इष्टञ्चानिष्टाननुबन्धिवाच्यम्, यदुक्तं—“फल-
तोऽपि च यत् कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म-
इति कथ्यते ॥” इति । तथा च “श्येनेनाभिचरन् यजेत”
इत्यादि शास्त्रोक्तेऽपि श्येनादाविबानिष्टानुबन्धित्वादयुद्धे—
ऽस्मिन्नः प्रवृत्तिर्न युक्तेति । “आहूतः” इत्यादि शास्त्रं तु कुल-
क्षयदोषविना भूतविषयं भावि । हे जनार्दनोति प्राग्बत ॥३७-६८॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

सारा०व०—कुलक्षय इति, सनातनाः कुलपरम्पराप्राप्तत्वेन
बहुकालतः प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

गी०भू०—दोषमेव प्रपश्यति—कुलक्षये इति । कुलधर्मा
कुलोचिता अग्निहोत्रादयो धर्माः सनातनाः कुलपरम्पराप्राप्ताः
प्रणश्यन्ति कर्त्तुं विनाशात् । उतत्यप्यर्थं कृत्स्नमित्यनेन सम्बध्यते,
धर्मे नष्टे सत्यवशिष्टं बालादिकृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति
प्रसतीत्यर्थः ॥३९॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥

सारा०व०—प्रदुष्यन्तीति, अधर्म एव ता व्यभिचारे प्रवर्तय-
तीति भावः ॥ ४० ॥

गी०भू०—ततश्चाधर्माभिभवादिति । अस्मद्धर्त्ताभिर्धर्म-
मुल्लङ्घ्य यथा कुलक्षयलक्षणे पापे वर्त्तितं, तथास्माभिः पाति-
त्रत्यमवज्ञाय दुराचारे वर्त्तितव्यमिति दुर्वुद्धिहताः कुलस्त्रियः
प्रदुष्येयुरित्यर्थः ॥४०॥

संकरो नरकायैव कुलघनानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥

दोषैरेतैः कुलघनानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४२ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

सारा०व०—दोषैरिति, उत्साद्यन्ते लुप्यन्ते ॥ ४२ ॥

गी०भू०—कुलस्य सङ्करः कुलघनानां नरकायैवेति योजना ।
न केवलं कुलघना एव नरके पतन्ति, किन्तु तत्पितरोऽपीत्याह,—
पतन्तीति हिर्हेतौ । पिण्डादि दातृणां पुत्रादीनामभावाद्विलुप्त-
पिण्डादि-क्रियाः सन्तस्ते नरकायैव पतन्ति ॥४१॥

गी०भू०—उत्तदोषमुपसंहरति,—दोषैरिति द्वाभ्याम् ।
उत्साद्यन्ते विलुप्यन्ते जातिधर्माः क्षत्रियत्वादनिर्वन्धनाः, कुल-
धर्मास्त्वसाधारणाः, च-शब्दादाश्रमधर्मो ग्राह्याः ॥४२॥

गी०भू०—उत्सन्नोति । जातिधर्मादीनां उपलक्षणमेतत् ।
अनुशुश्रुम श्रुतवन्तो वयं गुरुमुखात् । “प्रायश्चित्तमकुर्वीणाः
पापेषु निरता नराः । अपश्चात्तापिनः कष्टान्निरयान् यान्ति
दारुणान्” इत्यादि वाक्यैः ॥४३॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
 यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥
 यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
 धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥
 एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
 विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्रमानसः ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
 पर्वणि श्रीश्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सैन्यदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।
 सारा०व०—संख्ये संग्रामे; रथोपस्थे रथोपरि ॥ ४६ ॥
 इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
 गीतासु प्रथमोऽध्यायः संगतः संगतः सताम् ॥ ३ ॥
 गी०भू०—बन्धुबन्धव्यवसायेनापि पापं सम्भाव्यानुतपन्नाह—
 अहो इति । वर्तेति सन्देहे ॥४४॥

गी०भू०—ननु त्वयि बन्धुवधाद्विनिवृत्तेऽपि भीष्मादिभि-
 र्युद्धोत्सुकैस्त्वद्वधः स्यादेव ततः किम्विधेयमिति चेत्तत्राह—यदि
 मामिति । अप्रतीकारमकृतमद्वधाध्यवसायपापप्रायश्चित्ताम् । क्षेम-
 तरमतिहितं—प्राणान्प्रायश्चित्तेनैवैतत् पापावमार्जनम्, भीष्मा-
 द्यस्तु न तत्पापफलं प्राप्स्यन्त्येवेति भावः ॥४५॥

गी०भू०—ततः किमभूदित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमु-
 क्त्वेति । संख्ये युद्धे रथोपस्थे रथोपरि उपाविशत् उपविवेश ।
 पूर्व युद्धाय प्रतियोद्धुं विलोकनाय चोत्थितः सन् ॥४६॥

अहिंसस्यात्मजिज्ञासा दयार्द्रस्योपजायते ।

तद्विरुद्धस्य नैवेति प्रथमादुपधारितम् ॥

इति श्रीभगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः



संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
 विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
 अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

सारा०व०—आत्मानात्म-विवेकेन शोकमोहतमो नुदन् ।
 द्वितीये कृष्णचन्द्रोऽत्र प्रोचे मुक्तस्य लक्षणम् ॥ १ ॥
 कश्मलं मोहः, विषमेऽत्र संग्रामसंकटे; कुतो हेतोः, उपस्थितं
 त्वां प्राप्तमभूत्? अनार्यजुष्टम्—सुप्रतिष्ठितलोकैरसेवितम्,
 अस्वर्ग्यमकीर्तिकरमिति—पारत्रिकैहिकसुखप्रतिकूलमित्यर्थः ॥२॥

गी०भू०—द्वितीये जीवयाथात्म्यज्ञानं तत्साधनं हरिः ।
 निष्कामकर्म च प्रोचे स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ॥

गी०भू०—एवमर्जुनवैराग्यमुपश्रुत्य स्वपुत्रराज्याभ्रंशाशया
 हृष्यन्तं धृतराष्ट्रमालक्ष्य सञ्जय उवाच—तं तथेति । मधुसूदन
 इति तस्य शोकमपि मधुवन्निहनिष्यतीति भावः ॥१॥

गी०भू०—तद्वाक्यमनुवदति-श्रीभगवानिति । “ऐश्वर्यस्य समप्र-
 स्य वीर्यस्य यशस्यः श्रियाः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इती-
 ज्ञना ॥” इति पराशरोक्तं रैश्वर्यादिभिः षड्भिर्नित्यं विशिष्टः, समप्र-
 स्येत्येतत् षट्सु योज्यम् । हे अर्जुन, इदं स्वधर्मवैमुख्यं कश्मलं
 शिष्टनिन्दित्वान्मलिनं कुतो हेतोस्त्वां क्षत्रियचूडामणिं समुपस्थि-
 तमभूत्? विषमे युद्धसमये । न च मोक्षाय स्वर्गाय कीर्त्तये वैत-
 द्युद्धवैराग्यमित्याह—अनार्येति, आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टं

सेवितं--आर्याः खलु हृदिशुद्धये स्वधर्मानाचरन्ति । अस्वर्ग्यं स्वर्गोपलम्भकधर्मविरुद्धम्, अकीर्त्तिकरं कीर्त्तिविस्मावकम् ॥२॥

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

सारा०व०-क्लैव्यं क्लीवधर्मं कातर्यम्, हे पार्थेति त्वं पृथापुत्रः सन्नपि गच्छसि, तस्मान्मास्म गमः, मा प्राप्नुहि, अन्यस्मिन् क्षत्र-बन्धौ वरमिदमुपपद्यताम्, त्वयि मत्सखौ तु नोपयुज्यते । नन्विदं शौर्याभावलक्षणं क्लैव्यं मा शङ्किष्ठाः, किन्तु भीष्मदोणादि-गुरुषु धर्मदृष्ट्या विवेकोऽयं धार्तराष्ट्रेषु तु दुर्बलेषु मदस्त्रा-घातमासाद्य मर्तुमुद्यतेषु दयैवेयमिति तत्राह-क्षुद्रमिति । नैते तव विवेकदये, किन्तु शोकमोहावेव, तौ च मनसो दौर्बल्य-व्यञ्जकौ । तस्मात् हृदयदौर्बल्यमिदं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ हे परन्तप ? परान् शत्रून् तापयन् युध्यस्व ॥ ३ ॥

गी०भू०--ननु बन्धुक्षयाध्यवसायदोषात् प्रकम्पितेन मया किं भाव्यमिति चेत्तत्राह--क्लैव्यमिति । हे पार्थः ! देबराजप्रसा-दात् पृथायामुत्पन्न ! क्लैव्यं कातर्यं मास्म गमः प्राप्नुहि । त्वयि बिभ्रबिजेतरि मत्सखेऽङ्गुने क्षत्रबन्धाविवैतदीदृशं क्लैव्यं नोप-युज्यते । ननु न मे शौर्याभावरूपं क्लैव्यं किन्तु भीष्मादिषु पूज्येषु धर्मबुद्ध्या विवेकोऽयं दुर्योधनादिषु भ्रातृषु मच्छस्त्रप्रहा-रेण मरिष्यत्सु कृपेयमिति चेत्तत्राह-क्षुद्रमिति । नैते तव विवेक-कृपे, किन्तु क्षुद्रं लघिष्ठं हृदयदौर्बल्यमेव ; तस्मात्तत्त्यक्त्वा युद्धायोत्तिष्ठ सज्जीभव । हे परन्तप शत्रुतापनेति--शत्रुहास-पात्रतां मा गाः ॥३॥

अर्जुन उवाच--

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

सारा०व०--ननु "प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" इति धर्मशास्त्रम्, अतोऽहं युद्धान्निवर्त इत्याह,--कथमिति । प्रति-योत्स्यामि प्रतियोत्स्ये । नन्वेतौ युध्येते, तर्ह्यनयोः प्रतियोद्धा भवितुं त्वं किं न शक्नोषि ? सत्यं न शक्नोम्येवेत्याह--पूजार्हा-विति । अनयोश्चरणेषु भक्त्या कुसुमान्येव दातुमर्हामि न तु क्रोधेन तीक्ष्णशरानितिभावः । भो बयस्य कृष्ण ! त्वमपि शत्रून्नेव युद्धे हंसि, न तु सान्दीपनिं स्वगुरुम्, नापि बन्धून् यदूनित्याह,--हे मधुसूदनेति । ननु मधवो यदव एव ! तत्राह,--हे अरिसूदन ? मधुर्नाम दैत्यो यस्तवारिरिति ब्रवीमीति ॥४॥

गी०भू०--ननु भीष्मादिषु प्रतियोद्धृषु सत्सु त्वया कथं न योद्धव्यम्,--"आहूतो न निवर्त्तेत" इति युद्धविधानाच्च क्षत्रिय-स्येति चेत्तत्राह,--कथमिति । भीष्मं पितामहं, द्रोणञ्च विद्या-गुरुं, इषुभिः कथं योत्स्ये ? यदिमौ पूजार्हौ पुष्पादिभिरभ्यर्च्यौ, परिहासवाग्भिरपि याभ्यां युद्धं न युक्तं, ताभ्यां सहेषुभिस्त-त्कथं युज्येत ?--"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" इति स्मृतेश्च । मधुसूदनारसिदनेति सम्बोधनपुनरुक्तिः--शोका-कुलस्य पूर्वोत्तरानुसन्धिविरहात् ; तद्भावश्च,--त्वमपि शत्रून्नेव युद्धे निहंसि न तूग्रसेनसान्दीपन्यादीन् पूज्यामिति ॥४॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

सारा०व०--नन्वेवं ते यदि स्वराज्येऽस्मिन् नास्ति जिघृक्षा, तर्हि कया वृत्त्या जीविष्यसीत्यत्राह,--गुरुन् अहत्वा गुरुवधमकृत्वा भैक्ष्यं क्षत्रियैर्विगीतमपि भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः,

ऐहिक-दुर्यशोलाभेऽपि पारत्रिकममङ्गलं तु नैव स्यादिति भावः । न चैते गुरवोऽबलिप्ताः कार्याकार्यमजानन्तश्चाधार्मिकदुर्योध-
नाद्यनुगतास्त्यज्या एव,—यदुक्तं “गुरोरप्यबलिप्तस्य कार्याकार्य-
मजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥” इति
वाच्यमित्याह,—महानुभावानिति । कालकामादयोऽपि यैर्वशी-
कृतास्तेषां भीष्मादीनां कुतस्तद्दोषसम्भव इति भावः । ननु
“अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं
महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥” इति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मे-
णैवोक्तमतः साम्प्रतमर्थकामत्वादेतेषां महानुभावत्वं प्राप्तं
विगलितम् ? सत्यम्, तदप्येतान् हतवतो मम दुःखमेव स्या-
दित्याह,—अर्थकामानर्थलुब्धानप्येतात् कुरुन् हत्वाऽहं भोगान्
भुञ्जीय किन्त्वेतेषां रुधिरेण प्रदिग्धान् प्रलिप्तानेव । अयमर्थः—
एतेषामथेलुब्धत्वेऽपि मदगुरुत्वमस्त्येव, अत एवैतद्वधे सति
गुरुद्रोहिणो मम खलु भोगो दुष्कृतिमिश्रः स्यादिति ॥ ५ ॥

गी०भू०—ननु स्वराज्ये स्पृहा चेत्ताव नास्ति तर्हि देहयात्रा वा
कथं सेत्स्यतीति चेत् तत्राह—गुरुनिति । गुरुनहत्वा गुरुवधमकृत्वा
स्थितस्य मे भैक्षान्नं क्षत्रियाणां निन्द्यमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्ततरम्,
ऐहिकदुर्यशोहेतुत्वेऽपि परलोकाविधातित्वात् । नन्वेतं भीष्मादयो
गुरवोऽपि युद्धगर्वाबलेपात् छद्मना युष्मद्द्राज्यापहारं युष्मद्-
द्रोहश्च कुर्वतां दुर्योधनादीनां संसर्गेण कार्याकार्यविवेकविर-
हाच्च संप्रति त्याज्या एव—“गुरोरप्यबलिप्तस्य कार्याकार्यम-
जानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥” इति स्मृते-
रिति चेत्तत्राह—महानुभावानिति । महान् सर्वोत्कृष्टोऽनुभावो
वेदाध्ययनब्रह्मचर्यादिहेतुकः प्रभावो येषां तान् । कालकामाद-
योऽपि यद्वश्यास्तेषां तद्दोषसंबन्धो नेति भावः । ननु “अर्थस्य
पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज

बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥” इति भीष्मोक्तेरर्थलोभेन विक्रीतात्मनां
तेषां कुतो महानुभावता ? ततो युद्धे हन्तव्यास्ते इति चेत्त-
त्राह—हत्वार्थकामानिति । अर्थकामानपि गुरुन् हत्वाहमिहैव
लोके भोगान् भुञ्जीय, न तु परलोके । तांश्च रुधिरप्रदिग्धान्
तद्रुधिरमिश्रानेव, न तु शुद्धान् भुञ्जीय तद्विसया तल्लाभात् ।
तथा च युद्धगर्वाबलेपादिमत्त्वेऽपि तेषां मदगुरुत्वमस्त्येवेति
पुनर्गुरुग्रहणेन सूच्यते ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

सारा०व०—किञ्च गुरुद्रोहे प्रवृत्तस्यापि मम जयः पराजयो वा भ-
वेदित्यपि न ज्ञायत इत्याह—न चैतदिति । तथापि नोऽस्माकं कतरन्
जयपराजयोर्मध्ये किं खलु गरीयो ऽधिकतरं भविष्यति, एतन्न विद्मः
तदेव पक्षद्वयं दर्शयति—एतान् वयं जयेम, नोऽस्मान् वा एते जयेयुः
इति । किञ्च जयोऽप्यस्माकं फलतः पराजय एवेत्याह—यानेवेति ॥ ६ ॥

गी०भू०—ननु भैक्षभोजनं क्षत्रियस्य विगर्हितं, युद्धञ्च स्व-
धर्मं विजानन्नपि किमिदं विभाषसे इति चेत्तत्राह—न चैत-
दिति । एतद्वयं न विद्मः—भैक्षयुद्धयोर्मध्ये नोऽस्माकं कतरद्गरीयः
प्रशस्ततरम्—हिंसा-विरहाद्वैत्तं गरीयः स्वधर्मत्वाद्युद्धं वेति,
एतच्च न विद्मः । समारब्धे युद्धे वयं धार्तराष्ट्रान् जयेम ते वा
नोऽस्मान् जयेयुरिति । ननु महाविक्रमिणां धर्ममिष्टानाञ्च भवता-
मेव विजयो भावीति चेत्तत्राह—यानेवेति । यान् धार्तराष्ट्रान्
भीष्मीदीन् सर्वान् । न जिजीविषामो जीवितुमपि नेच्छामः किं
पुनर्भोगान् भोक्तुमित्यर्थः । तथा च विजयोऽप्यस्माकं फलतः परा-

जय एवेति; तस्माद्युद्धस्य भैक्षाद्गरीयस्त्वमप्रसिद्धमिति । एवमे-
तावता ग्रन्थेन “तस्मादेवंविच्छान्तदान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धा-
न्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्” इति श्रुतिप्रसिद्धमञ्जुनस्य
ज्ञानाधिकारित्वं दर्शितम् । तत्र किन्नो राज्येनेति “शमदमौ”;
अपि त्रैलोक्यराज्यस्येत्यैहिकपारत्रिकभोगोपेक्षालक्षणा ‘उपरतिः’;
भैक्षं भोक्तुं श्रेय इति द्वन्द्वसहिष्णुत्वलक्षणा ‘तितिक्षा’, गुरु-
बाक्यदृढविश्वासलक्षणा ‘श्रद्धा’ तूत्तरवाक्ये व्यक्तीभविष्यति,
न खलु शमादिशून्यस्य ज्ञानेऽस्त्यधिकारः पङ्गादेरिव कर्म-
णीति ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

सारा०व०—ननु तर्हि सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं त्वमेव ब्रूवाणः क्षत्रियो
भूत्वा भिक्षाटनं निश्चिनोषि तर्ह्यलं मदुक्त्येति तत्राह—कार्पण्येति ।
स्वाभाविकस्य शौर्यस्य त्याग एव मे कार्पण्यम् । “धर्मस्य सूक्ष्मा
गति”रित्यतो धर्मव्यवस्थायामप्यहं मूढबुद्धिरेवास्मि, अतस्त्वमेव
निश्चित्य श्रेयो ब्रूहि । ननु मद्वाचस्त्वं पण्डितमानित्वेन खण्ड-
यसि चेत्, कथं ब्रूयाम् ? तत्राह शिष्यस्तेऽहमस्मि, नातः
परं वृथा खण्डयामिति भावः ॥ ७ ॥

गी०भू०—अथ “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्-
पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्”, “आचार्य्यवान् पुरुषो वेद” इत्यादि-
श्रुतिसिद्धां गुरुरपसत्तिं दर्शयति—कार्पण्येति । “यो वा एतदक्षरं
गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रेति स कृपणः” इति श्रवणादब्रह्म-
वित्तं कार्पण्यम् । तेन हेतुना यो दोषो यानेव हत्वेति बन्धु-

बर्गममतालक्षणस्तेनोपहतस्वभावो युद्धस्पृहालक्षणः स्वधर्मो
यस्य सः । धर्मे संमूढं क्षत्रियस्य मे युद्धं स्वधर्मस्तद्विहाय भिक्षा-
टनं वेत्येवं सन्दिहानं चेतो यस्य सः । ईदृशः सन्नहं त्वामिदानीं
पृच्छामि—तस्मान्निश्चितं ‘ऐकान्तिकं’ ‘आत्यन्तिकं’ यन्मे श्रेयः
स्यात्तत् त्वं ब्रूहि ; साधनोत्तरमवश्यं भावित्वं ‘ऐकान्तिकत्वं’,
भूतस्याविनाशित्वं ‘आत्यन्तिकत्वम्’ । ननु शरणागतस्योपदेशः
“तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्” इत्यादि—श्रुतेः, सखायं
त्वां कथमुपदिशामि इति चेत्तत्राह—शिष्यस्तेऽहमिति । शाधि
शिष्य ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्योद्

यच्छोकमुच्छ्रोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

सारा०व०—ननु मयि तव सख्यभाव एव, ननु गौरवम्, अतस्त्वां
कथमहं शिष्यं करोमि, तस्माद् यत्र तव गौरवं तं कमपि द्वैपायि-
नादिकं प्रपद्यस्वेत्यत आह—न हीति । मम शोकमपनुदयात्
दूरीकुर्यादेवं जनं न प्रकर्षेण पश्यामि त्रिजगत्येकं त्वां विना ।
स्वस्मादधिकबुद्धिमन्तं वृद्धस्पतिमपि न जानामीत्यतः शोकार्त्ता
एव खलु कं प्रपद्येय इति भावः । यद् यतः शोकादीन्द्रियाणामु-
च्छ्रोषणं महानिदाघात् क्षुद्रसरसामिव उत्कर्षेण शोषो भवति ।
ननु तर्हि साम्प्रतं त्वं शोकार्त्ता एव खलु युध्यस्व, ततश्चैतान्
जित्वा राज्यं प्राप्तवतस्तव राज्यभोगाभिनिवेशेनैव शोकोऽपया-
स्यतीत्यत आह—अवाप्येति भूमौ निष्कण्टकं राज्यं स्वर्गं
सुराणामाधिपत्यं वा प्राप्यापि स्थितस्य ममेन्द्रियाणामेतदुच्छ्रो-
षणमेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

गी०भू०—ननु त्वं शास्त्रज्ञोऽसि स्वहितं विचार्य्यानुतिष्ठ, सख्युर्मे शिष्यः कथं भवेरिति चेत्तत्राह—न हीति । यत् कर्म मम शोकमपनुद्याद्दूरीकुर्यात्तादृहं न प्रपश्यामि । शोकं विशि-
नष्टि—इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति । तस्माच्छोकविनाशाय त्वां प्रपन्नोऽस्मीति । इत्थञ्च “सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भवान् शोकस्य पारं तारयतु” इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । ननु त्वमधुना शोकाकुलः प्रपद्यसे युद्धात् सुखसमृद्धिलाभे विशोको भविष्यसीति चेत्तत्राह—अवाप्येति । यदि युद्धे विजयी स्यां तदा भूमावस-
पत्नं निष्कण्टकं राज्यं प्राप्य यदि च तत्र हतः स्यां तदा स्वर्गे सुराणामप्याधिपत्यं प्राप्य स्थितस्य मे विशोकत्वं न भवेदित्यर्थः । “तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्याजितो लोकः क्षीयते” इति श्रुतेर्नैहिकं पारत्रिकं वा युद्धलब्धं सुखं शोका-
पहं तस्मात्तादृशमेव श्रेयस्त्वं ब्रूहीति न युद्धं शोकहरम् । ८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥६॥

गी०भू०—ततोऽर्जुनः किमकरोदित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वा इति । गुडाकेशो हृषीकेशं प्रति एवं न हि प्रप-
श्यामीत्यादिना युद्धस्य शोकानिवर्त्तकत्वमुक्त्वा परन्तपोऽपि गोविन्दं सर्ववेदज्ञं प्रति ‘न योत्स्ये इति चोक्त्वेति योज्यम् । तत्र हृषीकेशत्वाद्बुद्धि युद्धे प्रवर्त्तयिष्यति, सर्ववेदविदत्त्वाद्युद्धे स्वधर्मत्वं प्राहयिष्यतीति व्यज्य धृतराष्ट्रहृदि संजाता स्वपुत्र-
राज्याशा निरस्यते ॥६॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

सारा०व०—अहो तवाप्येतावान् खल्वविवेक इति सख्य-भावेन तं प्रहसन् अनौचित्यप्रकाशेन लज्जाम्बुधौ निमज्जयन् इवेति तदानीं शिष्यभावं प्राप्ते तस्मिन् हास्यमनुचितमित्यधरोष्ठनिकुञ्चनेन हास्यमावृण्वंश्चेत्यर्थः । हृषीकेश इति पूर्वं प्रेम्णैवार्जुन-बाङ्-
नियऽस्योपि साम्प्रतमर्जुन—हितकारित्वात् प्रेम्णैवार्जुनमनोनि-
यन्तापि भवतीति भावः । सेनयोरुभयोर्मध्ये इत्यर्जुनस्य विषादो भगवता प्रबोधश्च, उभाभ्यां सेनाभ्यां सामान्यतो दृष्ट एवेति भावः ॥ १० ॥

गी०भू०—व्यङ्गमर्थं प्रकाशयन्नाह—तमुवाचेति—तं विषी-
दन्तमर्जुनं प्रति हृषीकेशो भगवान् “अशोच्यान्” इत्यादिक-
मतिगम्भीरार्थं वचनमुवाच—“अहो तवापीदृग् विवेकः” इति सख्यभावेन प्रहसन् । अनौचित्यभाषित्वेन त्रपासिन्धौ निमज्ज-
यन्नित्यर्थः । इवेति तदैव शिष्यतां प्राप्ते तस्मिन् हासानौचि-
त्यादीषदधरोल्लासं कुर्वन्नित्यर्थः । अर्जुनस्य विषादो भगवता तस्योपदेशश्च सर्वसाक्षिक इति बाधयितुं सेनयोरुभयो-
रित्येतत् ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

सारा०व०—भो अर्जुन ! तवायं बन्धुवधहेतुकः शोको भ्रममूलक एव, तथा कथं भीष्ममहं संख्ये इत्यादिको विवेकश्चाप्रज्ञा-मूलक एवेत्याह—अशोच्यान् शोकानर्हानिव त्वमन्वशोचोऽनुशोचि-
तवानसि । तथा त्वां प्रबोधयन्तं मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञायां सत्यामेव ये वादाः “कथं भीष्ममहं संख्ये” इत्यादीनि वाक्यानि तान्भाषसे, नतु तव कापि प्रज्ञा वर्त्तत इति भावः । यतः पण्डिताः प्रज्ञावन्तो गतासून् गता निःसृता भवन्त्यसौ

येभ्यः तान् स्थूलदेहान् न शोचन्ति, तेषां नश्वरभावत्वा-
दिति भावः । अगतासून् अनिःसृतप्राणान् सूक्ष्मदेहानपि न
शोचन्ति, ते हि मुक्तेः पूर्वं नश्वरा एव, उभयेषामपि तथा
तथा स्वभावस्य दुष्परिहरत्वात् । मूर्खास्तु पित्रादिदेहेभ्यः प्राणेषु
निःसृतेष्वेव शोचन्ति, सूक्ष्मदेहांस्तु न, ते प्रायः परिचिन्वन्त्य-
तस्तैरलम् । एते हि सर्वे भीष्मादयः स्थूल - सूक्ष्म-देह-सहिता
आत्मान एव; आत्मनान्तु नित्यत्वात्तोषु शोकप्रवृत्तिरेव नास्ती-
त्यतस्त्वया यत्पूर्वमर्थ-शास्त्रात् धर्मशास्त्रं बलवदित्युक्तं तत्र
मया तु धर्मशास्त्रादपि ज्ञानशास्त्रं बलवदित्युच्यत इति भावः ॥११॥

गी०भू०—एवं अर्जुने तूष्णींस्थिते तद्वुद्धिमाक्षिपन् भग-
वानाह—अशोच्यानिति । हे अर्जुन ! अशोच्यान् शोचितु-
मयोग्यानेव धार्तराष्ट्रांस्त्वं अन्वशोचः शोचितवानसि । तथा
मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञाबतामिव बचनानि “दृष्ट्वेमं स्वजनम्”
इत्यादीनि, “कथं भीष्मम्” इत्यादीनि च भाषसे, न च ते
प्रज्ञालेशोऽप्यस्तीति भावः । ये तु प्रज्ञाबन्तस्ते गतासून् निर्गत-
प्राणान् स्थूलदेहान्, अगतासून्श्चानिर्गतप्राणान् सूक्ष्मदेहान्,
च-शब्दादात्मनश्च न शोचन्ति । अयमर्थः—शोकः स्थूलदेहविना-
शानाम्तः सूक्ष्मदेहविनाशनिमित्तो वा ? नाद्यः—स्थूलदेहानां
विनाशित्वात्, नान्यः—सूक्ष्मदेहानां मुक्तेः प्रागविनाशित्वात् ।
तद्वतां आत्मनां तु षड्भारवाविकारवर्जितानां नित्यत्वान्न शोच्य-
तेति ; देहात्मस्वभावावदं न कोऽपि शोकहेतुः । यदर्थशास्त्रा-
द्धर्मशास्त्रस्य बलवत्त्वमुच्यते, तत् किल ततोऽपि बलवता ज्ञान-
शास्त्रेण प्रत्युच्यते । तस्मादशोच्ये शोच्यभ्रमः पामरसाधारणः
परिणतस्य ते न योग्य इति भावः ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

सारा०व०—अथवा सखे? त्वामहमेवं पृच्छामि; किञ्च प्रीत्यास्प-
दस्य मरणे दृष्टे सति शोको जायते, तत्रेह प्रीत्यास्पदमात्मा देहो
वा ? “सर्वेषामेवभूतानां नृप स्वात्मैव बल्लभः” इति शुको-
क्तेरात्मैव प्रीत्यास्पदमिति चेत्तर्हि जीवेश्वरभेदेन द्विविधस्यै-
वात्मनो नित्यत्वादेव मरणाभावादात्मा शोकस्य विषयो नेत्याह-
नत्वेवाहमिति । अहं परमात्मा जातु कदाचिदपि पूर्वं नासमिति
न, अपि त्वासमेव । तथा त्वमपि जीवात्मा आसीरेव ।
तथेमे जनाधिपा राजानश्च जीवात्मान आसन्नेव इति प्रागभा-
वाभावो दर्शितः । तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्च
अतः परं न भविष्यामो न स्थास्याम इति न, अपि तु स्थास्याम
एवेति ध्वंसाभावश्च दर्शितः इति परात्मनो जीवात्मनाञ्च
नित्यत्वादात्मा न शोकविषय इति साधितम् । अत्र श्रुतयः
“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति
कामान्” इत्याद्याः ॥ १२ ॥

गी०भू०—एवमस्थानशोचित्वादपाण्डित्यमर्जुनस्यापाद्य
तत्त्वजिज्ञासुं नियोजिताञ्जलिं तं प्रति सर्वेश्वरो भगवान् “नित्यो
नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्”
इति श्रुतिसिद्धं स्वस्माज्जीवानाञ्च पारमार्थिकं भेदमाह—न
त्वेवाहमिति । हे अर्जुन ! अहं सर्वेश्वरो भगवान् इतः पूर्व-
स्मिन्नादौ काले जातु कदाचिन्नासमिति न, अपित्वासमेव । तथा
त्वमर्जुनो नासीरिति न, किन्त्वासीरेव । इमे जनाधिपा राजानो
नासन्निति न, किन्त्वासन्नेव । तथेतः परस्मिन्नन्ते काले सर्वे
वयं अहञ्च त्वञ्च इमे च न भविष्याम इति न, किन्तु भविष्याम
एवेति । सर्वेश्वरबज्जीवानाञ्च त्रैकालिकसत्तायोगित्वात्तद्विषयको
न शोको युक्त इत्यर्थः । न चाविद्याकृतत्वाद्व्यवहारिकोऽयं भेदः,
सर्वज्ञे भगवत्यविद्यायोगात्, “इदं ज्ञानमुवाश्रित्य” इत्यादिना

मोक्षेऽपि तस्याभिधास्यमानत्वाच्च । न चाभेदज्ञस्यापि हरेर्वाधि-
तानुवृत्तिन्यायेनेयमज्जुनादिभेददृष्टिरिति वाच्यं—तथा सत्युप-
देशासिद्धेः । मरुमरीचिकादाबुदकबुद्धिर्वाधिताप्यनुवर्त्तमाना
मिथ्यार्थविषयत्वनिश्चयान्नोदकाहरणादौ प्रवर्त्तयेदेवमभेदबोधवा-
धिताप्यनुवर्त्तमानाज्जुनादिभेददृष्टिस्तत्त्वनिश्चयान्नोपदेशादौ प्रव-
र्त्तयिष्यतीति यत्किञ्चिदेतत् । ननु फलवत्यज्ञातेऽर्थे शास्त्र-
तात्पर्यबीक्षणात् तादृशोऽभेदस्तात्पर्यविषयो वैफल्यज्ज्ञात-
त्वाच्च, भेदस्तद्विषयो न स्यात्, किन्तु “अद्भ्यो वा एष प्रातरुदे-
त्यपः सायं प्रविशति” इत्यादि श्रुत्यर्थबदनुवाच एव स इति
चेन्मन्दमेतत्—“पृथगात्मानं प्रेरितारश्च मत्वा” “जुष्टंस्ततस्तेना-
मृतत्वमेति” इत्यादिना भेद एवामृतत्वफलश्रवणात्, विरुद्ध-
धर्माबच्छिन्नप्रतियोगिकतया लोके तस्याज्ञातत्वाच्च । ते च धर्मा
बिभ्रुत्वाणुत्व-स्वामित्व-भृत्यत्वादयः शास्त्रैकगम्या मिथो विरुद्धा
बोद्ध्याः । अभेदस्त्वफलस्तत्र फलानङ्गीकारात्, अज्ञातश्च शश-
शृङ्गबदसत्त्वात् । तस्मात् पारमार्थिकस्तद्भेदः सिद्धः ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

सारा०व०—ननु चात्मसम्बन्धेन हेहोऽपि प्रीत्यास्पदं स्यात्, देहस-
म्बन्धेन पुत्रभ्रात्रादयोऽपि, तत्सम्बन्धेन न पुत्रादयोऽपि, अतस्तेषां
नाशे शोकः स्यादेवेति चेदत आह,—देहिन इति । देहिनो जीव-
स्यास्मिन् देहे कौमारं कौमारप्राप्तिर्भवति, ततः कौमारनाशा-
नन्तरं यौवनप्राप्तियौवननाशानन्तरं जराप्राप्तिर्यथा, तथा एव
देहान्तरप्राप्तिरिति । ततश्चात्मसम्बन्धिनं कौमारादीनां प्रीत्या-
स्पदानां नाशे यथा शोको न क्रियते तथा देहस्याप्यात्म-
सम्बन्धिनः प्रीत्यास्पदस्य नाशे शोको न कर्त्तव्यः । यौवनस्य

नाशे जराप्राप्तौ शोको जायत इति चेत् कौमारस्य नाशे
यौवनप्राप्तौ हर्षोऽपि जायत इति । अतो भीष्मद्रोणादीनां
जीर्ण-देह-नाशे खलु नव्यदेहान्तरप्राप्तौ तर्हि हर्षः क्रियता-
मिति भावः । यद्वा एकस्मिन्नपि देहे कौमारादीनां यथा
प्राप्तिस्तथैवैकस्यापि देहिनो जीवस्य नानादेहानां प्राप्तिरिति ॥१३॥

गी०भू०—ननु भीष्मादिदेहाबच्छिन्नानामात्मनां नित्यत्वेऽपि
तद्देहानां तद्भोगायतनानां नाशे युक्तः शोक इति चेत्तत्राह—देहि-
नोऽस्मिन्निति । त्रैकालिका बहवो देहा यस्य सन्ति, तस्य देहिनो
जीवस्यास्मिन् वर्त्तमाने देहे क्रमात् कौमारयौवनजरास्तिस्रो-
ऽवस्था भवन्ति । तासामात्मसम्बन्धिनं तद्भोगोपयुक्तानां पूर्व-
पूर्वविनाशेन परपरप्राप्तौ यथा न शोकस्तथैव तद्देहविनाशे सति
देहान्तरप्राप्तिर्भविष्यतीति । तथा च भीष्मादीनां जरितदेहनाशे
नव्यदेहप्राप्तिर्यथातियौवनप्राप्तिन्यायेन हर्षहेतुरेवेति, न तद्देह-
विनाशहेतुकः शोकस्तबोचित इति भावः । धीरो धीमान् देहस्व-
भावजीवकर्मविपाकस्वरूपज्ञः, अत्र ‘देहिनः’ इत्येकवचनं जात्यभि-
प्रायेण बोध्यं, पूर्वत्रात्मबहुत्वोक्तेः । अत्राहुः—‘एक एव विशु-
द्धात्मा, तस्याविद्ययापरिच्छिन्नस्य तस्यां प्रतिबिम्बितस्य वा
नानात्मत्वम् ।’ श्रुतिश्चैवमाह,—“आकाशमेकं हि यथा घटा-
दिषु पृथग्भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमा-
निति ।” तद्विज्ञानेन तस्य विनाशे तु तन्नानात्वनिवृत्त्या तदैक्यं
सिध्यतीत्येकवचनेनैतत् पार्थसारथिराहेति । तन्मन्दं—जडया
तथा चैतन्यराशेश्छेदासम्भवात्, तैरपि तद्विषयत्वानङ्गीकाराच्च ।
वास्तवे च्छेदे बिकारित्वाद्यापत्तिः टङ्कछिन्नपाषाणवत् स्यात्—
नीरूपस्य विभोः प्रतिबिम्बासम्भवाच्च, अन्यथाकाशदिगादीनां
तदापत्तिः । न च प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरेवाकाशस्य प्रतिबिम्बे मानं
तद्वर्त्तिग्रहनक्षत्रप्रभामण्डलं तस्यैवाम्भसि भासमानत्वेन प्रतीतेः ।

“आकाशमेकं हि” इति श्रुतिस्तु परमात्मविषया तस्याकाशवत्
सूर्यवच्च बहुवृत्तिकत्वं बद्धतीत्यविरुद्धम् । न चात्मैक्यस्योपदेशा-
संभवति । स हि तत्त्वाभिन्न वा ? आद्येऽद्वितीयमात्मानं विजान-
तस्तस्योपदेश्यापरिस्फूर्तिः, अन्ये त्वज्ञत्वादेव नात्मज्ञानोपदेष्टृ-
त्वम् । बाधितानुवृत्त्याश्रयणं तु पूर्वनिरस्तम् ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

सारा०व०-ननु सत्यमेव तत्त्वं, तदप्यविवेकिनो मम मन एवानर्थ-
कारी वृथैव शोक-मोह-व्याप्तं दुःखयतीति, तत्र न केवलं एकं
मन एव, अपितु मनसो वृत्तायोऽपि सर्वास्त्वगादीन्द्रिय-
रूपाः स्वविषयानुभाव्यान्तर्कारिण्य इत्याह-मात्रा इन्द्रियग्रा-
ह्यविषयास्तेषां स्पर्शाः अनुभवाः । शीतोष्णोति आगमापायिन
इति-यदेव शीतलजलादिकमुष्णकाले सुखदं, तदेव शीतकाले
दुःखदमतोऽनित्यतत्त्वादागमापायित्वाच्च, तान् विषयानुभवान् ति-
तिक्षस्व सहस्व; तेषां सहनमेव शास्त्रविहितो धर्मः; न हि
माघे मासि जलस्य दुःखदत्वबुद्धयैव शास्त्रे विहितः स्नानरूपो
धर्मस्त्यज्यते । धर्म एव काले सर्वानर्थनिवर्त्तको भवति;
एवमेव ये पुत्रभ्रात्रादयाः उत्पत्तिकाले धनाद्युपार्जनकाले च
सुखदास्त एव मृत्युकाले दुःखादा आगमापायिनोऽनित्यास्तानपि
तितिक्षस्व; न तु तदनुरोधेन युद्धरूपः शास्त्रविहितः स्वधर्म-
स्त्याज्यः । विहितधर्मानाचरणं खलु काले महानर्थकृदेव इति
भावः ॥ १४ ॥

गी०भू०-ननु भीष्मादयो मृताः कथं भविष्यन्तीति तद्दुःख-
निमित्तः शोको माभूत् । तद्विच्छेददुःखनिमित्तास्तु मे मनःप्रभृतीनि
प्रदहन्तीति चेत्तत्राह-मात्रेति । मात्रास्त्वगादीन्द्रियवृत्तयः मीयन्ते

परिच्छिद्यन्ते विषया अभिरिति व्युत्पत्तोः । स्पर्शास्ताभिर्विषया-
णामनुभवान्ते खलु शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्ति । यदेव
शीतलमुदकं ग्रीष्मे सुखदं तदेव हेमन्ते दुःखदमित्यतोऽनित्यत-
त्त्वादागमापायित्वाच्चानित्यानस्थिरांस्तान् तितिक्षस्व सहस्व,
एतदुक्तं भवति--माघस्नानं दुःखकरमपि धर्मतया विधा-
नाद्यथा क्रियते तथा भीष्मादिभिः सह युद्धं दुःखकरमपि तथा
विधानात् कार्यमेव । तत्रत्यो दुःखानुभवस्त्वागन्तुको धर्म-
सिद्धत्वात् सोढव्यः । धर्माज्ञानोदयेन मोक्षलाभे तूत्तरत्र तस्य
नानुवृत्तिश्च ज्ञाननिष्ठा परिपाकं विनैव धर्म-त्यागस्त्वनर्थ-
हेतुरिति । कौन्तेय भारतेति पदाभ्यामुभयकुलशुद्धस्य ते धर्म-
भ्रंशो नोचित इति सूच्यते ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

सारा०व०-एवं विचारेण तत्तत्सहनाभ्यासे सति ते विषयानु-
भवाः काले किल नापि दुःखयन्ति । यदि च न दुःखयन्ति, तदात्म-
मुक्तिः स्वप्रत्यासन्नैवेत्याह-यमिति । अमृतत्वाय मोक्षाय ॥१५॥

गी०भू०-धर्मार्थ-दुःख-सहनाभ्यासस्योत्तरत्र सुखहेतु-
त्वं दर्शयन्नाह यं हीति । एते मात्रास्पर्शाः प्रियाप्रियविषया-
नुभावा यं धीरं धियमीरयति धर्मेऽप्यति व्युत्पत्तोर्धर्मनिष्ठं
पुरुषं न व्यथयन्ति सुखदुःखमूर्च्छितं न कुर्वन्ति सोऽमृत-
त्वाय मुक्तये कल्प्यते, न तु तादृशो दुःखसुखमूर्च्छित
इत्यर्थः । उक्तमर्थं स्फुटयन् पुरुषं विशिनष्टि समेति-धर्मानुष्ठानस्य
कष्टसाध्यत्वाद्दुःखमनुषङ्गलब्धं सुखञ्च यस्य समं भवति ताभ्यां
सुखम्लानितोल्लासरहितमित्यर्थः ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

सारा० व०—एतच्च विवेकदशानधिरुढान् प्रति उक्तम् । वस्तुतस्तु “असङ्गो ह्ययं पुरुषः” इति श्रुतेर्जीवात्मनश्च स्थूल-सूक्ष्म-देहाभ्यां तद्वर्त्मैः शोकमोहादिभिश्च सम्बन्धो नास्त्येव । तत्सम्बन्धस्याविद्या-कल्पितत्वादित्याह—नेति । असतोऽनात्मधर्मत्वादात्मनि जीवे अवर्त्तमानस्य शोकमोहादेस्तदाश्रयस्य देहस्य च भावः सत्ता नास्ति । तथा सतः सत्यरूपस्य जीवात्मनोऽभावो नाशो नास्ति । तस्मादुभयोरेतयोरसत्सतोरन्तो निर्णयोऽयं दृष्टः । तेन भीष्मादिषु त्वदादिषु च जीवात्मसु सत्यत्वाद-नश्वरेषु देह-दैहिक-विवेकशोकमोहादयो नैव सन्तीति कथं भीष्मादयो नन्दयन्ति कथं वा तांस्त्वं शोचसीति भावः ॥१६॥

गी० भू०—तदेवं भगवता पार्थस्यास्थानशोचितत्वेन तत्पाणिङ्गित्यमाक्षिप्तम् । शोकहरश्च स्वोपासनमेव तच्चोपास्योपासक-भेदघटितमित्युपास्याज्जीवांशिनः स्वस्मादुपासकानां जीवांशानां तात्त्विकं द्वैतमुपदिष्टम् । अथ “यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोप-मेनेह युक्तः प्रपश्ये” इत्यादावंशस्वरूपज्ञानस्यांशिस्वरूपज्ञानो-पयोगित्वश्रवणात्तादादौ सनिष्ठादीन् सर्वान् प्रत्यविशेषेणो-पदेश्यं तच्च-देहात्मनोर्वैधर्म्यधियमन्तरा न स्यादिति तद्वैधर्म्य-बोधाधारभ्यते नासत इत्यादिभिः । असतः परिणामिनो देहा-देर्भावोऽपरिणामित्वं न विद्यते । सतोऽपरिणामिन आत्मन-स्त्वभावः परिणामित्वं न विद्यते । देहात्मानौ परिणामापरिणाम-स्वभावौ भवतः । एवमुभयोरसत्सच्छब्दितयोर्देहात्मनोरन्तो निर्णयस्तत्त्वदर्शिभिस्तदुभयस्वभाववेदिभिः पुरुषैर्दृष्टोऽनुभूतः । अत्रासच्छब्देन विनश्वरं देहादि जडं सच्छब्देन त्वविनश्वरमात्म-

चैतन्यमुच्यते । एवमेव श्रीविष्णुपुराणेऽपि निर्णितं दृष्टम्—ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरित्युपकृम्य यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्येत्यास्ति—नास्ति-शब्द-वाच्ययोश्चेतनजडयोस्तथात्वं वस्त्वास्ति किं कुत्राचदित्यादिभिर्निरूपितः, तत्र नास्ति शब्द-वाच्यं जडम् । अस्तिशब्दवाच्यन्तु चैतन्यमिति स्वयमेव विवृतम् । यत्तु सत्कार्यबादस्थापनायै—तत्पद्यमित्याहु—स्तन्निरवधानं देहात्मस्वभावानभिज्ञानमोहितं प्रति तन्मोह-विनिवृत्तये तत्स्व-भावाभिज्ञापनस्य प्रकृतत्वात् ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

सारा० व०—नाभावो विद्यते सत इत्यस्यार्थं स्पष्टयति-अविना-शीति । तत् जीवात्मस्वरूपं येन सर्वमिदं शरीरं ततं व्याप्तम् । ननु शरीर-मात्र-व्यापी-चैतन्यत्वे जीवात्मनो मध्यमपरिमाणत्वे-नानित्यत्वप्रसक्तिः ? मैवं “सूक्ष्माणामप्यहं जीवः” इति भगवदुक्तेः, “एषोऽगुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणं पञ्चधा संविवेश” इति, “वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः” इति । “आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः” इति श्रुतिभ्यश्च तस्य परमाणुपरिमाणत्वमेव । तदपि सम्पूर्णदेहव्यापिशक्ति-मत्वं जतुजटितस्य महामणोर्महौषधखण्डस्य वा शिरस्युरसि वा धृतस्य सम्पूर्णदेहपुष्टिकरणशक्तिमत्वमिव नासमञ्जसम् । स्वर्ग-नरक-नानायोनिषु गमनञ्च तस्योपाधिपारवश्यादेव । तदुक्तं प्राणमधिकृत्य दत्तात्रेयेन—“येन संसरते पुमान्” इति । अतएवास्य सर्वगतत्वमप्यग्रिम-श्लोके बध्यमाणं नासमञ्ज-सम् । अतएवाव्ययस्य नित्यस्य—“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेत-नानामेको बहुनां यो विदधाति कामान्” इति श्रुतेः, यद्वा

ननु देहो जीवात्मा परमात्मेत्येतद्वस्तुत्रिकं मनुष्यतिर्य्यगादिषु सर्वत्र दृश्यते, तत्राद्योर्देहजीवयोस्तत्त्वं “नासतो विद्यते भावः” इत्यनेनोक्तम्, तृतीयस्य परमात्मवस्तुनः किं तत्त्वमित्यत आह—अविनाशि त्विति । तु—भिन्नोपक्रमे; परमात्मनो मायाजीवाभ्यां स्वरूपतः पार्थक्यात् इदं जगत् ॥ १७ ॥

गी०भू०—उक्तं जीवात्मतद्देहयोस्वभावं विशदयत्यविनाशी-ति द्वाभ्याम् । तज्जीवात्मतत्त्वमविनाशि नित्यं विद्धि । येन सर्वं मिदं शरीरं तत् धर्मभूतेन ज्ञानेन व्याप्तमस्ति, अस्याव्ययस्य परमाणुत्वेन च विनाशानर्हस्य विनाशं न कश्चित् स्थूलोऽर्थः कर्तुं मर्हति प्राणस्येवदेहः, इह जीवात्मनो देहपरिमितत्वं न प्रत्ये-तव्यम् । एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेशेत्यादिषु तस्य परमाणुत्वश्रवणात् । तादृशस्य निखिल-देहव्याप्तिस्तु धर्मभूतज्ञानेनैव स्यात् । एवमाह भगवान् सूत्र-कारः—गुणाद्बालोकवादिति । इहापि स्वयं वदयति—यथा प्रकाशयत्येक इत्यादिना ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

सा०व०—“नासतो विद्यते भावः” इत्यस्यार्थं स्पष्टयति—अन्तवन्त इति । शरीरिणो जीवस्य अप्रमेयस्य अति—सूक्ष्मत्वाद्बुद्धेयस्य । तस्माद् युध्यस्वेति शास्त्रविहितस्य स्वधर्मस्य त्यागोऽनुचित इति भावः ॥ १८ ॥

गी०भू०—अन्तवन्तः विनाशिस्वभावाः, शरीरिणो जीवा-त्मनः; अप्रमेयस्यातिसूक्ष्मत्वाद्विज्ञानविज्ञातृस्वरूपत्वाच्च प्रगातु मशक्यस्येत्यर्थः । तथा चेदृशस्वभावत्वाज्जीवतद्देहौ न शोक स्थानमिति जीवात्मनो देहो धर्मानुष्ठानद्वारा तस्य भोगाय

मोक्षाय च परेशेन सृज्यते । स च स च धर्मेण भवेत्तास्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

सारा०व०—भो वयस्य अर्जुन ! त्वमात्मा न हन्तेः कर्त्ता, नापि हन्तेः कर्म इत्याह—य इति । एनं जीवात्मानं हन्तारं वेत्ति; भीष्मादीनर्जुनो हन्तीति यो वेत्तीत्यर्थः । हतमिति भीष्मा-दिभिरर्जुनो हन्यत इति यो वेत्ति, तावुभावप्यज्ञानिनौ । अतोऽर्जुनोऽयं गुरुजनं हन्तीत्यज्ञानिलोकगीताद्दुर्य्यशसः का ते भीतिरिति भावः ॥ १९ ॥

गी०भू०—उक्तमविनाशित्वं द्रढयति—एनमुक्तस्वभावमात्मानं जीवं यो हन्तारं खड्गादिना हिंसकं वेत्ति यश्चैनं तेन हतं हिंसितं मन्यते तावुभौ तत्स्वरूपं न विजानीतः । अतिसूक्ष्मस्य चैतन्यस्य तस्य छेदाद्यसंभवान्नायमात्मा हन्ति न हन्यते, हन्तेः कर्त्ता कर्म च भवतीत्यर्थः । हन्तेर्देहवियोगार्थत्वाच्च तेनात्मनां नाशो मन्तव्यः । श्रुतिश्चैवमाह—“हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हनश्चेन्म-न्यते हतमित्यादिना । एतेन मा हिंस्यात् सर्वा भूतानीत्यादि-बाक्यं देहवियोगपरं व्याख्यातम् । न चात्रात्मनः कर्तृत्वं प्रसिद्ध-मिति बाच्यम् । देहवियोजने तत्तस्य सत्त्वात् ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि—

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

सारा०व०—जीवात्मनो नित्यत्वं स्पष्टतया साधयति—न जायते,

म्रियते' इति जन्ममरणयोर्वर्त्तमानत्व-निषेधः, 'नायं भूत्वा भविता' इतितयोर्भूतत्वभविष्यत्व-निषेधः । अतएव 'अजः' इति कालत्रयेऽप्यजस्य जन्माभावान्नास्य प्रागभावः । शाश्वतः शश्वत् सर्व-काल एव वर्त्तते इति नास्य कालत्रयेऽपि ध्वंसः, अतएवायं नित्यः । तर्हि बहुकालस्थायित्वाज्जराग्रस्तोऽयमिति चेन्न, पुराणः पुरापि नवः प्राचीनोऽप्ययं नवीन इवेति षड्भाव-बिकाराभावा-दिति भावः । ननु शरीरस्य मरणादौपचारिकन्तु मरणमस्यास्तु ? तत्राह,—नेति । शरीरेण सह सम्बन्धाभावान्नोपचारः ॥२०॥

गी०भू०—अथ "जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणामते अपक्षीयते विनश्यती"ति यास्काद्युक्तषड्भाव-बिकार-राहित्येन प्रागुक्त-नित्यत्वं द्रढयति न जायते इति । चार्थे वा शब्दौ । अयमात्मा जीवः कदाचिदपि काले न जायते न म्रियते चेति जन्माविनाशयोः प्रतिषेधः, न चायमात्मा भुत्वोत्पद्य भविता भविष्यतीति जन्मा-न्तरस्यास्तित्वस्य प्रतिषेधः, न भूय इति-अयमात्मा भूयोऽधिकं यथास्यात्तथा न भवतीति वृद्धेः प्रतिषेधः । कुतो भूयो न भवतीत्यत्र हेतुरजो नित्य इति । उत्पत्तिविनाशयोगी खलु वृक्षादि-रूपेषु वृद्धि गच्छन्नष्टः-आत्मनस्तु तदुभयाभावात् न वृद्धिरित्यर्थः । शाश्वत इत्यपक्ष्यस्य प्रतिषेधः, शश्वत् सर्वदा भवति नाप-क्षीयते नापक्ष्यं भजतीत्यर्थः । पुराण इति विपरिणामस्य प्रतिषेधः, पुराणं पुरापि नवो नतु किञ्चिन्नूतनं रूपान्तरमधुना न लब्ध इत्यर्थः । तदेवं षड्भावबिकारशून्यत्वादात्मा नित्यः । यस्मादी-दृशस्तस्माच्छरीरे हन्यमानेऽपि स न हन्यते । तथा चार्जुनोऽयं गुरुहन्तेत्यविज्ञोत्ताया दुष्कीर्त्तरेबिभ्यता त्वया शास्त्रीयं धर्मयुद्धं विधेयमिति ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

सारा०व०—अत एवम्भूतज्ञाने सति त्वं युध्यमानोऽप्यहं युद्धे प्रेरयन्नपि दोषभाजौ नैव भवाव इत्याह—वेदेति । नित्य-मिति क्रियाविशेषणम्, अविनाशिनमिति, अजमिति, अव्यय-मित्येतैर्विनाशजन्या अपक्ष्या निषिद्धाः । स पुरुषो मल्लक्षणः कं घातयति, कथं वा घातयति, तथा स पुरुषस्त्वल्लक्षणः कं हन्ति, कथं वा हन्ति ? ॥२१॥

गी०भू०—एवं तत्त्वज्ञानवान् यो धर्मयुद्ध्या युद्धे प्रवर्त्तते, सश्च प्रवर्त्तयति, तस्य तस्य च कोऽपि न दोषगन्ध इत्याह—वेदेति । एनं प्रकृतमात्मानमविनाशिनमजमव्ययमपक्ष्यशून्यञ्च यो वेद शास्त्रयुक्तिभ्यां जानाति, स पुरुषो युद्धे प्रवृत्तोऽपि कं हन्ति कथं वा हन्ति, तत्र प्रवर्त्तयन्नपि कं घातयति कथं वा घातयति ? किमाक्षेपे—न कमपि न कथमपि इत्यर्थः । नित्य-मिति वेदनक्रियाविशेषणम् ॥२१॥

बासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

सारा०व०—ननु मदीययुद्धाद्भीष्मसंज्ञक-शरीरन्तु जीवात्मा त्यक्षत्येवेत्येत्यतस्त्वञ्चाहञ्च तत्र हेतु भवाव एवेत्यत आह—बासांसीति । नवीनं बस्त्रं परिधापयितुं जीर्णबस्त्रमयं त्याजने कश्चित् किं दोषो भवतीति भावः । तथा शरीराणीति—भीष्मे जीर्णशरीरं परित्यज्य दिव्यं नव्यमन्यच्छरीरं प्राप्स्यतीति कस्तव वा मम वा दोषो भवतीति भावः ॥२२॥

गी०भू०—ननु मा भूदात्मनां विनाशो भीष्मादिसंज्ञानां तच्छ-रीरानां तत्सुखसाधनानां युद्धेन विनाशे तत्सुखविच्छेदहेतुको

दोषः स्यादेव, अन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्रानि निर्दिषयाणि स्यु-
रिति चेत्तत्राह—बासांसीति । स्थूलजीर्णवासस्यागेन नवीन-
वासोधारणमिव वृद्धनृदेहत्यागेन युवदेवदेहधारणं तेषामात्म-
नामतिसुखकरमेव । तदुभयञ्च युद्धेनैव क्षिप्रं भवेदित्युपकार-
कात्तस्मान्मा बिरंसीरिति भावः । संयातीति सम्यक्गर्भवा-
सादियातनां विनैव शीघ्रमेव प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रायश्चित्तवाक्यानि
तु यज्ञयुद्धवधादन्यस्मिन् बधे नेयानि ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

सारा० व०—न च युद्धे त्वया प्रयुक्तेभ्यः शस्त्रास्त्रेभ्यः
काप्यात्मनो व्यथा सम्भवेदित्याह—नैनमिति । शस्त्राणि खड्गा-
दीनि, पावक आग्नेयास्त्रमपि युष्मदादिप्रयुक्तम् ; आपः पाल्ज-
न्यास्त्रमपि, मारुतो वायव्यमस्त्रम् ॥२३॥

गी० भू०—ननु शस्त्रपातैः शरीरविनाशे तदन्तःस्थस्यात्मनो
विनाशः स्यात् गृहदाहे तन्मध्यस्थस्यैव जन्तोरिति चेत्तत्राह—
नैनमिति । शस्त्राणि खड्गादीनि, पावकः आग्नेयास्त्रम्, आपः
पल्लन्यास्त्रम्, मारुतो वायव्यास्त्रम्, तथा च तत्प्रयुक्तैः शस्त्रा-
स्त्रैर्नात्मनः काचिद्व्यथेति ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

सारा० व०—तस्मादात्मायमेवमुच्यत इत्याह—अच्छेद्य इति ।
अत्र प्रकरणे जीवात्मनो नित्यत्वस्य शब्दतोऽर्थतश्च पौनरुक्त्यं

निर्द्धारणप्रयोजकं सन्दिग्धधीषु ज्ञेयम् ;—यथा कलावस्मिन्
धर्मोऽस्ति धर्मोऽस्तीति त्रिचतुर्धा-प्रयोगाद्धर्मोऽस्त्येवेति
निःसंशया प्रतीतिः स्यादिति ज्ञेयम् । सर्वगतः स्वकर्मबशाद्-
देवमनुष्यतिर्यगादि-सर्वदेहगतः ; स्थाणुरचल इति पौनरुक्त्यं
स्थैर्यनिर्द्धारणार्थम् ; अतिसूक्ष्मत्वादव्यक्तस्तदपि देहव्यापि-
चैतन्यत्वादचिन्त्योऽतर्क्यः ; जन्मादिषड् बिकारानर्हत्वाद्—
विकार्यः ॥२४-२५॥

गी० भू०—छेदाद्यभावादेव तत्तन्नामभिरयमाख्यायत इत्याह—
अच्छेद्योऽयमिति । एव-कारः सर्वैः संबध्यते । सर्वगतः स्व-
कर्महेतुकेषु देवमानवादिषु पशुपद्यादिषु च सर्वेषु शरीरेषु
पर्यायेण गतः प्राप्नोऽपीत्यर्थः । स्थाणुः स्थिरस्वरूपः, अचलः
स्थिरगुणकः—“अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा”
इति श्रुतेरित्यर्थः । न चानुच्छित्तिरेव धर्मो यस्येति व्याख्ये-
यम्—तस्यार्थस्याविनाशीत्यनेनैव लाभात्, तस्मादनुच्छित्तयो
नित्या धर्मा यस्य स तथेत्येवार्थः । सनातनः शाश्वतः, पौनरुक्त-
दोषस्त्वग्रे परिहरिष्यते ॥२४॥

गी० भू०—अव्यक्तः प्रत्यङ्, चक्षुराद्यग्राह्यः, अचिन्त्यस्तर्का-
गोचरः श्रुतिमात्रगम्यः, ज्ञानस्वरूपो ज्ञातेत्यादिकं श्रुत्यैव प्रती-
यते, अविकार्यः षड् भावबिकारानर्हः । अत्र “अविनाशि तु
तद्विद्धि” इत्यादिभिरात्मतत्त्वमुपादिशन् हरिः शब्दतोऽर्थतश्च
यत् पुनः पुनरबोचत्तस्य दुर्बोधस्य सौबोध्यार्थमेवेत्यदोषः, निर्द्धार-
णार्थं वा, अयं धर्मो वेत्तीत्युक्तौ तद्वेदनं निश्चितं यथा स्यात्त-
द्वत् । एवमेवाग्रे वक्ष्यति—“आश्चर्य्यवत् पश्यन्ति कश्चित्”
इत्यादिना ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

सारा०व०—तदेवं शास्त्रीय-तत्त्वदृष्ट्या त्वामहं प्राबोधयम् ; व्यावहारिक-तत्त्वदृष्ट्यापि प्रबोधयाम्यवधेहीत्याह—अथेति । नित्यजातं देहे जाते सत्येव नित्यं नियतं जातं मन्यसे ; तथा देह एव मृते मृतं नित्यं नियतं मन्यसे । ‘महाबाहो’ इति परा-क्रमवतः क्षत्रियस्य तव तदापि युद्धमावश्यकं स्वधर्मः, यदुक्तम्—“क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्गमितः । आतापि आतरं हन्यादयेन घोरतरस्ततः ॥” इति भावः ॥२६॥

गी०भू०—एवं स्वोक्तस्य जीवात्मनोऽशोच्यत्वमुक्त्वा परोक्त-स्यापि तस्य तदुच्यते परमतज्ञानाय । तदाभिज्ञः खलु शिष्यस्तद-वकरैस्तन्निरस्य विजयी सन् स्वमते स्थैर्यमासीत् । तथा हि मनुष्यत्वादिबिशिष्टे भूम्यादिभूतचतुष्टये ताम्बूलरागवत् मद-शक्तिबच्च चैतन्यमुत्पद्यते, तादृशस्तच्चतुष्टयभूतो देह एव आत्मा, स च स्थिरोऽपि प्रतिक्षणपरिणामादुत्पत्तिविनाशयोगीति लोक-प्रत्यक्षासिद्धमिति ‘लोकायतिका’ मन्यन्ते । देहाद्भिन्नो विज्ञानस्व-रूपोऽप्यात्मा प्रतिक्षणविनाशीति ‘बैभाषिकादयो’ वौद्धा वदन्ति । तदेतदुभयमतेऽप्यात्मनः शोच्यत्वं प्रतिषेधति । अथेति पक्षान्तरे, चोऽप्यर्थे । त्वं चेन्मदुक्तजीवात्मयाथात्म्याबगाहनासमर्थो लोका-यतिकदिपक्षमालम्बसे, तत्र देहात्मपक्षे एनं देहलक्षणमात्मानं नित्यं वा मृतं मन्यसे । क्षणिकविज्ञानपक्षे च नित्यं प्रतिक्षणं तं तथा तथा मन्यसे । बाशब्दश्चार्थे । तथापि त्वमेनं—“अहोबत महत्पापम्” इत्यादिबचनैः शोचितुं नार्हसि । परिणामस्वभावस्य तस्य तस्य चात्मनो जन्मविनाशयोरनिवार्यत्वाज्जन्मान्तराभावेन पापभयासम्भवाच्च । हे महाबाहो इति सोपहासं सम्बोधनं क्षत्रि-यवर्यस्य बौद्धिकस्य च ते नेदृशं कुमंतं धार्यमिति भावः ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

सारा०व०—हि यस्मात्तास्य स्वारम्भक-कर्मक्षये मृत्युध्रुवो निश्चितः । मृतस्य तदेहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव ? अप-रिहार्येऽर्थे इति मृत्युजन्म च परिहर्त्तुं मशक्यमेवेत्यर्थः ॥२७॥

गी०भू०—अथ शरीरातिरिक्तो नित्य आत्मा, तस्यापूर्व-शरीरेन्द्रिययोगो जन्म, पूर्वशरीरेन्द्रियविभोगस्तु मरणं तदुभ-यञ्च धर्माधर्महेतुकत्वात्तादाश्रयस्य नित्यस्यात्मनो मुख्यं, तदति-रिक्तस्य शरीरस्य तु गौणम्, तस्यानित्यस्य कृतहान्यकृताभ्या-गमप्रसङ्गेन तदाश्रयत्वानुपपत्तेरिति तार्किका मन्यन्ते । तत्पक्षे-ऽप्यात्मनः शोच्यत्वं परिहरति—जातस्येति । हिर्हेतौ, जातस्य स्वकर्मवशात् प्राप्तशरीरादियोगस्य नित्यस्याप्यात्मनस्तदारम्भक-कर्मक्षयहेतुको मृत्युध्रुवो निश्चितः, मृतस्य तच्छरीरकृतकर्महेतुकं जन्म च ध्रुवं स्यात् । तस्मादेवमपरिहार्यं परिहर्त्तुं मशक्ये जन्म-मरणात्मकेऽर्थे त्वं विद्वान् शोचितुं नार्हसि । त्वयि युद्धान्नि-वृत्तेऽप्येते स्वारम्भके कर्मणि क्षीणे सति मरिष्यन्त्येव, तव तु स्वधर्माद्विच्युतिर्भाविनीति भावः ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

सारा०व०—तदेवं जीवपक्षे—“न जायते न म्रियते” इत्या-दिना, देहपक्षे च “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” इत्यनेन शोकविषयं निराकृत्येदानीमुभयपक्षेऽपि निराकरोति—अव्यक्तेति । भूतानि देव-मनुष्य-तिर्यग्गादीनि, अव्यक्तानि न व्यक्तं व्यक्तिरादौ जन्मपूर्वकाले येषाम्, किन्तु तदानीमपि लिङ्गदेहः स्थूलदेहश्च स्वारम्भक-पृथिव्यादि-द्रव्यसत्त्वात् कारणात्मना वर्त्तमानोऽ-स्पष्टमासीदेवेत्यर्थः । व्यक्तं व्यक्तिकर्मध्ये येषां तानि, न व्यक्ति-निधनादनन्तरं येषां तानि । महाप्रलयेऽपि कर्ममात्रादीनां

सत्त्वात् सूक्ष्मरूपेण भूतानि सन्त्येव, तस्मात् सर्वभूतान्या-
द्यन्तरयोरव्यक्तानि मध्ये व्यक्तानीत्यर्थः, यदुक्तं श्रुतिभिः—
“स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थानिमित्तायुजः” इति । का परिदेवना-
कः शोकनिमित्तो बिलापः ? तथा चोक्तं नारदेन—“यन्मन्यसे
ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् । सर्वथा हि न शोच्यास्ते
स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥” इति ॥२८॥

गी०भू०—अथ देहात्मपक्षे आत्मातिरिक्तदेहपक्षे च देह-
विनाशहेतुकशोको न युक्तस्तदारम्भकाणां भूतमात्राणामविनाशा-
दित्याह—अव्यक्तादीनीति । अव्यक्तं नामरूपविरहात् सूक्ष्मं
प्रधानमाद आदिरूपं येषां तानि भूतानि पृथिव्यादि-भूतमयानि
शरीराणि । व्यक्तमध्यानि व्यक्तं नामरूपयोगात् स्थूलं मध्यं
जन्मविनाशान्तरालस्थितिलक्षणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि
अव्यक्ते तादृशि प्रधाने निधनं नामरूपविमर्दनलक्षणो नाशो
येषां तानि । मृदादिके सद्रूपे द्रव्ये कम्बुग्रीवाद्यवस्थायोगो घट-
स्योत्पत्तिस्तद्विरोधिकपालाद्यवस्थायोगस्तु तस्य विनाशः कथ्यते ।
सद्द्रव्यं सर्वदा स्थायीति । एवमेवाह भगवान् पराशरः—
“मही घटत्वं घटतः कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः” इति । एवं
शरीराण्याद्यन्तयोर्नामरूपायोगादव्यक्तिमन्ति, मध्ये तु तद्वयो-
गाद्व्यक्तिमन्ति । तदारम्भकानि भूतानि तु सर्वदा सन्तीति तेषु
वस्तुतः सत्सु का परिदेवना कः शोकनिमित्ताबिलाप इत्यर्थः ।
देहान्यान्त्यात्मपक्षे तु “बासांसि” इत्यादिकं न बिस्मर्त्तव्यम् ।
यत्त्वाद्यन्तरयोरसत्त्वान्मध्येऽपि भूतान्यसन्त्येवातः स्वाप्रिकरथा-
श्वादिप्रख्यानि मृषाभूतान्येव तेन तद्वियोगहेतुकः शोकः प्रति-
बुद्धस्य न दृष्ट इति दृष्टिसृष्टिमभ्युपेत्याहुस्तन्मन्दं—तदभ्युपगमे
बैदिकासत्कार्यबादापत्तेः । तदेवं मतद्वयेऽपि देहविनाशहेतुकः
शोको नास्तीति सिद्धम् ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्याति कश्चिदेन—

माश्चर्यवद्ब्रूदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

सारा०व०—ननु किमिदं आश्चर्यं ब्रूषे ? किञ्चैतदप्या-
श्चर्यम्, यदेव प्रबोध्यमानस्याप्यविवेको नापयातीति तत्र सत्य-
मेवमेवेत्याह—आश्चर्यवदिति । एनमात्मानं देहश्च तदुभयरूपं
सर्व्वलोकम् ॥२९॥

सा०व०—ननु सर्व्वज्ञेन त्वया बहूपदिश्यमानोऽप्यहं शोकनिवा-
रकमात्मयाथात्म्यं न बुध्ये किमेतदिति चेत्तात्राह—आश्चर्यवदिति,
विज्ञानानन्दोभयस्वरूपत्वेऽपि तद्देहाप्रतियोगिनं विज्ञानस्वरूपत्वे-
ऽपि विज्ञातृतया सन्तं परमाणुत्वेऽपि व्योप्तवृहत्कायं नानाकाय-
सम्बन्धेऽपि तत्ताद्विकारैरस्पृष्टमेवमादि बहुविरुद्धधर्मतयाश्चर्य्य-
वदद्भुतसादृश्येन स्थितमेनं मदुपदिष्टं जीवं कश्चिदेव स्वधर्म्मा-
नुष्ठानेन सत्य-तपो-जपादिना च विमृष्टहृद्गुरुप्रसादलब्ध-
तादृशज्ञानः पश्यति याथात्म्येनानुभवति । आश्चर्य्यवदिति क्रिया-
विशेषणं वा कर्त्तुविशेषणं वेति व्याख्यातारः; कश्चिदेनं य-
त्पश्यति तदाश्चर्य्यवत्, यः कश्चित् पश्यति सोऽप्याश्चर्य्य-
वदित्यर्थः । एवमप्रेऽपि । श्रुत्वाप्येनमिति—कश्चित् सम्यगस्पृष्ट-
हृदित्यर्थः । तथाच दुरधिगमं जीवात्मयाथात्म्यम् । अतिरप्येव-
माह—“श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं
न बिदुः । आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्य्यो
ज्ञाता कुशलानुशिष्ट” इति ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

सारा०व०—तर्हि निश्चित्य ब्रूहि—किमहं कुर्यां किंवा न कुर्यामिति, तत्र शोकं मा कुरु, युद्धं तु कुर्वित्याह—देहीति द्वाभ्याम् ॥३०॥

सारा०व०—आत्मानो नाशाभावादेव बधाद्विकम्पितुं भेतुं नार्हसि, स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसीति सम्बन्धः ॥३१॥

गी०भू०—तदेवं दुरधिगमं जीवयाश्चात्म्यं समासेनोपदिशन्न-
शोच्यत्वमुपसंहरति देहीति । सर्व्वस्य जीवगणस्य देहे हन्य-
मानेऽप्ययं देही जीवो नित्यमवध्यो यस्मात् तस्मात् त्वं सर्वाणि
भूतानि भीष्मादिभावापन्नानि शोचितुं नार्हसि । आत्मनां नित्य-
त्वादशोच्यत्वं तद्देहानां त्ववश्यविनाशत्वात्तत्त्वमित्यर्थः ॥३०॥

गी०भू०—एवं परमात्मज्ञानोपयोगित्वादादौ जीवात्मज्ञानं
सर्व्वान् प्रति तौल्येनोपदिश्य सनिष्ठान् प्रति निष्कामतया-
नुष्ठितानि कर्माणि हृद्बिशुद्धिसहकृतामात्मज्ञाननिष्ठां निष्पाद-
यन्तीति वदिष्यन् तस्यां प्रतीतिमुत्पादयितुं सकामतयानुष्ति-
तानां कर्मणां काम्यफलप्रदत्वमाह द्वाभ्याम् । स्वधर्मेमपीति ।
न केवलं देहात्मरवभावं निभात्यं किन्तु स्वधर्ममपीति ।
युद्धं खलु क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवद्विहितम् । तच्च शत्रुप्राण-
विहंसनरूपमग्निष्टोमादि-पशु-हिंसनवन्न प्रत्यवायनिनिष्ठम् ।
उभयत्र हिंसयमुपकृतिरूपैव, हीनयोर्देहलोकयोस्त्यागेन दिव्ययो-
स्तयोर्लाभात् । आह चैवं स्मृतिः—“आहवेषु मिथोऽन्योन्यं
जिघांसन्तो महीक्षीतः । युद्धमानाः परं शक्त्या स्वार्गं यान्त्य-
पराङ्मुखाः । यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यन्ते सततं द्विजैः । संस्कृताः
किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वार्गमवाप्नुवन्ति”त्याद्या । एवं निजधर्ममवे-
क्ष्य विकम्पितुं धर्मात् प्रचलितुं नार्हसि । युक्तं न च श्रेयोऽनु

पश्यामीत्यादिना नरके नियतं बासो भवतीत्यन्त्येन युद्धस्य पाप-
हेतुत्वं त्वयोक्तं । तच्चाज्ञानादेवेत्याह—धर्म्यादिति । युद्धमेव
भूमि-जय-द्वारा प्रजा-पालन-गुरुविप्र-संसेवनादि-क्षात्र-धर्म-
निर्वाहीति । एवमाह भगवान् पराशरः । क्षत्रियोहि प्रजा रक्षन्
शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन् । निजित्य पर-सैन्यादि क्षितिं धर्मेण
पालयेदिति ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

सारा०व०—किञ्च, जेतृभ्यः सकाशादपि न्याययुद्धे मृताना-
मधिकं सुखमतो भीष्मादीन् हत्वा तान् प्रत्युत स्वतोऽप्यधिक-
सुखिनः कुर्वित्याह—यदृच्छयेति । स्वर्गसाधनं कर्मयोगम-
कृत्वापीत्यर्थः । अपावृतमपगतावरणम् ॥३०॥

गी०भू०—किञ्चायत्नादागतेऽस्मिन् महति श्रेयसि न युक्तस्ते
कम्प इत्याह यदृच्छयेति । चोऽवधारणे । यत्नं विनैव चोपपन्न-
मीदृशं भीष्मादिभिर्महावीरैः सह युद्धं सुखिनः सभाग्याः क्षत्रिया
लभन्ते, विजये सत्यश्रमेण कीर्तिराज्ययो मृत्यौ सति शीघ्रमेव
स्वर्गस्य च प्राप्तेरित्यर्थः । एतद्व्यञ्जयन् विशिनष्टि—स्वर्गद्वार-
मपावृतमिति । अप्रतिरुद्धस्वर्गसाधनमित्यर्थः । ज्योतिष्टोमादिकं
चिरतरेण स्वर्गोपलम्भकमिति ततोऽस्यातिशयः ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

सारा०व०—विपक्षे दोषानाह—अथेति चतुर्भिः ॥३३॥

गी०भू०—विपक्षे दोषान् दर्शयति अथेत्यादिभिः । स्वस्य
तब धर्म्यं युद्धलक्षणं कीर्तिञ्च रुद्रसन्तोषण-निवात-कबचादि-

वधलब्धां हित्वा पापं न निवर्त्तेत संप्रामादित्यादि—स्मृति-
प्रतिषिद्धं स्वधर्मत्यागलक्षणं प्राप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

सारा०व०—अव्ययामनश्वराम् ; सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठि-
तस्य ॥ ३४ ॥

गी०भू०—न केवलं स्वधर्मस्य कीर्त्तिश्च क्षतिमात्रं । युद्धे
समारब्धेऽर्जुनः पलायत इत्यव्ययां शाश्वतीमकीर्त्तिश्च तव
भूतानि सर्वे लोकाः कथयिष्यन्ति । ननु मरणाद्गीतेन मया
अकीर्त्तिः सोढव्येति चेत्तत्राह—सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठितस्य ।
अतिरिच्यते अधिका भवति । तथाच तादृशाकीर्त्तिर्मरणमेव
वरमिति ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

सारा०व०—येषां त्वं बहुमतोऽस्मच्छत्रुरर्जुनस्तु महाशूर
इति बहुसम्मानविषयो भूत्वा सम्प्रति युद्धादुपरमे सति लाघवं
यास्यसि, ते दुर्योधनादयो महारथास्त्वां भयादेव रणादुपरतं
मंस्यन्त इत्यन्वयः । क्षत्रियाणां हि मयं विना युद्धोपरतिहेतु-
र्वन्धुस्नेहादिको नोपपद्यत इति मत्वेति भावः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—ननु कुलक्षयदोषात् कारुण्याच्च विनिवृत्तास्य मम
कथमकीर्त्तिः स्यादिति चेत्तत्राह भयादिति । महारथा दुर्यो-
धनादयस्त्वां कर्णादिभयान्नतु बन्धुकारुण्याद्रणादुपरतं मंस्यन्ते ।
न हि शूरस्य शत्रुभयं विनावन्धुस्नेहेन युद्धादुपरतिरित्यर्थः ।
इतः पूर्वं येषां त्वं बहुमतः शूरो वैरीति बहुगुणवत्तया सम्मतो-
ऽभूरिदानीं युद्धे समुपस्थिते कातरोऽयं विनिवृत्ता इत्येवं तत्कृतं
लाघवं दुःसहं यास्यसि ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तरतव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

सारा०व०—अवाच्यवादान्,—क्लीव इत्यादि-कटूक्तीः ॥ ३६ ॥

गी०भू०—किञ्चावाच्चेति—अहिताः शत्रवो धार्तराष्ट्रास्तव
सामर्थ्यं पूर्वसिद्धं पराक्रमं निन्दन्तः बहून्वाच्यवादीन् शण्ड-
तिलादिशब्दान् वदिष्यन्ति । तत एवाम्बिधावाच्यवादश्रवणा-
दतिशयितं किं दुःखमस्ति । इत्थञ्चैतेः षड्भिर्युद्धवैराग्यस्या-
स्वर्गत्वमकीर्त्तिकरत्वं चोक्तं दर्शितम् ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

सारा०व०—ननु युद्धे मम जय एव भावीत्यपि नास्ति
निश्चयः ; ततश्च कथं युद्धे प्रवर्त्तितव्यमित्यत आह—हत इति ॥ ३७ ॥

गी०भू०—ननु युद्धे विजय एव मे स्यादिति निश्चयाभावा-
त्ततोऽहं निवृत्तोऽस्मीति चेत्तत्राह—हतो वेति । पक्षद्वयेऽपि ते
लाभ एवेति भावः ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाययौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सारा०व०—तस्मात्तव सर्वथा युद्धमेव धर्मस्तदपि यदीमं
पापकारणमाशङ्कसे, तर्हि मत्ताः पापानुत्पत्तिप्रकारं शिञ्चित्वा
युध्यस्वेत्याह—सुखदुःखे समे कृत्वा तद्धेतू लाभालाभो राज्यलाभ-
राज्यच्युती अपि, तद्धेतू जयाजयावपि समौ कृत्वा—विवेकेन
तुल्यौ विभाव्येत्यर्थः । ततश्चैवम्भूतसाम्यलक्षणे ज्ञानवतस्तव
पापं नैव भवेत् ; यद्वक्ष्यते—‘लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवा-
म्भसा’ इति ॥ ३८ ॥

गी०भू०--ननु “अथ चेत्त्वम्” इत्यादिपद्यार्थो व्याहृतः, राज्याद्युद्देशेन कृतस्य युद्धस्य गुरुविप्रादिविनाशहेतुत्वेन पापोत्पादकत्वादिति चेन्मुमुक्षुवर्त्मना युद्धमानस्य तव तद्विनाशहेतुकं पापं न स्यादित्याह--सुखेति । साम्यकरणमिह तत्र तत्र निर्विकारत्वं बोध्यम्, सुखे तद्धेतौ लाभे तद्धेतौ जये च रागमकृत्वा दुःखे तद्धेतौ बलाभे तद्धेतौ बजये च द्वेषमकृत्वा तत्र तत्र निर्विकारचित्ताः सन् ततो युद्धाय युज्यस्व ; केवलस्वधर्मधिया योद्धुमुद्युक्तो भवेत्यर्थः । एवं मुमुक्षुरीत्या योद्धा त्वं पापं तद्विनाशहेतुकं नावाप्स्यसि । फलेच्छुः सन् यो युध्यते स तत्पापं विन्दति, विज्ञानार्थी तु पुरातनमनन्तपापमपनुदतीत्यर्थः । ननु फलरागं विना दुष्करे युद्धदानादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेदनन्तात्मानन्दरागं तत्र प्रवर्त्तिकं गृहाण राज्याद्यनुरागमिव भृगुपाते ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

सारा०व०--उपदिष्टं ज्ञानयोगमुपसंहरति--एषेति । सम्यक्ख्यायते प्रकाशयते वस्तुतत्त्वमनेनेति सांख्यं सम्यक्ज्ञानम् ; तस्मिन् करणीया बुद्धिरेषा कथिता । अधुना योगे भक्तियोगे इमां बध्यमाणां बुद्धिं करणीयां शृणु, यया भक्तिविषयिण्या बुद्ध्या युक्तः सहितः ; कर्मबन्धं संसारम् ॥३९॥

गी०भू०--उक्तं ज्ञानयोगमुपसंहरन् तदुपायं निष्कामकर्मयोगं वक्तुमारभते एषेति । सांख्योपनिषत् “सम्यक् ख्यायते निरूप्यते तत्त्वमनया” इति निरुक्तेः तथा प्रतिपाद्यमात्मयाथात्म्यं सांख्यम् । शैविकान् तस्मिन् कर्त्तव्येषां बुद्धिस्तथाभिहिता । “न त्वेवाहम्” इत्यादिना “तस्मात् सर्वाणि भूतानि” इत्यन्तेन । सा चेत्तव चित्तात्तादोषान्नाभ्युदेति तर्हि योगे “तमेतं वेदानुबचनेन ब्राह्मणा

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन” इत्यादि श्रुत्युक्ता-न्तर्गतज्ञाने निष्कामकर्मयोगे कर्त्तव्यामिमां बध्यमाणां बुद्धिं शृणु । फलोक्त्या तां स्तौति--ययेति । कर्म्माणि कुर्वन्नास्त्वं यया बुद्ध्या युक्तः कर्मकृतं बन्धं प्रहास्यसि । आत्मानन्दलिप्सया भगवदाज्ञया महाप्रयासानि कर्म्माणि कुर्वन्तत्तदुद्देशमहिम्ना त्वदन्तरभ्युदितयात्मज्ञाननिष्ठया संसारं तारिष्यसीति । पशुपुत्र-राज्यादिफलकं कर्म सकामं ज्ञानफलकन्तु तन्निष्काममिति शास्त्रेऽस्मिन् परिभाष्यते ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

सारा०व०--अत्र योगो द्विविधः--श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिरूपः, श्री-भगवदर्पितनिष्कामकर्मरूपश्च । तत्र ‘कर्मण्येवाधिकारः’ इत्यतः प्रागभक्तियोग एव निरूप्यते ; ‘निस्त्रैगुण्यो भवाब्जुन’ इत्युक्ते-भक्तेरेव त्रिगुणातीतत्वान् तथैव पुरुषो निस्त्रैगुण्यो भवतीत्येकादशस्कन्धे प्रसिद्धे ; ज्ञानकर्मणोस्तु सात्त्विकत्व-राजसत्वाभ्यां निस्त्रैगुण्यत्वानुपपत्तेर्भगवदर्पितलक्षणा भक्तिस्तु कर्मणो वैफल्यभावाभावात् प्रतिपादयति, न तु स्वस्य भक्तिव्यपदेशं प्राधान्याभावादेव । यदि च भगवदर्पितं कर्म्मापि भक्तिरेवेति मतम्, तदा कर्म किं स्यात् ? यद्भगवदनर्पितं कर्म, तदेव कर्मेति चेन्न ? “नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव-वर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥” इति नारदोक्त्या तस्य वैयर्थ्यप्रतिपादनात् । तस्मादत्र भगवच्चरणमाधुर्यप्राप्तिसाधनीभूता केवलश्रवणकीर्त्तनादिलक्षणैव भक्तिर्निरूप्यते, यथा निष्काम-कर्मयोगोऽपि निरूपयितव्यः । उभावप्येतौ बुद्धियोगशब्दवाच्यौ ज्ञेयौ--‘ददामि बुद्धियोगं तं येन

मामुपयान्ति ते' इति, 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति चोक्तेः । अथ निर्गुणश्रवणकीर्त्तनादि-भक्तियोगस्य माहात्म्यमाह--नेहेति । इह भक्तियोगेऽभिक्रमे आरम्भमात्रे कृतेऽप्यस्य भक्तियोगस्य नाशो नास्ति, ततः प्रत्यबायश्च न स्यात् । यथा कर्मयोगे आरम्भं कृत्वा कर्म्मननुष्ठितवतः कर्म्मनाश-प्रत्यबायौ स्यातामिति भावः । ननु तर्हि तस्य भक्त्यनुष्ठातु-कामस्य समुचितभक्त्यकरणात् भक्तिफलं तु नैव स्यात्, तत्राह--स्वल्पमिति । अस्य धर्म्मस्य स्वल्पमप्यारम्भसमये या किञ्चिन्मात्री भक्तिरभूत्, सापीत्यर्थः, महतो भयात् संसारात् त्रायत एव--"यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्" इत्यादिश्रवणात्, अजामिलादौ तथा दर्शनाच्च । "न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्म्मेस्योद्धवाणवपि । मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥" इति भगवतो वाक्येन सहास्य वाक्यस्यैकार्थमेव दृश्यते । किन्तु तत्र निर्गुणत्वान्न हि गुणातीतं वस्तु कदाचित् ध्वस्तं भवतीति हेतुरुपन्यस्तः, स चेहापि द्रष्टव्यः । न च निष्कामकर्मणांऽपि भगवदर्पणमहिम्ना निर्गुणत्वमेवेति वाच्यम्--"मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्" इति । वाक्येन तस्य सात्त्विकत्वोक्तेः ॥४०॥

गी०भू०--वक्ष्यमाणया बुद्ध्या युक्तं कर्मयोगं स्तौति--नेहेति । इह 'तमेतम' इत्यादि वाक्याक्तेः निष्कामकर्मयोगेऽभिक्रमस्यारम्भस्य फलोत्पादकत्वनाशो नास्ति । आरब्धस्यासमाप्तस्य वैफल्यं न भवतीत्यर्थः । मन्त्राद्यङ्गवैकल्ये च प्रत्यबायो न विद्यते । आत्मोद्देशमहिम्ना "ॐ तत् सत्" इति भगवन्नाम्ना च तस्य विनाशात् । इह भगवदर्पितस्य निष्कामकर्मलक्षणधर्म्मस्य किञ्चिदप्यनुष्ठितं सन् महतो भयात् संसारात् त्रायते अनुष्ठातारं रक्षति । वक्ष्यति च एवं पार्थ "नैवेह नामुत्र" इत्या-

दिना । काम्यकर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठितान्युक्तफलाय कल्पन्ते, मन्त्राद्यङ्गवैकल्ये तु प्रत्यबायं जनयन्तीति । निष्कामकर्मणि तु यथाशक्त्यनुष्ठितानि ज्ञाननिष्ठालक्षणं फलं जनयन्त्येवोक्तहेतुतः प्रत्यबायं नोत्पादयन्तीति ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

सारा०व०--किञ्च, सर्वाभ्योऽपि बुद्धिभ्यो भक्तियोगविषयिण्येव बुद्धिरुत्कृष्टेत्याह--व्यवसायेति । इह भक्तियोगे व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकैव । मम श्रीमद्गुरुरूपदिष्टं भगवत्कीर्त्तनस्मरणचरणपरिचरणादिकमेतदेव मम साधनमेतदेव मम साध्यमेतदेव मम जीवातुः साधन-साध्य-दशयोस्त्यक्तमशक्यमेतदेव मे काम्यमेतदेव मे कार्यमेतदन्यन्न मे कार्यं नाप्यभिलषणीयं स्वप्नेऽपीत्यत्र सुखमस्तु दुःखं वास्तु संसारो नश्यतु वा न नश्यतु, तत्र मम कापि न क्षतिरित्येवं निश्चयात्मिका बुद्धिरैकैतव-भक्तावेव सम्भवेत्, तदुक्तम्--"ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः" इति । ततोऽन्यत्र नैव बुद्धिरेकेत्याह-बहिर्वात-बहवः शाखा यासां ताः । तथा हि कर्मयोगे कामानामानन्त्याद्बुद्धयोऽनन्ताः, तत्साधनानां कर्मणामानन्त्यात् तच्छाखा अप्यनन्ताः । तथैव ज्ञानयोगे प्रथममन्तःकरणशुद्धयर्थं निष्कामकर्मणि बुद्धिस्ततस्तमन् शुद्धे सति कर्मसंन्यासे बुद्धिः, तदा ज्ञाने बुद्धिः ; ज्ञानवैफल्यभावात् भक्तौ बुद्धिः--'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्' इति भगवदुक्तेर्ज्ञानसंन्यासे च भक्तौ बुद्धिरिति बुद्धयोऽनन्ताः । कर्मज्ञानभक्तीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तच्छाखा अप्यनन्ताः ॥४१॥

गी०भू०--काम्य-कर्म-विषयकबुद्धितो निष्कामकर्मविषयक-

बुद्धेर्वैशिष्ट्यमाह व्यवसायेति । हे कुरुनन्दन इह वैदिकेषु सर्वेषु कर्मसु व्यवसायात्मिका भगवदर्चनरूपैर्निष्कामकर्मभिर्विशुद्धचित्तो विषोर्णादिवत् तदन्तर्गतेन ज्ञानेनात्मयाथात्म्यमहमनुभविष्यामीति निश्चयरूपा बुद्धिरेका एकविषयत्वात् । एकस्मै तदनुभवाय तेषां बिहितत्वादिति यावत् । अव्यवसायिनां काम्यकर्मानुष्ठातृणां तु बुद्धयोऽनन्ताः । पशवन्नपुत्रस्वर्गाद्यनन्तकामविषयत्वात् , तत्रापि बहुशाखाः । एकफलकेऽपि दर्शपूर्णमासादावायुः सुप्रजस्ताद्यवान्तरानेकफलाशंसाश्रवणात् । अत्र हि देहातिरिक्तात्मज्ञानमात्ररूपेक्षते न तूक्तात्मयाथात्म्यं तन्निश्चये काम्यकर्मसु प्रवृत्तोरसम्भवात् ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

सारा०व०—तस्मादव्यवसायिनः सकामकर्मिणस्त्वितिमन्दा इत्याह—यामिमामिति । पुष्पितां वाचं पुष्पितां विषलतामिवापाततो रमणीयाम् , प्रवदन्ति प्रकर्षेण सर्वतः प्रकृष्टा इयमेव वेदवागिति ये वदन्ति, तेषां तथा वाचा अपहृतचेतसाञ्च व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते इति तृतीयेनान्वयः । तेषु तस्या असम्भवात् सा तेषु नोपदिश्यत इत्यर्थः । किमिति ते तथा वदन्ति, यतोऽविपश्चितो मूर्खाः । तत्र हेतुः—वेदेषु येऽर्थवादाः—“अक्षय्यं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति”, “अपाम सोमममृता अभूम” इत्याद्याः । अन्यदीश्वरतत्त्वं नास्तीति प्रजल्पितस्ते कीदृशीं वाचं प्रवदन्ति ? जन्मकर्मफलप्रदायिनीं भोगै-

श्वर्यगतिं प्रति ये क्रियाविशेषास्तान् बहु यथा स्यात् तथा लाति ददाति प्रतिपादयतीति ताम् ॥४२-४३॥

गी०भू०—नन्वेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्भवेत् अतेस्तौल्यादिति चेच्चित्तदोषान्नभवेदित्याह यामिति त्रिभिः । अविपश्चितोऽल्पज्ञाः यामिमां ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिकां वाचं प्रवदन्ति इयमेव प्रकृष्टा वेदवागिति कल्पयन्ति । तथा वाचापहृतचेतसां तेषां समाधौ मनसि व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते नाभ्युदेति इत्यनुषङ्गः । कीदृशीं वाचमित्याह—पुष्पितामिति । कुसुमितविषलतावदापातमनोज्ञां निष्फलामित्यर्थः । एवं कुतस्ते वदन्ति तत्राह वेदेति । वेदेषु ये वादाः “अपाम सोमममृता अभूम अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवतीत्या”दयोऽर्थवादास्तेष्वेव रताः वेदस्य सत्यभाषित्वादेवमेवैतदिति प्रतीतिमन्तः । अतएव नान्यदिति कर्मफलान् स्वर्गादन्यत् जीवांशिपरमार्थज्ञानं लभ्यं मोक्षलक्षणं निरतिशयं नित्यसुखं नास्ति । तत्प्रतिपादिकानां वेदान्त-वाचां कर्माङ्गकर्त्तृदेवतावेदकतया तच्छेषत्वादिति बदनशीला इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

गी०भू०—चित्तदोषमाह—कामात्मानः वैषयिकसुखवासनाप्रस्तचित्ताः । एवंचेत् तादृशं मोक्षं कुतो नेच्छन्ति तत्राह स्वर्गेति स्वर्ग एव सुधा—देवाङ्गनाद्युपेतत्वेन परः श्रेष्ठो येषां ते । तादृगवासनाप्रस्तत्वात्तेषां नान्यद्भाषत इत्यर्थः । जन्म कर्मेति—जन्म च देहेन्द्रियसम्बन्धलक्षणं , तत्र कर्म च तत्तादृशाश्रमविहितं , फलञ्च विनाशिपश्चन्नस्वर्गादि । तानि प्रकर्षेणाविच्छेदेन ददाति तां भोगैश्वर्ययोर्गतिं प्राप्तिं प्रति ये क्रियाविशेषा ज्योतिष्टोमादयस्ते बहुलाः प्रचुरा यत्र तां वाचं वदन्तीति पूर्वणान्वयः । भोगः सुधापानदेवाङ्गनादिः, ऐश्वर्यञ्च देवादिस्वामित्वां तयोर्गतिमित्यर्थः ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

सारा०व०—ततश्च भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां तया पुष्पितया वाचापहतमाकृष्टं चेतो येषां ते तथा तेषां समाधिश्चित्तैकाग्र्यं परमेश्वरैकोन्मुखत्वं तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते— “कर्मकर्त्तारि प्रयोगो नोपपद्यते” इति स्वामिचरणाः ॥४४॥

गी०भू०—भोगेति—तेषां पूर्वोक्तयोर्भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वदोषास्फूर्त्या तयोर्भाविनिष्ठानां तथा पुष्पितया वाचापहतं विलुप्तं चेतो विवेकज्ञानं येषां तादृशानां समाधिविति योज्यम् । सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यमिति निरुक्तेः समाधिर्मनस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवान्नुत ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

सारा०व०—त्वं तु चतुर्वर्गसाधनेभ्यो विरज्य केवलं भक्तियोगमेवाश्रयस्वेत्याह—त्रैगुण्येति । त्रैगुण्यास्त्रिगुणात्मिकाः कर्मज्ञानाद्याः प्रकाश्यत्वेन विषया येषां ते त्रैगुण्यविषया वेदाः—स्वार्थे ष्यञ्, एतच्च “भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति” इति न्यायेनोक्तम् । किन्तु “भक्तिरेवैनं नयति” इति, “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ” इत्यादि-श्रुतयः पञ्चरात्रादिस्मृतयश्च गीतोपनिषद्-गोपालतापन्याद्युपनिषदश्च निर्गुणां भक्तिर्मापि विषयीकुर्वन्त्येव—वेदोक्तत्वाभावे भक्तेरप्रामाण्यमेव स्यात् । ततश्च वेदोक्ता ये त्रिगुणमया ज्ञानकर्मविधयस्तेभ्य एव निर्गतो भवतान् न कुरु । ये तु वेदोक्ता भक्तिविधयस्तांस्तु सर्व्वथैवानुतिष्ठ । तदनुष्ठाने “श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना । ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्प्यते ॥” इति दोषो दुर्व्वार एव । तेन स-

गुणानां गुणातीतानामपि; वेदानां विषयास्त्रैगुण्या निस्त्रैगुण्याश्च । तत्र त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव । निर्गुण्या मदभक्त्यैव त्रिगुणात्मकेभ्यस्तेभ्यो निष्क्रान्तो भव; तत एव निर्द्वन्द्वो गुणमय-मानापमानादिरहितः, अतएव नित्यैः सत्त्वैः प्राणिभिर्मदभक्तेरेव सह तिष्ठतीति तथा सः, नित्यं सत्त्वगुणस्थो भवेति व्याख्यायां निस्त्रैगुण्यो भवेति व्याख्यायां विरोधः स्यात् । अलब्धलाभो योगः, लब्धस्य रक्षणं क्षेमस्तद्विरहितः । मद्भक्तिरसास्वादवशादेव तयोरननुसन्धानात्, ‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’ इति भक्तवत्सलेन मयैव तद्धारवहनात् । आत्मवान् मदत्ताबुद्धियुक्तः । अत्र निस्त्रैगुण्य-त्रैगुण्ययोर्विवेचनम् ; यदुक्तमेकादशे—“मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् । राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥” निष्फलं वेति नैमित्तिकं निजकर्मफलाकाङ्क्षारहितमित्यर्थः । “कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥ ब्रह्मन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते । तामसं द्युतसदनं मन्त्रिकेतन्तु निर्गुणम् ॥ सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धा राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥ सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा ॥ पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् । राजसं चेन्द्रिय-प्रेष्ठं तामसं चार्त्तिदाशुचि ॥” “च-कारान्मन्त्रिवेदितन्तु निर्गुणम्” इति श्रीस्वामिचरणानां व्याख्यानम् । “सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम् । तामसं मोह-दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥” इत्यन्तेन ग्रन्थेन त्रैगुण्यवस्तून्यपि प्रदर्श्य निर्गुणस्य सम्यङ् निस्त्रैगुण्यतासिद्धयर्थं निर्गुण्यैव भक्त्या स्वस्मिन् कथञ्चित् स्थितस्य त्रैगुण्यस्य निर्जयोऽप्युक्तस्तदनन्तरमेव ; यथा—“द्रव्यं देशस्तथा कालो ज्ञानं कर्म च

कारकः । श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥ सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः । दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥ एताः संसृतयः पुंसो गुणकम्भनिबन्धनाः । येनेमे निज्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः । भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥” इति । तस्माद्भक्त्यैव निर्गुणया त्रैगुण्य-जयो नान्यथा । अत्राप्यग्रे ‘कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते’ इति प्रश्ने वक्ष्यते—“माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥” इति । श्रीस्वामि-चरणानां व्याख्या च—“च—कारोऽत्रावधारणार्थः; मामेव परमेश्वरमव्यभिचारेण भक्तियोगेन यः सेवते” इत्येषा ॥४५॥

गी०भू०—ननु फलनैरपेक्ष्येण कर्माणि कुर्वन्नापि तानि स्वफलैर्योजयेयुस्तत् स्वाभाव्यात्ततः कथं तद्बुद्धेः सम्भव इति चेत्तत्राह त्रैगुण्येति । त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यम् । “गुणवच-नब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे”ति सूत्रात् प्यञ्-सकामत्वमित्यर्थः । तद्विषया वेदाः कर्मकाण्डानि त्वं तु तच्छिरोभूतवेदान्तनिष्ठो निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव । अयमर्थः — पितृकोटिवत्सलो हि वेदोऽनादिभगवद्विमुखान्मायागुणैर्निबद्धांस्तद्गुणसृष्टिसात्विकादि सुखसक्तान् प्रति तत्कामाननुरुध्य फलानि प्रकाशयन् स्व-स्मिंस्तान् विश्रम्भयति । तद्विश्रम्भेण तत्परिशीलिनस्ते तन्मू-ढा भूतोपनिषत्प्रतीतयाथात्म्यानिश्चयेन तां बुद्धिं यान्तीति न चाकामितान्यपि तान्यापतेयुः कामितानामेव तेषां फलत्व-श्रवणात् । न च सर्वेषां वेदानां त्रैगुण्यविषयत्वं निस्त्रैगुण्य-ताया अप्रामाणिकत्वापत्तेः । ननु शीतोष्णादिनिवारणाय वस्त्रादेः काम्यत्वात् कथं निष्कामत्वं तत्राह निर्द्वन्द्व इति । मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेयेत्यादि विमर्शेन द्वन्द्वसह भव । तत्र हेतु-नित्येति । नित्यं यत् सत्त्वमपरिणामित्वं जीवनिष्ठं तत्

स्थस्तद्विभाव्येत्यर्थः । तत एव निर्योगक्षेमः । अलब्धलाभो योगः लब्धस्य परिरक्षणं क्षेमं तद्रहितो भवेत्यर्थः । ननु क्षुत् पिपासे तथापि बाधिके इति चेत्तत्राह आत्मवानिति । आत्मा विश्वम्भरः परमात्मा स यस्य ध्येयतयास्ति तादृशो भवेत्यर्थः, स ते देहयात्रां सम्पादयेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

सारा०व०—दन्त, किं वक्तव्यं निष्कामस्य निर्गुणस्य भक्ति-योगस्य माहात्म्यं यस्यैवारम्भणमात्रेऽपि नाशप्रत्यबायौ न स्तः । स्वल्पमात्रेणापि कृतार्थतेत्येकादशेऽप्युद्धवायापि वक्ष्यते—“न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्गर्भस्योद्धवाण्यपि । मया व्यवसितः सम्य-ङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥” इति । किन्तु सकामो भक्तियोगोऽपि व्यवसायात्मिक-बुद्धि-शब्देनोच्यते इति दृष्टान्तेन साधयति—यावानिति । उदपान इति जात्यैकवचनम्—उदपानेषु कूपेषु; यावानर्थ इति कश्चित् कूपः शौचकर्मार्थकः, कश्चित् दन्तधा-वनार्थकः, कश्चिद्वस्त्रधावनार्थकः, कश्चित् केशादिमार्जनार्थकः, कश्चित् स्नानार्थकः, कश्चित् पानार्थक इत्येवं सर्वतः सर्वेषु उदपानेषु यावानर्थो यावन्ति प्रयोजनानीत्यर्थः । संप्लुतोदके महाजलाशये सरोवरेऽपि तावानेवार्थः—तस्मिन् एकस्मिन्नेव शौचादिकर्म-सिद्धेः । किञ्च, तत्तत्कूपेषु पृथक् पृथक् परिभ्रमणश्रमेण, सरो-वरे तु तं विनैव; तथा कूपेषु विरस-जलेन, सरोवरे तु सुरस-जलेनैवेत्यपि विशेषो द्रष्टव्यः । एवं सर्वेषु वेदेषु तत्तदेवता-राधनेन यावन्तोऽर्थास्तावन्त एकस्य भगवदाराधनेन विजानतो विज्ञस्य ब्राह्मणस्येति ब्रह्म वेदं वेत्तीति ब्रह्मणस्तस्य विजानतो वेदज्ञत्वेऽपि वेदतात्पर्यं भक्ति विशेषतो जानतः; यथा द्वितीय-

स्कन्धे—“ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम् । इन्द्रमिन्द्रिय-
कामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥ देवीं मायान्तु श्रीकामः” इत्या-
द्युक्त्या “अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण
भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥” इति मेघाद्यमिश्रस्य सौरकिर-
णस्य तीव्रत्वमिव भक्तियोगस्य ज्ञानकर्म्ममिश्रत्वं तीव्रत्वं
ज्ञेयम् । अत्र बहुभ्यो बहुकामसिद्धिरिति सर्वथा बहुबुद्धित्व-
मेव । एकस्माद्भगवत एव सर्वकामसिद्धिरित्यंशेनैकबुद्धित्वादेक
बुद्धित्वमेव विषयसाद्गुण्याज्ज्ञेयम् ॥४६॥

गी०भू०—ननु सर्वान् वेदानधीयानस्य बहुकालव्ययाद्बहु-
विक्षेपसम्भवाच्च कथं तद्बुद्धेरभ्युदयस्तत्राह—यावानिति ।
सर्वतः संप्लुतोदकेति । विस्तीर्णे उदपाने जलाशये स्नानाद्यधि-
नो यावान् स्नानपानादिरर्थः प्रयोजनं तावानेव स तेन तस्मात्
संपद्यते । एवं सर्वेषु सोपनिषत्सु वेदेषु ब्राह्मणस्य वेदाध्यायिनो
विजानत आत्मयाथात्म्यज्ञानं लब्धुकामस्य यावान् तज्ज्ञान-
सिद्धिलक्षणोऽर्थः स्यात्तावानेव तेन तेभ्यः संपाद्यते इत्यर्थः ।
तथाच स्वशास्त्रयैव सोपनिषदाचिरेणैव तत् सिद्धौ तद्बुद्धिरभ्यु-
दियादेवेति । इह दार्ष्टान्तिकेऽपि यावांस्तावानिति पदद्वयमनुषञ्ज-
नीयम् ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

सारा०व०—एवमेकमेवाऽर्जुनं स्वप्रियस्त्वं लक्ष्यीकृत्य ज्ञान-
भक्तिकर्म्मयोगानाचिख्यासुर्भगवान् ज्ञानभक्तियोगौ प्रोच्य तयो-
रर्जुनस्यानधिकारः विमृष्य निष्कामकर्म्मयोगमाह—कर्मणीति ।
मा फलेष्विति—फलाकाङ्क्षिणोऽप्यत्यन्ताशुद्धचित्ता भवन्ति ;
त्वन्तु प्रायः शुद्धचित्ता इति मया ज्ञात्वैवोच्यस इति भावः ।

ननु कर्मणि कृते फलमवश्यं भविष्यत्येवेति ? तत्राह—मा कर्म-
फलहेतुर्भूः फलकामनया हि कर्म कूर्चं फलस्य हेतुरुत्पादको
भवति ; त्वन्तु तादृशो मा भूरित्याशीर्मया दीयत इत्यर्थः । अक-
र्मणि स्वधर्माकरणे विकर्मणि पापे वा सङ्गस्तव मास्तु, किन्तु
द्वेष एवास्त्विति पुनरप्याशीर्दीयत इति । अत्राप्रिमाध्याये—
“व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे” इत्यर्जुनोक्ति-
दर्शनादत्राध्याये पूर्वोत्तरवाक्यानामनतारिकाभिर्नातीव सङ्गति-
विधित्सितेति ज्ञेयम् । किन्तु त्वदाज्ञायां सारथ्यादौ यथाहं
तिष्ठामि, तथा त्वमपि मदाज्ञायां तिष्ठेति कृष्णाऽर्जुनयोर्मनो-
ऽनुलापोऽयमत्र द्रष्टव्यः ॥४७॥

गी०भू०—ननु कर्मभिर्ज्ञान-सिद्धिरिष्यते चेत्तर्हि तस्य
शमादीन्येवान्तरङ्गत्वादनुष्ठेयानि सन्तु किं बहु प्रयासैस्तैरिति
चेत्तत्राह—कर्मण्येवेति ; जातावेकवचनम् । ते तव स्वधर्मेऽपि
युद्धेऽधर्मवृद्धेरशुद्धचित्तास्य तावत् कर्मन्वेव युद्धादिष्वधिकारो-
ऽस्तु मयैतानि कर्तव्यानीति तत् फलेषु बन्धकेषु तवाधिकारो
मास्तु मयैतानि भोक्तव्यानीति । ननु फलेच्छाविरहेऽपि तानि
स्वफलैर्योजयेयुरिति चेत्तत्राह मा कर्मणि । कर्मफलानां हेतुरुत्पा-
दकत्वं माभूः कामनया कृतानि तानि स्वफलैर्योजयन्ति कामिता-
नामेव फलानां नियोज्यविशेषणत्वेन फलत्वाग्नातात् । अतएव
बन्धकानि फलानि आपतिष्यन्तीति भयादकर्मणि कर्म्माकरणे
तव सङ्गः प्रीतिर्मास्तु किन्तु बिद्वेष एवास्त्वित्यर्थः । निष्काम-
तयानुष्ठितानि कर्म्माणि यष्टिवान्यवदन्तरेव ज्ञाननिष्ठां निष्पाद-
यिष्यन्ति—शमादीनि तु तत्पृष्ठलग्नान्येव स्युरिति भावः ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

सारा०व०—निष्कामकर्मणः प्रकारं शिक्षयति—योगस्थ इति । तेन जयाजययोस्तुल्यबुद्धिः सन् संप्राममेव स्वधर्मकुर्विति भावः । अयं निष्कामकर्मयोग एव ज्ञानयोगत्वेन परिणमतीति । ज्ञानयोगोऽप्येवं पूर्वोक्तप्रन्थार्थतात्पर्यतो ज्ञेयः ॥४८॥

गी०भू०—पूर्वोक्तं विशदयति—योगस्थ इति । त्वं सङ्गं फलाभिलाषं कर्त्तृत्वाभिनिवेशं च त्यक्त्वा योगस्थः सन् कर्माणि कुरु युद्धादीनि । आद्येन मायानिमज्जनमेव ; द्वितीयेन तु स्वातन्त्र्यलक्षणपरेशधर्मचौर्यं, तेन तन्माया-व्याकोपः—अतस्तयोः परित्याग इति भावः । योगस्थपदं विवृणोति—सिद्धयसिद्धयोरिति । तदनुषङ्गफलानां जयादीनां सिद्धावसिद्धौ च समो भूत्वा रागद्वेषराहितः सन् कुरु । इदमेव समत्वं मया योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोक्तं, चित्तसमाधानरूपत्वात् ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

सारा०व०—सकामकर्म निन्दति—दूरेणेति । अवरमतिनिकृष्टं काम्यं कर्म ; बुद्धियोगात् परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्मयोगात् । बुद्धौ निष्कामकर्मण्येव, बुद्धियोगो निष्कामकर्मयोगः ॥४९॥

गी०भू०—अथ काम्यकर्मणो निकृष्टत्वमाह—दूरेणेति । बुद्धियोगादवरं कर्म दूरेण, हे धनञ्जय, आत्मयाथात्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगात् दूरेणातिविप्रकर्षणावरगत्यपकृष्टं जन्ममरणाद्यनर्थनिमित्तं काम्यं कर्म इत्यर्थः । हि यस्मादेवमतस्त्वं बुद्धौ तद्याथात्म्यज्ञाने निमित्ते शरणमाश्रयं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ कुरु । ये तु फलहेतवः फलकामा अवरकर्मकारिणस्ते कृपणास्तत्फलजन्मकर्मादिप्रबाहपरबशा दीना इत्यर्थः । तथा च

त्वं कृपणो माभूरिति इह कृपणाः खलु कष्टोपार्जितवित्तादृष्टसुखलबलुब्धा वित्तानि दातुमसमर्था महता दानसुखेन बञ्चितास्तथा कष्टानुष्ठितकर्माणस्तुच्छतत्फललुब्धा महतात्मसुखेन बञ्चिता भवन्तीति व्यज्यते ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

सारा०व०—योगायोक्तलक्षणाय युज्यस्व घटस्व ; यतः कर्मसु सकाम-निष्कामेषु मध्ये योग एवोदासनित्वेन कर्मकरणमेव । कौशलं नैपुण्यमित्यर्थः ॥५०॥

गी०भू०—उक्तस्य बुद्धियोगस्य प्रभावमाह—बुद्धीति । इह कर्मसु यो बुद्धियुक्तः प्रधानफलत्यागविषयानुषङ्गफलमिद्वयसिद्धिसमत्वविषयया च बुद्ध्या युक्तस्तानि करोति, स उभे अनादिकालसञ्चिते ज्ञानप्रतिबन्धके सुकृतदुष्कृते जहाति विनाशयतीत्यर्थः । तस्मादुक्ताय बुद्धियोगाय युज्यस्व त्वं घटस्व । यस्मात् कर्मयोगस्तादृशबुद्धिसम्बन्धः । कौशलं चातुर्यम्—बन्धकानामेव बुद्धिसम्पर्काद्विशोधित-विषयारदन्यायेन मोचकत्वेन परिणामात् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

गी०भू०—कर्मजमिति । बुद्धियुक्तास्तादृशबुद्धिमन्तः कर्मजं फलं त्यक्त्वा कर्माण्यनुतिष्ठन्तो मनीषिणः कर्मान्तर्गतात्मयाथात्म्यप्रज्ञावन्तो भूत्वा जन्मबन्धेन विनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं क्लेशशून्यं पदं वैकुण्ठं गच्छन्तीति । तस्मात्त्वमपि श्रेयो जिज्ञासुरेवं विधानि कर्माणि कुर्विति भावः । स्वात्मज्ञानस्य परमात्मज्ञानहेतुत्वात् तस्यापि तत्पदगतिहेतुत्वं युक्तम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

सारा०व०—एवं परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्मभ्यासात् तव योगो भविष्यतीत्याह—यदेति । तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं मोहरूपं गहनं विशेषतोऽतिशयेन तरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रोतव्येष्वर्थेषु श्रुतस्य श्रुतेऽप्यर्थेषु निर्वेदं प्राप्स्यसि असम्भावना-विपरीतभावनयोर्नष्टत्वात् किं मे शास्त्रोपदेशवाक्यश्रवणेन ? साम्प्रतं मे माधनेष्वेव प्रतिक्षणमभ्यासः सर्वथोचित इति मंस्यस इति भावः ॥५२॥

गी०भू०—ननु निष्कामाणि कर्माणि कुर्वतो मे कदात्म-विषया मनीषाभ्युदयादिति चेत् तत्राह—यदेति । यदा ते बुद्धि-रन्तःकरणं मोहकलिलं तुच्छफलाभिलाषहेतुमज्ञानगहनं व्यति-तरिष्यति परित्यक्ततीत्यर्थः, तदा पूर्वं श्रुतस्यानन्तरं श्रोत-व्यस्य च तस्य तुच्छफलस्य सम्बन्धिनं निर्वेदं गन्तासि गमि-ष्यसि “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्” इति श्रवणात् । निर्वेदेन फलेन तद्विषयां तां परिचेष्यति इति नास्त्यत्र कालनियम इत्यर्थः ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

सारा०व०—ततश्च श्रुतिषु नाना-लौकिक-वैदिकार्थश्रवणेषु विप्रतिपन्नाऽसम्प्रता विरक्तेति यावत् । तत्र हेतुः—निश्चला तेषु तेष्वर्थेषु चलितुं विमुखीभूतेत्यर्थः । किन्तु समाधौ पष्ठेऽध्याये बद्धभाण-लक्षणेऽचला स्थैर्यवती ; तदा योगमपरोक्षानुभव-प्राप्त्या, जीबन्मुक्त इत्यर्थः ॥५३॥

गी०भू०—ननु कर्मफलनिर्विण्णतया कर्मानुष्ठानेन लब्ध-द्विषुद्धेरभ्युदितात्मज्ञानस्य मे कदात्मसाक्षात्कृतिरिति चेत्त-त्राह—श्रुतीति । श्रुत्या कर्मणां ज्ञानगर्भतां प्रबोधयन्त्या “तमे-तम्” इत्यादिकया विप्रतिपन्ना विशेषेण संसिद्धा ते बुद्धिरचला असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यां विरहिता यदा समाधौ मनसि निर्वीतदीपशिखेव निश्चला स्थास्यति, तदा योगमात्मानुभव-लक्षणमवाप्स्यसि । अयमर्थः—फलाभिलाषशून्यतयानुष्ठितानि कर्माणि स्थितप्रज्ञतारूपां ज्ञाननिष्ठां साधयन्ति, ज्ञानानिष्ठारूपा स्थितप्रज्ञता त्वात्मानुभवमिति ॥५३॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

सारा०व०—समाधावचला बुद्धिरिति श्रुत्वा तत्त्वतो योगिनो लक्षणं पृच्छति—स्थितप्रज्ञस्येति ; स्थिता स्थिराऽचला प्रज्ञा बुद्धिर्यस्येति । का भाषा ?—भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणं किं लक्षणमित्यर्थः । कीदृशस्य समाधिस्थस्येति समाधौ स्थास्य-तीति । अस्यार्थः—एवञ्च स्थितप्रज्ञ इति, समाधिस्थ इति जीब-न्मुक्तस्य संज्ञाद्वयम् । किं प्रभाषेतेति सुखदुःखयोर्मानापमानयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वेषयोर्बा समुपास्थितयोः किं प्रभाषेत ?—स्पष्टं स्वगतं वा किं वदेदित्यर्थः । किमासीत ?—तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनाभावः कीदृशः ? ब्रजेत किम्—तेषु चलनं वा कीदृशमिति ॥५४॥

गी०भू०—एवमुक्तोऽर्जुनः पूर्वपद्योक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं ज्ञातुं पृच्छति—स्थितेति । स्थितप्रज्ञेऽत्र चत्वारः प्रश्नाः—समाधिस्थे एकः, व्युत्थिते तु त्रयः । तथा हि स्थिता स्थिरा प्रज्ञा

धीर्यस्य तस्य समाधिस्थस्य का भाषा किं लक्षणम् ? भाष्यते-
ऽनयेतिव्युत्पत्तेः, केन लक्षणेन स्थितप्रज्ञोऽभिधीयत इत्यर्थः ।
तथा व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः कथं भाषणादीनि कुर्यात् ?—तदी-
यानि तानि पृथग्जनबिलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः । तत्र किं प्रभा-
षेत ? स्वयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वेषयोश्च प्राप्तयोर्मुखतः स्वगतं
वा किं ब्रूयात् ? किमासीत् बाह्यविषयेषु कथमिन्द्रियाणां निग्रहं
कुर्यात् ? ज्ञेयं किम् ? किं तन्निग्राहाभावे च कथं विषयानवा-
प्नुयादित्यर्थः । त्रिषु सम्भावनायां लिङ् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच--

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

साराव०--चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरमाह--प्रजहातीति
यावदध्यायसमाप्तिः । सर्वानिति कस्मिन्नप्यर्थे यस्य किञ्चिन्मा-
त्रोऽपि नाभिलाष इत्यर्थः । मनोगतानिति कामानामनात्म-धर्म-
त्वेन परित्यागो योग्यता दर्शिता । यदि ते ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा
तांस्त्यक्तुमशक्येरन् बह्वेरोऽप्यवदिति भावः । तत्र हेतुः--आत्मनि
प्रत्याहृते मनसि प्राप्तो य आत्मानन्दरूपस्तेन तुष्टः । तथा च
श्रुतिः--“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥” इति ॥ ५५ ॥

गी०भू०--एवं पृष्ठो भगवान् क्रमेण चतुर्णामुत्तरमाह यावद-
ध्यायपूर्तिः । तत्र प्रथमस्याह प्रजहातीत्येकेन । हे पार्थ यदा
मनोगतान् मनसि स्थितान् कामान् सर्वान् प्रजहाति संत्यजति
तदा स्थितप्रज्ञ उच्यते । कामानां मनोधर्मत्वात् परित्यागो युक्तः,
आत्मधर्मत्वे दुःशक्यः स स्याद्वन्द्युष्णतादीनामिवेति भावः ।
ननु शुष्ककाष्ठवत् कथं तिष्ठतीति चेत्तत्राह--आमन्येवेति ।

आत्मनि प्रत्याहृते मनसि भासमानेन स्वाप्रकाशानन्दरूपेणात्मना
स्वरूपेण तुष्टः परितृप्तः क्षुद्रविषयाभिलाषान् संत्यज्यात्मानन्द-
रामः समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । “आत्मा पुंसि स्वाभावे-
ऽपि प्रयत्नमनसोरपि । धृतावपि मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपि”ति
मेदिनीकारः । ब्रह्म चात्र जीवेश्वरान्यतरद्ग्राह्यम् ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

साराव०--किं प्रभाषेतेत्यस्य उत्तरमाह--दुःखेषु क्षुत्पि-
पासा-ज्वर-शिरोरोगादिध्वाध्यात्मिकेषु सर्पव्याघ्राद्युत्थितेष्व-
धिभौतिकेष्वतिबातवृष्ट्याद्युत्थितेष्वधिदैविकेषूपस्थितेष्वनुद्विग्न-
मनाः प्रारब्धं दुःखमिदं मयाऽवश्यं भोक्तव्यमिति स्वगतं केनचित्
पृष्टः सन् स्पष्टञ्च ब्रुवन्, न दुःखेष्वनुद्विग्न इत्यर्थः । तस्य तादृश-
मुखविक्रियाभाव एवानुद्वेगलिङ्गं सुधिया गम्यम्, कृत्रिमानुद्वे-
गलिङ्गबांस्तु कपटी--सुधिया परिचितो श्रष्ट एवोच्यत इति
भावः । एवं सुखेष्वप्युपस्थितेषु विगतस्पृह इति प्रारब्धमिद-
मवश्यं भोग्यमिति स्वगतं स्पष्टञ्च ब्रुवाणस्य तस्य सुखस्पृहा-
राहित्यलिङ्गं सुधिया गम्यमेवेति भावः । तत्तल्लिङ्गमेव स्पष्टीकृत्य
दर्शयति--बीतो विगतो रागोऽनुरागः सुखेषु, बीतं भयं स्वभो-
क्तृभ्यो व्याघ्रादिभ्यो बीतः क्रोधः स्वहन्तृषु बन्धुजनेषु यस्य
सः । यथैवादि-भरतस्य देव्याः पार्श्वं प्रापितस्य स्वच्छेदचिकी-
र्षोर्वृषलराजान्न भयम्, नापि तत्र क्रोधोऽभूदिति ॥ ५६ ॥

गी०भू०--अथ व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः किं भाषेतेत्यस्योत्तर-
माह दुःखेष्विति द्वाभ्याम् । त्रिविधेष्वध्यात्मिकादिषु दुःखेषु
समुत्थितेषु सत्सु अनुद्विग्नमनाः प्रारब्धफलान्यमुनि मयावश्यं
भोक्तव्यानीति केनचित् पृष्टः स्वगतं वा ब्रुवन् तेभ्यो नोद्विग्नत

इत्यर्थः । सुखेषु चोत्तमाहारसत्कारादिना समुपस्थितेषु विगत-
स्पृहस्तृष्णाशून्यः प्रारब्धाकृष्टान्यमुनि मयावश्यं भोक्तव्यानीति
केनचित् पृष्ठः स्वगतं वा ब्रुवान् तैरुपस्थितैः प्रहृष्टमुखो न
भवातीत्यर्थः । वीतेति--वीतरागः कमनीयेषु प्रीतिशून्यः,
वीतभयः विषयापहर्तृषु प्राप्तेषु दुर्वलस्य समैतानि धर्म्यै
र्भवद्भिर्हिन्यन्त इति दैन्यशून्यः, वीतक्रोधः तेष्वेव प्रवलस्य
समैतानि तुच्छैर्भवद्भिः कथमपहर्तव्यानीति क्रोधशून्यश्च ।
एवम्विधो मुनिरात्ममननशीलः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । इत्थं स्वानु-
भवं परान् प्रति स्वगतं वा बद्धनुद्वेगो निस्पृहतादिवचः प्रभा-
षते इत्युत्तरम् ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

सारा०व०--अनभिस्नेहः सोपाधिस्नेहशून्यो दयालुत्वान्नि-
रुपाधिरीषन्मात्रस्नेहस्तु तिष्ठेदेव । तत्तत्प्रसिद्धं सम्मान-भोजना-
दिभ्यः स्वपरिचरणं शुभं प्राप्याशुभमनादरणं मुष्टिप्रहारादिकञ्च
प्राप्य क्रमेण नाभिनन्दति, न प्रशंसति--त्वं धार्मिकः परम-
हंस-सेवी सुखी भवेति न ब्रुते, न द्वेष्टि--त्वं पापात्मा नरके
पतेति नाभिशापति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता--समाधिं प्रति स्थिता,
सुस्थितप्रज्ञा उच्यते इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

गी०भू०--य इति सर्वेषु प्राणिषु अनभिस्नेह औपाधिकस्नेहशून्यः ।
कारुणिकत्वान्निरुपाधिरीषत्स्नेहस्त्वस्येव । तत्तात् प्रसिद्धं शुभ-
मुत्तमभोजनस्रक् चन्दनार्पणरूपं प्राप्य नाभिनन्दति तदर्पकं प्रति
धर्मिष्ठस्त्वं चिरञ्जीवेति न वदति । अशुभमपमानं यष्टिप्रहारा-
दिकञ्च प्राप्य न द्वेष्टि, पापिष्ठस्त्वं म्रियरेवेति नाभिशापति । तस्य
प्रज्ञेति--स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । अत्र स्तुति-निन्दा-रूपं बचो न
भाषते इति व्यतिरेकेण तल्लक्षणम् ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

सारा०व०--किमासीतेत्यस्योत्तरमाह--यदेति । इन्द्रिया-
र्थेभ्यः शब्दादिभ्य इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि संहरते । स्वाधीना-
नामिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनं निषिध्यान्तरेव निश्चलतया
स्थापनं स्थितप्रज्ञस्यासनमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः--कूर्मोऽङ्गानि
मुखनेत्रादीनि यथा स्वान्तरेव स्वेच्छया रथापयति ॥ ५८ ॥

गी०भू०--अथ किमासीतेत्यस्योत्तरं यदेत्यादिभिः षड्भि-
राह । अयं योगी यदा चेन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः स्वाधीनानी-
न्द्रियाणि श्रोत्रादीन्यनायासेन संहरति समाकर्षति तदा तस्य प्रज्ञा
प्रतिष्ठितेत्यन्वयः । अत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीवेति । मुखकरचरणा-
नि यथानायासेन कमठः संहरति तद्वन् विषयेभ्यः समाकृष्टे-
न्द्रियानामन्तःस्थापनं स्थितप्रज्ञस्यासनम् ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवज्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

सारा०व०--ननु मूढस्याप्युपवासतो रोगादि-बशाद्वेन्द्रियाणां
विषयेष्वचलनं सम्भवेत्तत्राह--विषया इति । रसवज्जं रसो
रागोऽभिलाषस्तं वर्जयित्वा--अभिलाषस्तु विषयेषु न निवर्तते
इत्यर्थः । अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु परं परमात्मानं दृष्ट्वा विषयेष्व-
भिलाषो निवर्तते इति न लक्षणव्याभिचारः । आत्मसाक्षात्कार-
समर्थस्य तु साधकत्वमेव, न तु सिद्धत्वमिति भावः ॥ ५९ ॥

गी०भू०--ननु मूढस्याप्यग्रस्तस्य विषयेष्विन्द्रियाप्रवृत्तिदृष्ट्वा
तत् कथमेतत् स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं तत्राह विषया इति ।
निराहारस्य रोगभयाद्भोजनादीन्यकुर्वतो मूढस्यापि देहिनो जनस्य
विषयारतदनुभवा विनिवर्तन्ते । किन्तु रसो रागस्तृष्णा तद्वज्जं

विषयतृष्णा तु न निवर्त्तत इत्यर्थः । अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु रसोऽपि विषयरसोऽपि विषयेभ्यः परं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं दृष्ट्वानुभूय निवर्त्तते विनश्यतीति सराग-विषय-निवृत्तिस्तस्य लक्षणमिति न व्यभिचारः ॥ ५६ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

सारा०व०--साधकावस्थायान्तु यत्न एव महान्, न त्विन्द्रियाणि परावर्त्तयितुं सर्व्वथा शक्तिरित्याह--यतत इति । प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि क्षोभकराणीत्यर्थः ॥ ६० ॥

गी०भू०--अथास्या ज्ञाननिष्ठया दौर्लभ्यमाह यतत इति । विपश्चितो विषयात्मस्वरूपविवेकज्ञस्य तत इन्द्रियजये प्रयतमानस्यापि पुरुषस्य इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कर्तृणि मनः प्रसभं बलादिव हरन्ति । हृत्वा विषय-प्रवणं कुर्व्वन्तीत्यर्थः । ननु विरोधिनि विवेकज्ञाने स्थिते कथं हरन्ति तत्राह प्रमाथीनीति-अति वलिष्ठत्वाच्चाज्ञानोपमर्दनक्षमाणीत्यर्थः । तस्मात् चौरैभ्यो महानिधेरिवेन्द्रियेभ्यो ज्ञाननिष्ठायाः संरक्षणं स्थितप्रज्ञस्यासनमिति ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

सारा०व०--मत्परो मद्भक्त इति, मद्भक्तिं विना नैवेन्द्रियजय इत्यग्रिमग्रन्थेऽपि सर्व्वत्र द्रष्टव्यम्, यदुक्तमुद्धवेन--“प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः । बिषीदन्त्यसमाधानान्मनो-निग्रहकर्षिताः ॥ अथात आनन्ददुष्टं पदाम्बुजं, हंसाः श्रयेरन्” इति । वशे हीति स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियाणि वशीभूतानि भवन्तीति साधकाद्विशेष उक्तः ॥ ६१ ॥

गी०भू०--ननु निजितेन्द्रियाणामप्यात्मानुभवो न प्रतीत-स्तत्र कोऽभ्युपाय इति चेत्तत्राह । तानि सर्वाणि संयम्य मत्परो मन्निष्ठः सन् युक्तः कृतात्मसमाधिरासीत तिष्ठेत । मद्भक्तिप्रभावेन सर्व्वेन्द्रियविजयपूर्विका स्वात्मदृष्टिः सुलभेति भावः । एवं स्मरन्ति । “यथाच्चिर्घमानूद्धं शिखः कक्षं दहति सानिलः । तथा चित्स्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषमि”त्यादि । वशे हीति स्पष्टम् । इत्थं च वशीकृतेन्द्रियतयावस्थितिः किमासीतेत्यस्योत्तरमुक्तम् ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृमिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्याति ॥ ६३ ॥

सारा०व०--स्थितप्रज्ञस्य मनोवशीकार एव बाह्येन्द्रिय-वशीकार-कारणं सर्व्वथा मनोवशीकाराभावे तु यत् स्यात्तात् श्रणित्याह--ध्यायत इति । सङ्ग आसक्तिः, आसक्त्या च तेष्वधिकः कामोऽभिलाषः, कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः ॥ ६२ ॥

सारा०व०--क्रोधात् संमोहः कार्य्याकार्य्य-विवेकाभावः, तस्माच्च शास्त्रोपदिष्टस्वार्थस्य स्मृतिनाशः, तस्माच्च बुद्धेः सद्व्यवसायस्य नाशः, ततः ‘प्रणश्याति’ संसार-कूपे पतति ॥ ६३ ॥

गी०भू०--विजितेन्द्रियस्यापि मय्यनिवेशितमनसः पुनरनर्थो दुर्व्वार इत्याह--ध्यायत इति द्वाभ्याम् । विषयान् शब्दादीन् सुखहेतुत्त्वबुद्ध्या ध्यायतः पुनः पुनश्चिन्तयतो योगिनस्तेषु सङ्ग आसक्तिर्भवति । सङ्गाद्धेतोस्तेषु कामतृष्णा जायते । कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः चित्ताज्वालस्तत्प्रतिघातको भवति ॥ ६४ ॥

गी०भू०—क्रोधात् सम्मोहः कार्यकार्यविवेकविज्ञानविलो-
पः, सम्मोहात् स्मृतेरिन्द्रियविजयादिप्रयत्नानुसन्धेर्विभ्रमो
विभ्रंशः, स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धेरात्मज्ञानार्थकस्याध्यवसायस्य
नाशः, बुद्धिनाशान् प्रणश्यति पुनर्विषयभोगनिमग्नो भवति
संसरतीत्यर्थः । मदनाश्रयणाद्बुद्ध्वलं मनस्तानि स्वविषयैर्योज-
यन्तीति भावः । तथा च मनोविजिगीषुणा मदुपासनं विधे-
यम् ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

सारा०व०—मानस-विषयग्रहणाभावे सति स्ववश्यैरिन्द्रियै-
र्विषयग्रहणेऽपि न दोष इति ब्रूवन् स्थितप्रज्ञो ब्रजेत किमित्य-
स्योत्तरमाह—रागेति । विधेयो बचनेस्थित आत्मा मनो यस्य
सः । “विधेयो विनयग्राही बचनेस्थित आश्रयः । वश्यः प्रणयो
निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः ॥” इत्यमरः । प्रसादमधिगच्छतीत्ये-
तादृशस्याधिकारिणो विषयग्रहणमपि न दोष इति किं वक्तव्यम् ?
प्रत्युक्तं गुण एवेति । स्थितप्रज्ञस्य विषयत्याग-स्वीकारावेव आस-
नब्रजने ते उभे अपि तस्य भद्रे इति भावः ॥६४॥

गी०भू०—मनसि निजिते श्रोत्रादिनिर्जयाभावोऽपि न दोष
इति ब्रूवन् ब्रजेत किमित्यस्योत्तरमाह—रागेत्यादिभिरष्टभिः ।
विजितबहिरिन्द्रियोऽपि मदनर्पितमनाः परमार्थाद्विच्युत इत्युक्तम् ।
यो विधेयात्मा स्वाधीनमना मदर्पितमनास्तत एव निदग्धरागा-
दिमनोमलः स त्वात्मवश्यैर्मनोऽधीनैरत एव रागद्वेषाभ्यां
वियुक्तैरिन्द्रियैः श्रोत्राद्यैर्विषयान् निषिद्धान् शब्दादीश्चरन्
भुञ्जानोऽपि प्रसादं विषयासक्त्यादिमलानागमाद्विमलमनस्त-
मधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिररयोपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

सारा०व०—बुद्धिः पर्यवतिष्ठते सर्वतोभावेन स्वाभीष्टं
प्रति स्थिराभवतीति विषयग्रहणाभावादिपि समुचितविषयग्रहणं
तस्य सुखमिति भावः । प्रसन्नचेतस इति चित्ताप्रसादो भक्त्यै-
वेति ज्ञेयम्, तथा विना तु न चित्ताप्रसाद इति प्रथमस्कन्ध एव
प्रपञ्चितम्, कृतवदान्तशास्त्रस्यापि व्यासस्याप्रसन्नचित्तस्य श्री-
नारदोपदिष्ट्या भक्त्यैव चित्ताप्रसाददृष्टेः ॥६५॥

गी०भू०—प्रसादे सति किं स्यादित्याह—अस्य योगिनो मनः
प्रसादे सति सर्वेषां प्रकृतिसंसर्गकृतानां दुःखानां हानिरुपजायते ।
प्रसन्नचेतसः स्वात्मयाथात्म्यविषया बुद्धिः पर्यवतिष्ठते स्थिरा
भवति ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

सारा०व०—उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—नास्तीति ।
अयुक्तस्यावशीकृतमनसो बुद्धिरात्मविषयिणी प्रज्ञा नास्त्ययुक्तस्य
तादृशप्रज्ञा-रहितस्य भावना परमेश्वरध्यानञ्चाभावयतोऽकृतध्या-
नस्य शान्तिर्विषयोपराभो नास्त्यशान्तस्य सुखं आत्मानन्दो न ॥६६॥

गी०भू०—पूर्वोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेनाह—अयुक्तस्यायोगिनो
मदनिवेशितमनसो बुद्धिरुक्तलक्षणा नास्ति न भवति । अत एव
तस्य भावना तादृगात्मचिन्तापि नास्ति । तादृशमात्मानम-
भावयतः शान्तिर्विषयतृष्णानिवृत्तिर्नास्ति । अशान्तस्य तत्
तृष्णाकुलस्य सुखं स्वप्रकाशानन्दात्मानुभवलक्षणं कुतः स्यात् ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तरय प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

सारा०व०--अयुक्तस्य बुद्धिनास्तीत्युपपादयति--इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु चरतां मध्ये यन्मन एकमिन्द्रियमनुविधीयते, पुंसां सर्वेन्द्रियानुबर्तिः क्रियते, तदेव मनोऽस्य प्रज्ञां बुद्धिं हरति, यथाम्भभि नीयमानां नावं प्रतिकूलो बायुः ॥६७॥

सारा०व०--यस्य निगृहीतमनसः, हे महाबाहो ! इति यथा शत्रून् निगृह्णासि, तथा मनोऽपि निगृहाणेति भावः ॥६८॥

गी०भू०--मानवे शितमनस्कतयेन्द्रियनियमनाभावे दोष-
माह--इन्द्रियाणामिति । विषयेषु चरतामविजितानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकं श्रोत्रं वा चक्षुर्वानुलक्ष्यीकृत्य मनो विधीयते प्रवर्त्यते तदेकमेवेन्द्रियं मनसानुगतमस्य प्रवर्त्तकस्य प्रज्ञां विविक्तात्म-
विषयां हरत्यपनयति मनसस्तद्विषयाकृष्टत्वात् । किं पुनः सर्वाणि तानीति । प्रतिकूलो बायुर्यथाम्भसि नीयमानां नावं तद्वत् ॥६७॥

गी०भू०--तस्मादिति । यस्य मन्निष्ठमनसः प्रतिष्ठितात्म-
निष्ठा भवति । हे महाबाहो इति--यथा रिपून्निगृह्णासि तथेन्द्रि-
याणां निगृहाणेत्यर्थः । एभिः श्लोकैर्भगवन्निविष्टतयेन्द्रियविजयः
स्थितप्रज्ञस्य सिद्धस्य स्वाभाविकः । साधकस्य तु साधनभूत
इति बोध्यम् ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सारा०व०--स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतःसिद्ध एव सर्वेन्द्रिय-निग्रह

इत्याह-येति । बुद्धिर्हि द्विविधा भवति-आत्मप्रवणा विषयप्रवणा
च । तत्र या आत्मप्रवणा बुद्धिः, सा सर्वभूतानां निशा, निशायां
किं किं स्यादिति तस्यां स्वपन्तो जना यथा न जानन्ति, तथैवात्म-
प्रवणबुद्धौ प्राप्यमाणं वस्तु सर्वभूतानि न जानन्ति । किन्तु तस्यां
संयमी स्थितप्रज्ञो जागर्ति, न तु स्वपिति ; अत आत्मबुद्धि-
निष्ठमानन्दं साक्षादनुभवति । यस्यां विषयप्रवणायां बुद्धौ भूतानि
जाग्रति, तन्निष्ठं विषयसुखशोकमोहादिकं साक्षादनुभवति, न तु
तत्र स्वपन्ति सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा, तन्निष्ठं किमपि नानु-
भवतीत्यर्थः । किन्तु पश्यतः सांसारिकाणां सुखदुःखप्रदान् विष-
यान् तत्रौदासीन्येनावलोकयतः स्वभोग्यान् यथोचितं निर्लेप-
माददानस्येत्यर्थः ॥६९॥

गी०भू०--साधकावस्थस्य स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियसंयमः प्रयत्न-
साध्य इत्युक्तम् । सिद्धावस्थस्य तु तस्य तन्नियमः स्वाभाविक
इत्याह-यानिशेति । विविक्तात्मनिष्ठा विषयनिष्ठा चेति बुद्धिर्द्विवि-
धा । यात्मनिष्ठा बुद्धिः सर्वभूतानां निशारूपकणोपमात्र व्यज्यते-
रात्रितुल्या तद्वदप्रकाशिका । रात्राविवात्मनिष्ठायां बुद्धौ स्वपन्तो
जनास्तल्लभ्यमात्मानं सर्वे नानुभवन्तीत्यर्थः । संयमी जितेन्द्रि-
यस्तु तस्यां जागर्ति न तु स्वपिति । तथा लभ्यमात्मानमनु-
भवतीत्यर्थः । यस्यां विषयनिष्ठायां बुद्धौ भूतानि जाग्रति विषयभो-
गाननुभवन्ति न तु तत्र स्वपन्ति सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा ।
तस्य विषयभोगाप्रकाशिकेत्यर्थः । कीदृशस्येत्याह पश्यत इति ।
आत्मानं साक्षादनुभवतः प्रारब्धाकृष्टान् विषयानप्यौदासीन्येन
भुञ्जानस्य चेत्यर्थः । नर्त्तकीमूर्द्धघटावधानन्यायेनात्मदृष्टेर्न
तदन्यरसग्रह इति भावः ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

सारा०व०—विषयग्रहणे क्षोभराहित्यमेव निर्लेपतेत्याह—
आपूर्यमाणमिति । यथा वर्षास्वितस्ततो नादेया आपः समुद्रं
प्रविशन्ति, कीदृशम् ? आ—ईषदपि आपूर्यमाणं तावतीभ-
रप्यद्भिः पूरयितुं न शक्यम् । अचलप्रतिष्ठमनातिक्रान्तमर्यादं
तद्वदेव कामा विषया यं प्रविशन्ति भोग्येत्वेनायान्ति । यथा अपां
प्रवेशे अप्रवेशे वा समुद्रो न कमपि विशेषमापद्यते, एवमेव यः
कामानां भोगे अभोगे च क्षोभरहित एव स्यात् स स्थितप्रज्ञः ।
शान्तिं ज्ञानम् ॥७०॥

गी०भू०—उक्तं भावं स्फुटयन्नाह आपूर्येति । स्वरूपेणै-
वापूर्यमाणं तथाप्यचलप्रतिष्ठमनुलङ्घितवेत्तं समुद्रं यथापोऽन्या
वर्षोद्भवाः नद्यः प्रविशन्ति न तु तत्र किञ्चिद्विशेषं शक्नुवान्त
कर्त्तुं, तद्वत् सर्वे कामाः प्रारब्धाकृष्टा विषया यं प्रविशन्ति
न तु विकर्त्तुं प्रभवन्ति स शान्तिमाप्नोति । शब्दादिषु तदिन्द्रिय-
गोचरेष्वपि सत् स्वात्मानन्दानुभवतृप्त्यैर्विकारलेशमप्यविन्दन्
स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यः कामकामी विषयलिप्सुः स तूक्तलक्षणां
शान्तिं नाप्नोति ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्युमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सारा०व०—कश्चित् कामेष्वविश्वसन् नैव तान् भुङ्क्ते
इत्याह—विहायेति । निरहङ्कारो निर्म्मम इति देह-दैहिकेष्वहंता-
ममता-शून्यः ॥७१॥

गी०भू०—विहायेति-प्राप्तानपि कामान् विषयान् सर्वान्

विहाय शरीरोपजीवनमात्रेऽपि निर्म्ममो ममताशून्यः निरहङ्कारो
ऽनात्मनि शरीरे आत्माभिमानशून्यश्चरति तदुपजीवनमात्रं भक्ष-
यति यत्र कापि गच्छति वा स शान्तिं लभते इति ब्रजेत
किमित्यस्योत्तरम् ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

सारा०व०—उपसंहरति—एषेति । ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका, अन्त-
काले मृत्युसमयेऽपि, किं पुनराबाल्यम् ॥७२॥

ज्ञानं कर्म च विस्पष्टमस्पष्टं भक्तिमुक्तवान् ।

अतएवायमध्यायः श्रीगीतासूत्रमुच्यते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

श्रीगीतासु द्वितीयोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०—स्थितप्रज्ञतां स्तौति एषेति-ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका ।
अन्तकाले चरमे वयसि किं पुनराकौमारं ब्रह्म ऋच्छति लभते ।
निर्वाणममृतरूपं तत् प्रदमित्यर्थः । ननु तस्यां स्थितः कथं ब्रह्म
प्राप्नोति, तत्प्राप्तेस्तद्भक्तिहेतुकत्वादिति चेदुच्यते । तस्यास्त-
द्भक्तिहेतुकत्वात्तद्भक्तिहेतुत्वाच्च तत्प्रापकतेति ॥ ७२ ॥

निष्कामकर्मभिर्ज्ञानी हरिमेव स्मरन् भवेत् ।

अन्यथा विघ्न एवेति द्वितीयोऽध्यायनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

—२३४—

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

सार०व०—निष्काममर्पितं कर्म तृतीये तु प्रपञ्च्यते ।

काम-क्रोध-जिगीषायां बिबेकोऽपि प्रदर्श्यते ॥ (१)

सारा०व०—पूर्ववाक्येषु ज्ञानयोगान्निष्कामकर्मयोगाच्च निस्त्रैगुण्यप्रापकस्य गुणातीतभक्तियोगस्योत्कर्षमाकलय्य तत्रैव स्वोत्सुक्यमभिव्यञ्जयन् स्वधर्मे संग्रामे प्रवर्त्तिकं भगवन्तं सख्य-भावेनोपालभते, ज्यायसी श्रेष्ठा बुद्धिर्व्यवसायात्मिका गुणातीता भक्तिरित्यर्थः । घोरे युद्धरूपे कर्मणि किं नियोजयसि प्रवर्त्तयसि ? हे जनार्दन !—जनान् स्वजनान् स्वाज्ञया पीडयसीत्यर्थः । न च तवाज्ञा केनाप्यन्यथा कर्तुं शक्यत इत्याह—हे केशव ! को ब्रह्मा, ईशो महादेवः, तावपि वयसे बशीकरोषि ॥१॥

गी०भू०—तृतीये कर्मनिष्कामं विस्तरेणोपवर्णितम् ।

कामादेर्विजयोपायो दुर्जयस्यापि दर्शितः ॥

गी०भू०—पूर्वत्र कृपालुः पार्थसारथिरज्ञानकर्दमनिमग्नं जगत् स्वात्मज्ञानोपासनोपदेशेन समुद्दिधीषुस्तदङ्गभूतां जीवात्मयाथात्म्यबुद्धिमुपदिश्य तदुपायतया निष्कामकमबुद्धिमुपदिष्टवान् । अयमेवार्थो विनिश्चयाय चतुर्भिरध्यायैर्विधान्तरैर्वर्ण्यते । तत्र कर्म-बुद्धिनिष्पाद्यत्वाज्जीवात्मबुद्धेः श्रेष्ठं स्थितम् । तत्रार्जुनः पृच्छति ज्यायसीति । कर्मणो निष्कामादपि चेत्तत्र तत्साध्यत्वात् जीवात्मबुद्धिर्ज्यायसी श्रेष्ठा मता तर्हि नतु सिद्धये

[३ अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता

(८५

मां घोरे हिंसाद्यनेकायासे कर्मणि किं नियोजयसि तस्माद्-युद्धस्वेत्यादिना कथं प्रेरयसि । आत्मानुभवहेतुभूता खलु सा बुद्धिर्निखिलेन्द्रियव्यापारविरतिसाध्या तदर्थं तत्स्वजातीयाः शमा-दय एव युज्येरन्न तु सर्वेन्द्रियव्यापाररूपाणि तद्विजातीयाणि कर्माणीति भावः । हे जनार्दन श्रेयोऽर्थिजनयाचनीय, हे केशव विधिरुद्रबशकारिन् । “क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवाङ्गसम्भूतौ—तस्मात् केशवनामभागिति” हरिवंशे कृष्णं प्रति रुद्रोक्तेः । दुर्लङ्घ्याज्ञस्त्वं श्रेयोऽर्थिना मयाभ्यर्थितो मम श्रेयो निश्चित्य ब्रूहीति भावः ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

सारा०व०—भो वयस्य अर्जुन ! सत्यं गुणातीता भक्तिः सर्वोत्कृष्टैव, किन्तु सा यादृच्छिक-मदैकान्तिक-महाभक्तकृपैक-लभ्यत्वात् पुरुषोद्यम—साध्या न भवति । अतएव निस्त्रै-गुण्यो भव गुणातीतया मद्भक्त्या त्वं निस्त्रैगुण्यो भूया इत्याशीर्वाद एव दत्तः । स च यदा कलिष्यति, तदा तादृश—यादृच्छिकैकान्तिक—भक्तकृपया प्राप्तमपि लप्स्यसे । साम्प्रतन्तु ‘कर्मण्येबाधिकारस्ते’ इति मयोक्तमेवेति चेत्, सत्यम्, तर्हि कर्मैव निश्चित्य कथं न ब्रूषे ? किमिति सन्देहसिन्धौ मां क्षिपसीत्याह—व्यामिश्रेणेति । विशेषतः आ—सम्यक्तया मिश्रणं नानाविधार्थमिलनं यत्र तेन वाक्येन मे बुद्धि मोहयसि । तथा हि ‘कर्मण्येबाधिकारस्ते’ ‘सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।’ ‘बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥’ इति योग-शब्दवाच्यं ज्ञानमपि ब्रवीषि । ‘यदा ते मोहकलिलम्’ इत्यनेन ज्ञानं केवलमपि ब्रवीषि । किञ्चात्रेव-शब्देन त्वद्वा-

कस्यस्य वस्तुतो नास्ति नानार्थमिश्रितत्वम्, नापि कृपालोस्तव मन्मोहनेच्छा, नापि मम तत्तादर्थानभिज्ञत्वम् किन्तु स्पष्टीकृत्यैव तव कथनमुचितमिति भावः । अयं गूढोऽभिप्रायः--राजसात् कर्मणः सकाशात् सात्त्विकं कर्म श्रेष्ठम्, तस्मादपि ज्ञानं श्रेष्ठम्, तच्च सात्त्विकमेव । निर्गुणभक्तिश्च तस्मादति-श्रेष्ठैव । तत्र सा यदि मयि न सम्भवेदिति ब्रूये, तदा सात्त्विकं ज्ञानमेवैकं मामुपदिश । तत एव दुःखमयात् संसारबन्धनान्मुक्तो भवेयमिति ॥२॥

गी०भू०--व्यामिश्रेणेति--सांख्यबुद्धियोगबुद्ध्योरिन्द्रियनिवृत्तिरूपयोः साध्यसाधकत्वावरोधि यद्वाक्यं तद्व्यामिश्रमुच्यते । तेन मे बुद्धिर्मोहयसीव । वस्तुतस्तु सर्वेश्वरस्य मत्स्वस्य च ते मन्मोहकता नास्त्येव । मद्वुद्धिदोषादेवं प्रत्येक्यहमितीव शब्दार्थः । तत्तास्मादेकमव्यामिश्रं वाक्यं वद । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुर्नास्त्यकृतः कृतेनेति श्रुतिवत् । येनाहमनुष्ठेयं निश्चित्यात्मनः श्रेयः प्राप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच-

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

सारा०व०--अत्रोत्तरम्--यदि मया परस्परनिरपेक्षावेव मोक्षसाधनत्वेन कर्मयोगज्ञानयोगावुक्तौ स्याताम्, तदा तदेकं वद निश्चित्येति त्वत्प्रश्नो घटते । मया तु कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठा-वत्त्वेन यद्द्वैविध्यमुक्तम्, तत् खलु पूर्वोक्तारदशाभेदादेव, न तु वस्तुतो मोक्षं प्रत्यधिकारिद्वैधमित्याह-लोके इति द्वाभ्याम् । द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा नितरां स्थितिर्मर्यादेत्यर्थः । पुरा प्रोक्ता पूर्वा-

ध्याये कथिता । तामेवाह-सांख्यानां सांख्यं ज्ञानं तद्वताम्, तेषां शुद्धान्तःकरणत्वेन ज्ञानभूमिकामाधिरूढानां ज्ञानयोगेन निष्ठा, तेनैव मर्यादा स्थापिता । अत्र लोके ते ज्ञानित्वेनैव ख्यापिता इत्यर्थः--'तानि सर्व्वणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना । तथा शुद्धान्तःकरणत्वाभावेन ज्ञानभूमिकामाधिरोढम-समर्थानां योगिनां तदारोहणार्थमुपायवतां कर्मयोगेन मदर्पित-निष्कामकर्मणा निष्ठा मर्यादा स्थापिता ; ते खलु कर्मित्वेनैव ख्यापितेत्यर्थः--'धर्म्यार्द्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना । तेन 'कर्मिणः' 'ज्ञानिनः' इति नाममात्रेणैव द्वैविध्यम् । वस्तुतस्तु कर्मिण एव कर्मभिः शुद्धचित्ता ज्ञानिनो भवन्ति ; ज्ञानिन एव भक्त्या मुच्यन्ते इति मद्वक्यसमुदा-यार्थ इति भावः ॥३॥

गी०भू०--एवं पृष्ठो भगवानुवाच लोकेऽस्मिन्निति । हे अनघ निर्मलबुद्धे पार्थ ज्यायसी चेदिति कर्मबुद्धिसाङ्ख्यबुद्ध्योर्गुण-प्रधानभावं जानन्नपि तमस्तेजसोरिव विरुद्धयोस्तयोः कथमेकाधिकारित्वमिति शङ्कया प्रेरितः पृच्छसीति भावः । अस्मिन् मुमुक्षुतयाभिमते शुद्धाशुद्धचित्तातया द्विविधे लोके जने द्विविधा निष्ठा स्थितिर्मया सर्व्वेश्वरेण पुरा पूर्वाध्याये प्रोक्ता । निष्ठेत्येकवचनेन एकात्मोद्देश्यत्वादेकैव निष्ठा साध्यसाधनदशाद्वय-भेदेन द्विप्रकारा न तु द्वे निष्ठे इति सूच्यते । एवमेवाप्रे वक्ष्यति-एकं सांख्यं च योगं चेत्यादि । तां निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति ज्ञानेति । सांख्यज्ञानं अहं आद्यच्' । तद्वतां ज्ञानिनां ज्ञानयोगेन निष्ठास्थितिरुक्ता प्रजहति यदा कामानित्यादिना । ज्ञानमेव योगो युज्यते आत्मनानेनेतिव्युत्पत्तोः । योगिनां निष्काम-कर्मवतां कर्मयोगेन निष्ठा स्थितिरुक्ता कर्मण्येवाधिकारस्ते-इत्यादिना । कर्मैव योगो युज्यते ज्ञानगर्भया चित्तशुद्ध्यनेनेति

व्युत्पत्तोः । एतदुक्तं भवति—न खलु मुमुक्षुर्जनस्तदैव शमा-
द्यङ्गिकां ज्ञाननिष्ठां लभते । किन्तु साचारेण कर्मयोगेन चित्ता-
मालिन्यं निधूयैवेत्येतदेव मया प्रागभाणि “एषा तेऽभिहिता
सांख्य” इत्यादिना । ततो न किञ्चिद्व्यामिश्रणमस्ति ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैकर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

सारा०व०—चित्ताशुद्धयभावे ज्ञानानुत्पत्तिमाह—नेति ।
शास्त्रीयकर्मणामनारम्भादननुष्ठानान्नैकर्म्यं ज्ञानं न प्राप्नोति,
न चाशुद्धचित्ताः, संन्यसनाच्छास्त्रीयकर्मत्यागात् ॥४॥

गी०भू०—अतोऽशुद्धचित्तेन चित्तशुद्धेः स्वविहितानि कर्मा-
ण्येवानुष्ठेयानीत्याह न कर्मणामित्यादिभिस्त्रयोदशभिः । कर्मणां
तमेतमिति वाक्येन ज्ञानाङ्गतया विहितानां मनारम्भादननुष्ठा-
नादविशुद्धचित्तः पुरुषो नैकर्म्यं निखिलेन्द्रियव्यापाररूप-
कर्मविरतिं ज्ञाननिष्ठामिति यावत् नाश्नुते न लभते । न च
स तेषां कर्मणां संन्यासात् परित्यागात् सिद्धिं मुक्तिं समधि-
गच्छति ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

सारा०व०—किन्त्वशुद्धचित्तः कृतसंन्यासः शास्त्रीयं कर्म
परित्यज्य व्यवहारिके कर्मणि निमज्जतीत्याह—न हीति । ननु
संन्यास एव तस्य वैदिक-लौकिककर्मप्रवृत्तिविरोधी ? तत्राह—
कार्यत इति । अवशोऽस्वतन्त्रः ॥५॥

गी०भू०—अविशुद्धचित्ताः कृतवैदिककर्मसंन्यासो लौकिके-
ऽपि कर्मणि निमज्जतीत्याह । नहीति । ननु संन्यास एव
तस्य सर्वकर्मविरोधीति चेत्तत्राह कार्यत इति । प्रकृतिजैः

स्वभावोद्भवैर्गुणैः रागद्वेषदिभिः, कार्यते प्रवर्त्यते अवशः
पराधीनः सन् ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

सारा०व०—ननु तादृशोऽपि संन्यासी कश्चित्, कश्चिदि-
न्द्रियव्यापारशून्यो मुद्रिताक्षो दृश्यते ? तत्राह—कर्मेन्द्रियाणि,
बाकपाण्यादीनि निगृह्य यो मनसा ध्यानच्छलेन विषयान् स्मर-
न्नास्ते, स मिथ्याचारो दाम्भिकः ॥६॥

गी०भू०—ननु रागदिव्यापारशून्यो मुद्रितश्रोत्रादिः कश्चित्
कश्चिद् यदि दृश्यते तत्राह कर्मेन्द्रियाणीति । यो यतिः कर्मे-
न्द्रियाणि बागादीनि संयम्य मनसा ध्यानछद्मना इन्द्रियार्थान्
शब्दस्पर्शादीन् स्मरन्नास्ते स विमूढात्मा मूर्खो मिथ्याचारः
कथ्यते । स च निरुद्धरागादेरज्ञस्य निष्कामकर्मानुष्ठानेन मनः-
शुद्धेरनुदयात् श्रोत्राद्यप्रसारेऽप्यशुद्धत्वान्मनसा तद्विषयाणां स्म-
रणाज्ज्ञानायोद्यतस्यापि तस्य ज्ञानालाभात् मिथ्याचारो व्यर्थ-
बागादिनियमक्रियो दाम्भिक इत्यर्थः ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

सारा०व०—एतद्विपरीतः शास्त्रीयकर्मकर्त्ता गृहस्थस्तु श्रेष्ठ
इत्याह—यस्त्विति । कर्मयोगं शास्त्रविहितम् ; असक्तोऽफला-
काङ्क्षी विशिष्यते ; “असम्भावितप्रसादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि
पुरुषाद्विशिष्टः” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः ॥७॥

गी०भू०—एतद्विपरीत्येन स्वविहित-कर्म-कर्त्ता गृहस्थोऽपि
श्रेष्ठ इत्याह यस्त्विति । आत्मानुभवप्रवृत्तेन मनसेन्द्रियाणि

श्रोत्रादीनि नियम्यासक्तः फलाभिलाषशून्यः सन् यः कर्मेन्द्रियैः
कर्मरूपं योगमुपायमारभतेऽनुतिष्ठति स विशिष्यते । सम्भाव्य-
मानज्ञानत्वात् पूर्वतः श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्यदकर्मणः ॥ ८ ॥

सारा० व०—तस्मात्त्वं नियतं नित्यं सन्ध्योपासनादि, अक-
र्मणः कर्मसन्न्यासात्सकाशाज्ज्यायः श्रेष्ठम् । संन्यस्त-सर्व-
कर्मणस्तव शरीर-निर्व्वाहोऽपि न सिध्येत् ॥ ८ ॥

गी० भू०—नियतमिति—तस्मात्त्वमविशुद्धचित्तो नियत-
मावश्यककर्म कुरु चित्ताविशुद्धये निष्कामतया स्वविहितं कर्मा-
चरेत्यर्थः । अकर्मणं औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्म—संन्याससका-
शात् कर्मेव ज्यायः प्रशस्ततरं क्रमसोपानन्यायेन ज्ञानोत्पादक-
त्वात् । औत्सुक्यमात्रेण कर्म त्यजतो मलिनं हृदि ज्ञानाप्रकाशात् ।
किञ्चाकर्मणः संन्यस्तसर्वकर्मणस्तव शरीरयात्रा देहनिर्व्वाहो-
ऽपि न सिध्येत् । यावत् साधनपूर्तिं देह—धारणस्यावश्यक-
त्वात्तदर्थं ज्ञानी भिक्षाटनादिकर्मानुतिष्ठति । तच्च क्षत्रियस्य
तवानुचितम् । तस्मात् स्वाविहितेन युद्धप्रजापालनादिकर्मणा
शुल्कानि वित्तान्युपाज्य तैर्निव्यूढदेहयात्रः स्वात्मानमनुसन्धे-
हीति ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सारा० व०—ननु तर्हि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः,
कर्मणि कृते बन्धः स्यादिति चेन्न ; परमेश्वरापितं कर्म न बन्ध-
कमित्याह—यज्ञार्थादिति । विष्णवर्पितो निष्कामो धर्म एव यज्ञ

उच्यते । तदर्थं यत् कर्म, ततोऽन्यत्रैवायं लोकः कर्मबन्धनः
कर्मणा बध्यमानो भवति । तस्मात् त्वं तदर्थं तादृशधर्म-
सिद्ध्यर्थं कर्म समाचर । ननु विष्णवर्पितोऽपि धर्मः कामना-
मुद्दिश्य कृतश्चेद्बन्धको भवत्येवेत्याह—मुक्तसङ्गः फलाकाङ्क्षा-
रहितः ; एवमेवोद्धवं प्रत्यपि श्रीभगवतोक्तम्—“स्वधर्मस्थो
यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव । न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत्र
समाचरेत् ॥ अस्मिंल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति ॥” इति ॥ ९ ॥

गी० भू०—ननु कर्मणि कृते बन्धो भवेत् । “कर्मणा बध्यते
जन्तुः” इत्यादिस्मरणाच्चेति चेत्तत्राह—यज्ञार्थादिति । यज्ञः परमेश्वरः,
“यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः । तदर्थार्त्तात्तोषफलात् कर्मणोऽन्यत्र
स्वसुखफलककर्मणि क्रियमाणोऽयं लोकः प्राणी कर्मबन्धनः
कर्मणा बध्यते । तस्मात्तदर्थं विष्णुतोषार्थं कर्म समाचर ।
हे कौन्तेय मुक्तसङ्गस्त्यक्तसुखाभिलाषः सन् न्यायोपाजित-
द्रव्यसिद्धेन यज्ञादिना विष्णुमाराध्य तच्छेषेण देहयात्रां कुर्व्वन्न
बध्यस इत्यर्थः ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सारा० व०—तदेवाशुद्धचित्तो निष्कामं कर्मेव कुर्यान्न तु
सन्न्यासमित्युक्तम् । इदानीं यादं च निष्कामोऽपि भवितुं न
शक्नुयात्, तदा सकाममपि धर्मं विष्णवर्पितं कुर्यान्न तु
कर्मत्यागमित्याह—सहेति सप्तभिः । यज्ञेन सहिताः सहयज्ञाः—
‘वोपसर्जनस्य’ इति ‘सह’स्यादेशाभावः । पुरा विष्णवर्पित-
धर्मकारिणीः प्रजाः सृष्ट्वा ब्रह्मोवाच—अनेन धर्मेण प्रसविष्य-
ध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्तरोत्तरमतिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । तासां सका-

मत्त्वमभिलक्ष्याह—एष यज्ञो व इष्टकामधुगभीष्टभोग प्रदोऽ-
स्त्वित्यर्थः ॥१०॥

गी०भू०—अयज्ञशेषेण देहयात्रां कुर्वतो दोषमाह सहेति ।
प्रजापतिः सर्वेश्वरो विष्णुः पति विश्वस्यात्मेश्वरमित्यादि श्रुतेः ।
ब्रह्म प्रजाणां पतिरच्युतोऽसावित्यादि स्मरणाच्च । पुरा आदिसर्गे
सहयज्ञा यज्ञैः सहिता देवमानवादिरूपाः प्रजाः सृष्ट्वा नामरूप-
विभागशून्याः प्रकृतिशक्तिके स्वस्मिन् विलीनाः पुरुषार्थायोग्या-
स्तास्तत्सम्पादकनामरूपभाजो विधाय यज्ञं तन्निरूपकं वेदञ्च
प्रकाशयेत्यर्थः । ताः प्रतीदमुवाच कारुणिकः । अनेन वेदोक्तेन
मदर्पितेन यज्ञेन यूयं प्रसविष्यध्वं । प्रसवो वृद्धिः स्ववृद्धि-
भजध्वमित्यर्थः । एष मदर्पितो यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुक् हृदि-
शुद्ध्यात्मज्ञानदेहयात्रासम्पादनद्वारा वाञ्छितमोक्षप्रदोऽस्तु ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

सारा०व०—कथमिष्टकामप्रदो यज्ञो भवेत्तत्राह—देवानिति ।
अनेन यज्ञेन देवान् भावयत, भावयतः कुरुत,—भावः प्रीति-
स्तद्युक्तान् कुरुत प्रीणयत इत्यर्थः । ते देवा अपि वः
प्रीणयन्तु ॥११॥

गी०भू०—इदञ्च प्रजाः प्रत्युक्तं—अनेन यज्ञेन मदङ्गभूता-
निन्द्रादीन् भावयत—तत्ताद्विवर्दानेन प्रीतान् यूयं कुरुत । ते
देवा वो युष्मास्तत्ताद्वरदानेन भावयन्तु प्रीतान् कुर्वन्तु । इत्थं
शुद्धाहारेण मिथो भावतास्ते यूयं परं मोक्षलक्षणं श्रेयः प्राप्स्यथ-
तत्राहारशुद्धिर्हि ज्ञाननिष्ठाङ्गं, “तत्राहारशुद्धौ सत्ताशुद्धिः सत्त्व-
शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष” इति
श्रुतेः ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्देवानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

सारा०व०—एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—
इष्टानिति । तैर्देवान् वृष्ट्यादिद्वारंणान्नादीनुत्पाद्येत्यर्थः । एभ्यो
देवेभ्यः पञ्चमहायज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते, स तु चौर एव ॥१२॥

गी०भू०—एतदेव विशदयन् कर्मानुष्ठानेन दोषमाह इष्टानिति ॥
पूर्वभाविता—मदङ्गभूता देवा वो युष्मभ्यमिष्टान्मुमुक्षुकाम्या-
नुत्तारोत्तारयज्ञापेक्षान् भोगान् दास्यन्ति वृष्ट्यादिद्वारा ब्रीह्यादीनु-
त्पाद्येत्यर्थः । स्वाचर्चनार्थं तैर्देवैर्देवांस्तान् भोगानेभ्यः पञ्चय-
ज्ञादिभिरप्रदाय केवलात्मतृप्तिकरो यो भुङ्क्ते स स्तेनश्चौर
एव । देवस्वान्यपहृत्य तैरात्मनः पोषात् । चौरो भूपादिव
स यमादण्डमर्हति पुमर्थानर्हः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

सारा०व०—वैश्वदेवादि-यज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति, ते पञ्च-
सूना-कृतैः सर्वैः पापैर्मुच्यन्ते । पञ्चसूनाश्च स्मृत्युक्ताः—“कण्डनी
पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः
स्वर्गं न बिन्दति ॥” इति ॥१३॥

गी०भू०—ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णु-
मभ्यर्च्य तच्छेषमश्नन्ति तेन तद्देहयात्रां सम्पादयन्ति ते सन्तः
सर्वेश्वरस्य यज्ञपुरुषस्य भक्ताः सर्वकार्त्तवर्षैरनादिकालविवृद्धै-
रात्मानुभवप्रतिबन्धकैर्निखिलैः पापैर्बिमुच्यन्ते । ते तु पापाः
पापग्रस्ताः अघमेव भुञ्जते । ये तत्तादेवताङ्गतयावस्थितेन यज्ञ-
पुरुषेण स्वाचर्चनाय दत्तां ब्रीह्याद्यात्मकारणात् पचन्ति तद्वि-
पच्यात्मपोषणं कुर्वन्तीत्यर्थः । पक्वस्य ब्रीह्यादेरघरूपेण परिणा-

मादघत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूताति पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

सारा०व०—जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि यज्ञं कुर्यादेवेत्याह—
अन्नाद्भूतानि प्राणिनो भवन्तीति भूतानां हेतुरन्नम्—अन्नादेव
शुक्रशोणितरूपेण परिणतात् प्राणिशरीरसिद्धेस्तस्यान्नस्य हेतुः
पर्जन्यः, वृष्टिभिरेवान्नसिद्धेस्तस्य पर्जन्यस्य हेतुर्यज्ञः—लोकैः
कृतेन यज्ञेनैव समुचितवृष्टिप्रदमेघसिद्धेस्तस्य यज्ञस्य हेतुः कर्म—
ऋत्विग्यजमानव्यापारात्मकत्वात् कर्मण एव यज्ञसिद्धेः ॥ १४ ॥

गी०भू०—प्रजापतिना परेशेन प्रजाः सृष्ट्वा तदुपजीवनाय
तदैव यज्ञः सृष्टस्ततः परेशानुवर्तिनावश्यं सकार्य इत्याह अन्ना-
दिति द्वाभ्याम् । भूतानि प्राणिनोऽन्नाद्ब्रह्मादेर्भवन्ति । शुक्र-
शोणितरूपेण परिणतास्तस्माच्चाद्देहानां सिद्धेः । तस्यान्नस्य
सम्भवः पर्जन्याद्बृष्टेर्भवति ; पर्जन्यश्च यज्ञाद्भवति । यज्ञश्च
ऋत्विग्यजमानादि—व्यापाररूपान् कर्मणः समुद्भवति सिध्य-
तीत्यर्थः । “अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादियमुपतिष्ठते । “आदि-
त्याज्जायते वृष्टिर्बृष्टेरन्नं ततः प्रजा” इति मनुस्मृतेः ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

सारा०व०—तस्य कर्मणो हेतुर्ब्रह्म वेदः—वेदोक्तविधि-
वाक्यश्रवणादेव यज्ञं प्रति व्यापारोत्पत्तेस्तस्य वेदस्य हेतुरक्षरं
ब्रह्म—ब्रह्मत एव वेदोत्पत्तेः ; तथा च श्रुतिः—“अस्य महतो
भूतस्य निःश्वसितमेतद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः” इति ।
तस्मात् सर्वगतं सर्वव्यापकं ब्रह्म यज्ञे प्रतिष्ठितमिति यज्ञेन

ब्रह्मापि प्राप्यत इति भावः । अत्र यद्यपि कार्यकारणभावेना-
न्नाद्या ब्रह्मपर्यन्ताः पदार्था उक्तास्तदपि तेषु मध्ये यज्ञ एव विधे-
यत्वेन शास्त्रेणोच्यत इति । स एव प्रस्तुतः, “अग्नौ प्रस्ताहुतिः
सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्बृष्टेरन्नं ततः
प्रजाः ॥” इति स्मृतेः ॥ १५ ॥

गी०भू०—तच्च ऋत्विगादिव्यापार-रूपकर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ।
ब्रह्मवेदस्तस्मात्तन् प्रवृत्तिं जानीहीत्यर्थः । तच्च वेदरूपं ब्रह्म
अक्षरात् परेशात् समुद्भवं प्रकटं विद्धि । “अस्य महतो भूतस्य
निःश्वसितमेतद् यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः” इत्यादि
श्रवणात् । यस्मात् स्वसृष्टप्रजोपजीवनातिप्रियो यज्ञस्तस्मात्सर्व-
गतं निःखिलव्यापकमपि ब्रह्म नित्यं सर्वदा यज्ञे प्रतिष्ठितं तैर्नैव
तत् प्राप्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

सारा०व०—एतदननुष्ठाने प्रत्यवायमाह—एवमिति । चक्रं
पूर्वपश्चाद्भागेन प्रवर्तितम्—यज्ञात् पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नम्,
अन्नात् पुरुषः, पुरुषात् पुनर्यज्ञः, यज्ञात् पर्जन्य इत्येवं चक्रं
यो नानुवर्त्तयति—यज्ञानुष्ठानेन न परिवर्त्तयति, स अघायुः
पापव्याप्तायुः । को नरके न मङ्ग्यतीति भावः ॥ १६ ॥

गी०भू०—यज्ञाकरणे दोषमाहैवेति । परस्माद् ब्रह्मणो वेदा-
विर्भावस्तस्मात् ब्रह्म प्रतिबोधकात् यज्ञस्ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं
ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं निःखिलजगन्नि-
र्वाहकं परेशेन प्रजापतिना प्रवर्तितं चक्रं यो नानुवर्त्तयति
स जनः परेशविमुखोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति ।
हे पार्थ यदसाविन्द्रियैर्विषयेष्वेव रमते न तु परब्रह्माभिमते यज्ञे
तच्छेषाशने च ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव व संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

सारा०व०—तदेवं निष्कामत्वासामर्थ्ये सकामोऽपि कर्म कुर्यादेवेत्युक्तम् । यस्तु शुद्धान्तःकरणत्वात् ज्ञानभूमिकामारुढः, स तु नित्यं काम्यञ्च न करोतीत्याह—यस्त्वात्तद्वाभ्याम् । आत्मरतिरात्मारामो यत आत्मतृप्त आत्मानन्दानुभवेन निर्वृतः । न स्वात्मनि निर्वृतो बहिर्बिषयभोगेऽपि किञ्चिन्निर्वृतो भवतु । तत्र नैवेत्याह—आत्मन्येव, न तु बहिर्बिषयभोगे तस्य कार्यं कर्त्तव्यत्वेन कर्म नास्ति ॥१७॥

गी०भू०—यस्तु मदुक्तेन निष्कामकर्मणा मदुपासनेन च विमृष्टे चित्तादर्पणे सञ्जातेन धर्मभूतज्ञानेनात्मानमदर्शत्तास्य न किञ्चित् कर्म कर्त्तव्यमित्याह—यस्त्वात्तद्वाभ्याम् । आत्मन्य-पहतपाप्मत्वादि - गुणाष्टकविशिष्टे स्वस्वरूपे अबलोकिते रति-र्यस्य सः । आत्मना स्वप्रकाशानन्देनावलोकितेन तृप्तो न त्वन्न-पानादिना । आत्मन्येव च तादृशे सन्तुष्टो न तु नृत्यगीतादौ । तस्यैवंभूतस्य तदवलोकानाय किञ्चित् कर्म कर्त्तव्यं न विद्यते सर्वदावलोकितात्मस्वरूपत्वात् ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

सारा०व०—कृतेनानुष्ठितेन कर्मणा नार्थो न फलम् । अकृ-तेन कञ्चन प्रत्यवायोऽपि न, यस्मादस्य सर्वभूतेषु ब्रह्माण्ड-स्थावरादिषु मध्ये कश्चिदप्यर्थाय स्वप्रयोजनार्थं व्यपाश्रय आश्र-यणीयो न भवति । पुराणादिषु व्यपाश्रयशब्देन तथैवोच्यते, यथा—“बासुदेवे भगवति भक्तिमुद्धृतां नृणाम् । ज्ञानवैराग्य-

नीर्याणां नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥” इति, तथा “यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति” इति, “संस्था-हेतुरपाश्रयः” इत्यादावप्यपेत्युपसर्ग-स्यानधिकार्थं दृष्टम् ॥१८॥

गी०भू०—कृतेन तदवलोकनायानुष्ठितेन कर्मणार्थः फलं नैवास्ति । अकृतेन तदवलोकनासाधनेन कर्मणा कश्चनानर्थश्च तदवलोकनक्षतिलक्षण इह न भवति । स्वाभाविकात्मावलोक-नात् । न त्वीदृशोऽपि देवकृताद्विघ्नाद्विभ्यत्ततोषाय तत्पूजात्मकं कर्म कुर्यात् । श्रुतिश्च देवान् ज्ञानद्विषः प्राह—“तस्मात्तादेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः” इति । तत्राह न चेति । अस्य लब्धा-त्मावलोकस्य विदुषः सर्वभूतेषु देवेषु मानवेषु च मध्ये काश्च-दप्यर्थायात्मरतिनैर्विघ्नाय व्यपाश्रयः कर्मभिः सेव्यो न भवति । ज्ञानोदयात् पूर्वमेव देवकृता विघ्नाः तेनात्मरतौ सत्यान्तु न तत्कृतास्ते तत्प्रभावेण संभवन्ति । “तस्य हन देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां सम्भवतो”ति श्रवणात् । हनेत्यप्यर्थे निपातः । देवा अपि तस्यात्मानुभविनोऽभ्यूयै आत्मरतिक्षतये नेशते, हि यस्मादेषां स आत्मा तद्वत् प्रेष्टो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥१९॥

सारा०व०—तस्मात्ताव ज्ञानभूमिकारोहणे नास्ति योग्यता, काम्यकर्मणि तु सद्बिवेकवतस्तत्र नैवाधिकारः । तस्मान्निष्काम-कर्मैव कुर्वित्याह—तस्मादिति । कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन विहितं परं मोक्षम् ॥१९॥

गी०भू०—यस्माल्लब्धात्मावलोकनस्यैव कर्मानुपयोगस्तस्मा-दतादृक्त्वं कार्यं कर्त्तव्यत्वेन विहितं कर्म समाचर । असक्तः फलेच्छाशून्यः सन् । परं देहादिभिन्नमात्मानमाप्नोत्यवलोकते याथात्म्येन ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुं महसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

सारा०व०--अत्र सदाचारं प्रमाणयति--कर्मणोति । यदि
बा त्वमात्मानं ज्ञानाधिकारिणं मन्यसे, तदपि लोके शिक्षा-ग्रह-
णार्थं कर्मैव कुर्वित्याह--लोकेति ॥२०॥

सारा०व०--लोकसंग्रहप्रकारमेवाह--यद्यदिति ॥२१॥

गी०भू०--सदाचारमत्र प्रमाणयति कर्मणैवेति । कर्मणै-
वोपायेन विशुद्धचित्ताः सन्तः संसिद्धिं स्वात्मावलोकनलक्षणा-
मास्थिताः प्रापुः । कर्मणैवेति विशेषणसम्बन्ध एवकारस्तस्यायोगं
व्यवच्छिन्नान्ति शङ्खपाण्डुर एवेतिवत् । तेन श्रवणादेर्न व्युदासः ।
कर्मणा यज्ञादिना सहैव श्रवणादिनेति केचित् । ननु सनिष्ठस्या-
त्मावलोकने सति कर्मानुष्ठानं नास्तीत्युक्तम् । मम परिनिष्ठत-
स्यावलोकितस्वपरात्मनः कर्मोपदेशः कुत इति चेत्तत्राह लोकेति ।
सत्यं त्वमीदृश एव तथापि लोकसंग्रहाय कर्म कुर्विति अर्जुने
मयि कर्म कुर्वीणे सर्वलोकः कर्म करिष्यति ; इतरथा मदृष्टा-
न्तेनाज्ञोऽपि लोकः कर्म त्यजन् पतिष्यतीति लोकसंरक्षणं तत्
फलम् ॥ २० ॥

गी०भू०--लोकसंग्रहप्रकारमाह - यद्यदिति । श्रेष्ठो मह-
त्तमो यत् कर्म यथाचरति तत् कर्म तथैवेतरः कनिष्ठोऽप्या-
चरति । स श्रेष्ठस्तस्मिन् कर्मणि यच्छास्त्रं प्रमाणं कुरुते मन्यते
लोकः कनिष्ठोऽपि तदनुयायी तदेवानुवर्ततेऽनुसरति । शास्त्रो-
पेतं श्रेष्ठाचरणं कल्याणलिप्सुना कनिष्ठेनानुष्ठेयमित्यर्थः ।
इत्यश्च तेजस्विनः श्रेष्ठस्य च यत् क्वचित् स्वैराचरणं तद्व्या-

वृत्ताम् । तस्य श्रेष्ठकृतत्वेऽपि शास्त्रोपेतत्वाभावात् ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मत् वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

सारा०व०--अत्राहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः ॥२०॥

सारा०व०--अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तोरन्नित्यर्थः ॥२३॥

गी०भू०--श्रेष्ठः कर्मफलनिरपेक्षोऽपि लोकसंग्रहाय शास्त्रो-
दितानि कर्माण्याचरेदित्यर्थे स्वं दृष्टान्तमाह-न मे पार्थेति त्रिभिः ।
सर्वेशस्य सत्यसंकल्पस्य सत्यकामस्य मे कर्त्तव्यं नास्ति ।
फलार्थिना शलु कर्मानुष्ठेयम् । न च निखिलफलाश्रयस्य स्वयं
परमफलात्मनो मे कर्मापेक्ष्यमित्यर्थः । एतद्दर्शयति त्रिष्विति ।
यतः सर्वेषु लोकेषु कर्मणा यत् फलमवाप्तव्यं तदनवाप्तमलब्धं
मम नास्ति सर्वं तन्मदीयमेवेत्यर्थः । तथापि शास्त्रोक्तं कर्माहं
करोम्येवेत्याह--वर्त्मा इति ॥ २२ ॥

गी०भू०--यदीति । अहं सर्वेश्वरः सिद्धसर्वार्थोऽपि
यदुकुलावतीर्णो जातु कदाचित् तत्कुलोचिते शास्त्रोक्ते कर्मणि
न वर्त्तेयं तन्न कुर्यामतन्द्रितः सावधानः सन् तर्हि मां
दृष्टान्तं कृत्वा मनुष्याः श्रेष्ठस्य मम वर्त्म कुलविहिताचारत्यागरूप-
मनुवर्त्तेरन् ततो भ्रंशोरन्नित्यर्थः ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

सारा०व०--उत्सीदेयुर्मां दृष्टान्तीकृत्य धर्ममकुर्वीणां
अंशेयुः । ततश्च वर्णसङ्करो भवेत्तास्याप्यहमेव कर्त्ता स्यामेव-
महमेव प्रजा हन्याम--मलिनाः कुर्याम् ॥२४॥

सारा०व०--तस्मात् प्रतिष्ठितेन ज्ञानिनापि कर्म कर्त्तव्य-
मित्युपसंहरति--सक्ता इति ॥२५॥

गी०भू०--ततः किं स्यादित्याह उत्सीदेयुरिति । अहं सर्व-
श्रेष्ठश्चेत् शास्त्रोक्तं कर्म न कुर्यां तर्हि मे लोका उत्सीदेयु-
र्विश्रष्टमर्यादाः स्युः । तद्विश्रंशे सति यः सङ्करः स्यात्तास्याप्यह-
मेव कर्त्ता स्याम् । एवञ्च प्रजापतिरहमिमाः प्रजाः साङ्कर्यदोषे-
णोपहन्त्यां मलिनाः कुर्याम् । तथा च “एष सेतुर्विधरण एषां
लोकानां असंभेदाये” इति श्रुत्या लोकमर्यादाविधारकत्वेन परि-
गीतस्य मे तन्मर्यादाभेदकत्वं स्यादिति । एवं उपदिशतोऽपि
हरेर्यत् किञ्चित् स्वभक्तसुखेच्छोः स्वैराचरितं दृष्टं, तत् खलु
विधायकेन तद्वचसानुपेतत्वादीश्वरीयत्वाच्चावरैर्नैवाचरणीयम्,
यदुक्तं श्रीमता शुकेन--“ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं
काचित् । तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत् ॥ नैतत्
समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः । विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्य-
थाऽरुद्रोऽद्विजं विषम” इति ॥२४॥

गी०भू०--तस्मात् परिनिष्ठितोऽपि त्वं लोकहिताय वेदोक्तं
स्वकर्म प्रकुर्वित्याशयेनाह--सक्ता इति । अज्ञा यथा कर्म्मणि
सक्ताः फललिप्सयाभिनिविष्टास्तत् कुर्वन्त्येवं विद्वानपि कुर्यात्,
किन्त्वसक्तः फललिप्साशून्यः सन् । स्फुटमन्यत् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनान् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

सारा०व०--‘अलं कर्मजडिम्ना, त्वं कर्मसन्न्यासं कृत्वा

ज्ञानाभ्यासेनाहमिव कृतार्थीभव’ इति बुद्धिभेदं न जनयेत् कर्म-
सङ्गिनामशुद्धान्तःकरणत्वेन कर्मस्वेवासक्तिमताम्, किन्तु ‘त्वं
कृतार्थीभविष्यन् निष्कामकर्मैव कुरु’ इति कर्म्मण्येव ‘योज-
येत्’ कारयेत्--अत्र कर्म्माणि समाचरन् स्वयमेव दृष्टान्ती-
भवेत् । ननु “स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्न बक्त्यज्ञाय कर्म हि । न
राति रोगिणोऽपथ्यं बाढ्यतोऽपि भिषक्तमः ॥” इत्यजित-
बाक्येनैतद्विरुध्यते, सत्यम्, तत् खलु भक्त्युपदेष्टृक-विषयमि-
दन्तु ज्ञानोपदेष्टृक-विषयमित्यविरोधः--ज्ञानस्यान्तःकरणशुद्ध्य-
धीनत्वात्, तच्छुद्धेस्तु निष्काम-कर्म्माधीनत्वात्, भक्तेस्तु
स्वतः प्रावल्यादन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तानपेक्षत्वात् । यदि भक्तौ
श्रद्धामुत्पादयितुं शक्नुयात्, तदा कर्म्मणां बुद्धिभेदमपि जन-
येत्, भक्तौ श्रद्धावतां कर्म्मानधिकारात्--“तावत् कर्म्माणि
कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न
जायते ॥” इति, “धर्म्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च
सत्तमः” इति, ‘सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज’ इति,
“त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरे-र्भजन्नपकोऽथ पतेत्ततो यदि”
इत्यादिबचनेभ्य इति विवेचनीयम् ॥२६॥

गी०भू०--किञ्च, लोकहितेच्छुर्ज्ञानी सावहितः स्यादित्याह--
न बुद्धीति । विद्वान् परिनिष्ठितोऽपि कर्म्मसङ्गिनां कर्म्मश्रद्धा-
जाड्यभाजामज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्--किं कर्म्मभिरहमिव
ज्ञानेनैव कृतार्थो भवेति कर्म्मनिष्ठातस्तद्वुद्धिं नापनयोदित्यर्थः ।
किन्तु स्वयं कर्म्मसु युक्तः सावधानस्तान् सम्यक् सर्वाङ्गोप-
संहारेणाचरन् सर्वाणि विहितानि कर्म्माणि योषयेत् प्रीत्या
सेवयेत् अज्ञानं कर्म्माणि कारयेदित्यर्थः । बुद्धिभेदे सति कर्म्मसु
श्रद्धा-निवृत्ते ज्ञानस्य चानुदयादुभयविश्रष्टास्ते स्युरिति भावः ।
“स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न बक्त्यज्ञाय कर्म हि । न राति रोगि-

णोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥” इत्यजितोक्तिस्तुः कर्मसङ्गी-
तरपरतया नेया ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सारा०व०—ननु यदि विद्वानपि कर्म कुर्यात्तर्हि विद्वद-
विदुषोः को विशेष इत्याशङ्क्य तयोर्विशेषं दर्शयति—प्रकृतेरिति
द्वाभ्याम् । प्रकृतेर्गुणैः कार्यैरिन्द्रियैः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रिय-
माणानि यानि कर्माणि, तान्यहमेव कर्ता करोमीत्यविद्वान्
मन्यते ॥२७॥

गी०भू०—कर्मत्वसाम्येऽपि विज्ञाज्ञयोर्विशेषमाह—प्रकृते-
रिति द्वाभ्याम् । अहङ्कारविमूढात्मा जनोऽहं कर्माणि कर्त्तुं
मन्यते—‘न लोकाव्ययनिष्ठा’ इति सूत्रात् षष्ठीनिषेधः । कर्माणि
लौकिकानि वैदिकानि च । तानि कीदृशानीत्याह—प्रकृतेरीश-
मायाया गुणैस्तत्कार्यैः शरीरेन्द्रियप्राणैरीश्वरप्रवृत्तितैः क्रिय-
माणानीति । इदमत्र वेदितव्यम्—उपक्रमविनिर्णयात् सम्ब-
न्धवपुर्जीवात्मास्मदर्थः कर्ता चानादिकालविषयभोगवासनाक्रान्त-
स्तद्भोगार्थिकां स्वसन्निहितां प्रकृतिमाश्रित्यस्तत्कार्येणाहङ्कारेण
विमूढात्मा तादृशस्वविज्ञानशून्यः शरीराद्यहंभाववान् प्राकृतैः
शरीरादिभिरीशेन च सिद्धानि कर्माणि मयैवैकेन कृतानीति
मन्यते । कर्तुरात्मनो यत् कर्तृत्वं तत् किल देहादिभिस्त्रिभिः
परमात्मना च सर्वप्रवर्त्तकेन च सिद्ध्यति, न त्वेकेन जीवेनैव ।
तच्च मयैव सिद्ध्यतीति जीवो यन्मन्यते ततहङ्कारविमूढादेव-
“अधिष्ठानं तथा कर्ता” इत्यादिकाच्चरमाध्यायवाक्यत्रयात् ।
“कार्यकारणकर्त्ता त्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते” इत्यत्र शरीरेन्द्रियादि-
कर्त्तृत्वं प्रकृतेरिति यद्वर्णयिष्यते, तत्रापि केवलायास्तस्यास्तत्र

शक्य मन्तुं—पुरुषसंसर्गेणैव तत्प्रवृत्तेरङ्गीकारात् । ततश्च पुरु-
षस्य कर्त्तृत्वमवर्जनीयमिति व्याख्यास्यते ॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

सारा०व०—गुणकर्मणोर्यौ विभागौ, तयोस्तत्त्वं वेत्तीति
सः । तत्र गुणविभागः सत्त्वरजस्तमांसि, कर्म-विभागः सत्त्वादि-
कार्यभेदः । देवतेन्द्रियविषयाः, तयोस्तत्त्वं स्वरूपं तज्ज्ञस्तु तत्त्व-
वित्तु । गुणा देवताः प्रयोज्यानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि गुणेषु
रूपादेषु विषयेषु वर्तन्ते । अहन्तु न गुणः, नापि गुणकार्यः
कोऽपि, नापि गुणेषु गुणकार्येषु तेषु कोऽपि मे सम्बन्ध इति
मत्वा विद्वान्तु न सज्जते ॥२८॥

गी०भू०—विज्ञस्तु न तथेत्याह—तत्त्ववित्त्विति । गुण-
विभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्ववित्तु । गुणेभ्य इन्द्रियेभ्यः
कर्मभ्यश्च तत्कृतेभ्यः यः स्वस्य विभागो भेदस्तस्य तत्त्वं स्वरूपं
तत्तद्वैधर्म्यपर्यालोचनया यो “नाहं गुणकर्मबधुः” इति वेत्ती-
त्यर्थः । स हि गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु शब्दादेषु विषयेषु तत्तद्दे-
वताप्रेरितानि प्रवर्त्तन्ते तान् प्रकाशयन्ति । अहं त्वसङ्गविज्ञाना-
नन्दत्वात्तादृशो, न तेषु ताद्रूप्येण वर्त्ते, न तान् प्रकाशयामीति
मत्वा तेषु न सज्जते, किन्त्वात्मन्येव सज्जते । अत्रापि मत्वेत्यनेन
कर्त्तृत्वं जीवस्योक्तं बोध्यम् ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

सारा०व०—ननु यदि जीवा गुणेभ्यो गुणकार्येभ्यश्च पृथ-
ग्भूतास्तदसम्बन्धास्तर्हि कथं ते विषयेषु सज्जन्तो दृश्यन्ते—तत्राह

प्रकृतेर्गुणैः समूढास्तदावेशात् प्राप्तसंमोहा यथा भूताबिष्टो मनुष्य आत्मानं भूतमेव मन्यते, तथैव प्रकृतिगुणाविष्टा जीवाः स्वान् गुणानेव मन्यन्ते, अतो गुणकर्मसु गुणकार्येषु बिषयेषु सज्जन्ते । तानकृत्स्नबिदो मन्दमतीन् कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न बिचालयेत्—‘त्वं गुणेभ्यः पृथग्भूतो जीवा न तु गुणः’ इति बिचारं प्रापयितुं न यतते, किन्तु गुणावेशनिवर्त्तिकं निष्कामकर्मैव कारयेत् । न हि भूताबिष्टो मनुष्यस्त्वं न भूतः, किन्तु मनुष्य एवेति शतकृत्वोऽप्युपदेशेन न स्वास्थ्यमापद्यते, किन्तु तान्नवर्त्तकौषधमणिमन्त्रादिप्रयोगेणैवेति भावः ॥२६॥

गी०भू०—न बुद्धिभेदं जनयेदित्येतदुपसंहरति—प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणेन तत्कार्येणाहङ्कारेण मूढा भूतावेशन्यायेन देहादिकमेवात्मानं मन्याना जनाः गुणानां देहेन्द्रियाणां कर्मसु व्यापारेषु सज्जते । तानकृत्स्नबिदोऽल्पज्ञान् मन्दानात्मतत्त्वग्रहणालसान् कृत्स्नवित् पूर्णात्मज्ञानो न बिचालयेत् गुणकर्मन्यो विशुद्धचैतन्यानन्दस्त्वमिति तत्त्वं ग्राहयितुं नेच्छेत् ; किन्तु तद्रुचि-मनुसृत्य वैदिककर्माणि श्रेण्याक्रमादात्मतत्त्वप्रवर्णं चिकीर्षेदिति भावः ॥२६॥

मति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

सारा०व०—तस्मात्त्वं मय्यध्यात्मचेतसात्मनीत्यर्थः । एवमध्यात्ममव्ययीभावसमासात्, ततश्च आत्मनि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेनात्मनिष्ठेनैव चेतसा, न तु बिषयनिष्ठेनेत्यर्थः । मयि कर्माणि संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्म्ममः सर्वत्र समताशून्यो युध्यस्व ॥३०॥

गी०भू०—मयीति । यस्मादेवं तस्मात् परिनिष्ठितस्त्वमध्या-

त्मचेतः स्वात्मतत्त्वविषयकज्ञानेन सर्वाणि कर्माणि राज्ञि भृत्य इव मयि परेशे सन्नयस्यार्पयित्वा युध्यस्व कर्त्तृत्वाभिनिवेशशून्यः । यथा राजतन्त्रो भृत्यस्तदाज्ञया कर्माणि करोति, तथा मत्तन्त्रस्त्वं मदाज्ञया तानि कुरु लोकान् संजिघृक्षुः । आत्मनि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेन । ‘बिभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः’ । निराशीः स्वाम्याज्ञया करोमीति तत्फलेच्छाशून्यः । अतएव मत्फलसाधनानि मदर्थममूनि कर्माणीत्येवं समत्ववर्जितः । विगतज्वरस्त्यक्तबन्धुबधनिमित्ताकसन्तापश्च भूत्वेति अर्जुनस्य क्षत्रियत्वाद्युध्यस्वेत्युक्तम् । स्वाश्रमाभिहितानि कर्माणि मुमुक्षुभिः कार्याणीति वाक्यार्थः ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

सारा०व०—स्वकृतोपदेशे प्रवर्त्तयितुमाह—ये म इति ॥३१॥

गी०भू०—श्रुतिरहस्ये स्वमतेऽनुवर्त्तिनां फलं बद्धन् तस्य श्रैष्ठ्यं व्यञ्जयामि ये म इति-नित्यं सर्वदा श्रुतिबोधितत्वेनानादिप्राप्तं वा । श्रद्धावन्तो दृढविश्वास्ताः । अनसूयन्तो मोचकत्वगुणवति तस्मिन् किममुना श्रमबहुलेन निष्फलेन कर्मणेत्येवं दोषारोपशून्याः । तेऽपीत्यपिरवधारणे । यद्वा ये ममेदं मतमनुतिष्ठन्ति ये चानुष्ठानुमशक्नुवन्तोऽपि तत्र श्रद्धालवः ; ये च श्रद्धालवोऽपि तन्नासूयन्ते तेऽपीत्यर्थः । साम्प्रतानुष्ठानाभावेऽपि तस्मिन् श्रद्धयानसूयया च क्षीणदोषास्ते किञ्चित् प्रान्ते तदनुष्ठाय मुच्यन्ते इति भावः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

सारा०व०--विपक्षे दोषमाह--ये त्विति ॥३२॥

गी०भू०--विपक्षे दोषमाह ये त्विति । ये तु मे सर्वेश्वरस्य सर्वसुहृद् एतच्छ्रुतिरहस्यभूतं मतमश्रद्धधानाः सन्तो नानु-
तिष्ठन्ति किन्त्वसूयन्ति तान् सर्वस्मिन् कर्मज्ञाने परमात्म-
ज्ञाने च विमूढानतएव विचेतसाश्चित्ताशून्यानतएव नष्टान् पुरु-
षार्थविभ्रष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सारा०व०--ननु राज्ञ इव तव परमेश्वरस्य मतमनुतिष्ठन्तो
राजकृतादिव त्वत्कृतान्निग्रहात् किं न विभ्यति ? सत्यम्, ये खल्वि-
न्द्रियाणि चारयन्तो वर्तन्ते, ते विवेकिनोऽपि राज्ञः परमेश्वरस्य
च शासनं मन्तुं न शक्नुवन्ति । तथैव तेषां स्वभावोऽभूदित्याह--
सदृशमिति । ज्ञानवानप्येवं पापे कृते सत्येवं नरको भविष्यत्येवं
राजदण्डो भविष्यति, एवं दुर्यशश्च भविष्यतीति विवेकवानपि
स्वस्याः प्रकृतेश्चिरन्तनपापाभ्यासोत्थदुःखभारस्य सदृशमनुरूपमेव
चेष्टते । तस्मात् प्रकृतिं स्वभावं यान्त्यनुसरन्ति । तत्र निग्रहस्त-
च्छास्त्रद्वारा मत्कृतो राजकृतो वा तेनाशुद्धचित्तान् उक्तलक्षणो
निष्कामकर्मयोगः, शुद्धचित्तान् ज्ञानयोगश्च संस्कर्त्तुं प्रबोधयितुं
च शक्नोति, न त्वत्यन्ताशुद्धचित्तान्, किन्तु तानपि पापिष्ठ-
स्वभावान् यादृच्छिकमत्कृपोत्थभक्तियोग एव उद्धर्त्तुं प्रभवेत्,
यदुक्तं स्कान्दे--“अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य ते क्षणात् ।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ॥” ३३॥

गी०भू०--ननु सर्वेश्वरस्य ते मतमतिक्रमतां दण्डः शास्त्रे-
णोच्यते तस्मात्ते किमु न विभ्यति इत्याह सदृशमिति । प्रकृति-
रनादिकालप्रवृत्ता स्वदुर्व्यासना तस्याः स्वीयायाः सदृशमनु-

रूपमेव ज्ञानवान् शास्त्रोक्तं दण्डं जानन्नपि जनश्चेष्टते प्रवर्त्तते
किमुताज्ञः । ततो भूतानि सर्वे जनाः प्रकृतिं पुरुषार्थविभ्रंश-
हेतुभूतामपि तां यान्त्यनुसरन्ति । तत्र निग्रहः शास्त्रज्ञातो-
ऽपि दण्डः सत्प्रसङ्गशून्यस्य किं करिष्यति । दुर्व्यासनायाः
प्रावत्यतां निवर्त्तयितुं न शक्यतीत्यर्थः । सत्प्रसङ्गसहितस्य तु
तां प्रबलामपि निहन्ति “सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्ग-
मुक्तिभिः” रित्यादिस्मृतिभ्यः ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

सारा०व०--यस्माद्दुःस्वभावेषु लोकेषु विधिनिषेधशास्त्रं
न प्रभवति, तस्माद्यावत् पापाभ्यासोत्थदुःस्वभावो नाभूत्ता-
बद्ध्यथेष्टमिन्द्रियाणि न चारयेदित्याह--इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति
बीप्सा प्रत्येकम्, सर्वेन्द्रियाणामर्थे स्वस्वविषये परस्त्रीमात्रगात्र-
दर्शनस्पर्शन-तत्सम्प्रदानकद्रव्यदानादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि राग-
स्तथा गुरुविप्रतीर्थातिथिदर्शनस्पर्शनपरिचरण-तत्सम्प्रदानक-धन-
वितरणादौ शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येतौ विशेषेणावस्थितौ
वर्त्तते, तयोर्वशमधीनत्वं न प्राप्नुयात्, यद्वा, इन्द्रियार्थे स्त्रीदर्श-
नादौ रागस्तत्प्रतिघाते केनचित् कृते सति द्वेष इत्यस्य पुरु-
षार्थसाधकस्य कचित्तु मनोऽनुकूलेऽर्थे सुरसस्निग्धान्नादौ रागो
मनःप्रतिकूलेऽर्थे विरस-रुक्षान्नादौ द्वेषस्तथा स्वपुत्रादिदर्शन-
श्रवणादौ रागो वैरिपुत्रादिदर्शनश्रवणादौ द्वेषः,--तयोर्वशं न
गच्छेदिति व्याचक्षते ॥३४॥

गी०भू०--ननु प्रकृत्यधीना चेत् पुंसां प्रवृत्तिस्तर्हि विधि-
निषेधशास्त्रे व्यर्थ इति चेत्तत्राह इन्द्रियस्येति । बीप्सया सर्वेषां
इत्युक्तम् । ततश्च ज्ञानेन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामर्थे विषये शब्दादौ

कर्मेन्द्रियाणाञ्च बागादीनामर्थे वचनादौ अनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि परदारसंभाषण--तत्स्पर्शन तत्तोषणादौ रागः प्रतिकूले शास्त्र-विहितेऽपि सत्संभाषण-सत्सेवन-सत्तीर्थागमनादौ द्वेष इत्येवं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ चानुकूल्यप्रातिकूल्ये व्यवस्थया स्थितौ भवतो न त्वनियमेनेत्यर्थः । यद्यपि तदनुगुणा प्राणिनां प्रवृत्ति-स्तथापि श्रेयो लिप्सुर्जनस्तयो रागद्वेषयोर्वशं नागच्छेत् । हि यस्मात्तावम्य परिपन्थिनौ विघ्नकर्तारौ भवतः पान्थस्ये-व दस्यू । एतदुक्तं भवति--अनादिकालप्रवृत्ता हि बासना निष्ठानुबन्धित्व-ज्ञानाभाव-सहकृतेनेष्टसाधनत्वज्ञानेन निषिद्धे-ऽपि परदारसंभाषणादौ रागमुत्पाद्य पुंसः प्रवर्त्तयति । तथेष्टसाधनत्व--ज्ञानाभावसहकृतेनानिष्टसाधनत्वज्ञानेन विहि-तेऽपि सत्संभाषणादौ द्वेषमुत्पाद्य ततस्तान्निवर्त्तयति । शास्त्रं किल सत् प्रसङ्ग-श्रुतमनिष्ठानुबन्धित्वबोधनेन निषिद्धान्मनो-ऽनुकूलादपि निवर्त्तयति द्वेषमुत्पाद्य । इष्टानुबन्धित्वबोधनेन विहिते मनःप्रतिकूलेऽपि रागमुत्पाद्य प्रवर्त्तयतीति न विधि-निषेधशास्त्रयोर्वैयर्थ्यमिति ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

सारा०व०--ततश्च युद्धरूपस्य धर्मस्य यथाबद्दरागद्वेषादि-राहित्येन कर्त्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिसादेः सुकरत्वाद्-धर्मत्वाविशेषाच्च तत्र प्रवर्त्तितुमिच्छन्तं प्रत्याह--श्रेयानिति । विगुणः किञ्चिद्वेषविशिष्टोऽपि सम्यगनुष्ठातुमशक्योऽपि पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात् साध्वेवानुष्ठातुं शक्यादपि सर्वगुणपूर्णा-दपि सकाशात् श्रेयान् । तत्र हेतुः-स्वधर्म इत्यादि--“विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः । अधर्मशाखाः पञ्चे मा धर्म-

ज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥” (भा ७ । १५ । १२) इति सप्तमोक्तेः ॥ ३५ ॥

गी०भ०--ननु स्वप्रकृतिनिर्मितां रागद्वेषमयीं पश्चादि-साधारणीं प्रवृत्तिं विहाय शास्त्रोक्तेषु धर्मेषु वर्त्तितव्यमित्युक्तम् । धर्मद्विषुद्धौ तादृशप्रवृत्तिर्निवर्त्तते, धर्माश्च युद्धादिवदहिंसा-दयोऽपि शास्त्रेणोक्ताः । तस्माद्रागद्वेषराहित्येन कर्त्तुमशक्याद्-युद्धादेरहिंसाशिलोच्छ्रवृत्तिलक्षणो धर्म उत्तम इति चेत्तत्राह श्रेयानिति । यस्य वर्णस्याश्रमस्य च यो धर्मः वेदेन विहितः स च विगुणः किञ्चिदङ्गविकलोऽपि स्वनुष्ठितात् सर्वान्ज्ञोपसंहारे-णाचरितादपि परधर्मात् श्रेयान् । यथा ब्राह्मणस्याहिंसादिः स्वध-र्मः क्षत्रियस्य च युद्धादिः । नहि धर्मो वेदातिरिक्तेन प्रमाणेन गम्य-ते । चक्षुर्भिन्नेन्द्रियेणैव रूपम् । यथाह जैमिनिः--‘चोदनालक्षणो धर्मः’ इति । तत्र हेतुः-स्वधर्मे निधनं मरणमपि श्रेयः प्रत्यवाया-भावात् परजन्मनि धर्माचरणसम्भवाच्चेष्टसाधकमित्यर्थः । पर-धर्मस्तु भयावहोऽनिष्टजनकः, तं प्रत्यविहितत्वेन प्रत्यवाय-सम्भवात् । न च परशुरामे विश्वामित्रे च व्यभिचारः । तयोस्त-त्तत्कुलोत्पन्नावपि तत्तच्चोरु--महिम्ना तत्कर्मोदयान् । तथापि विगानं कष्टञ्च तयोः स्मर्यते । अतएव द्रोणादेः क्षात्रधर्मोऽसकृद्-विगीतः । ननु दैवराज्यादेः क्षत्रियस्य पारिव्राज्यं श्रयते ततः कथमहिंसादेः परधर्मत्वमिति चेत् सत्यं पूर्वपूर्वाश्रमधर्मैः क्षीणबासनया पारिव्राज्याधिकारे सति तं प्रत्यहिंसादेः स्व-धर्मत्वेन विहितत्वात् । अतएव स्वधर्मे स्थितस्येति योज्यते ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्येय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

सारा०व०--यदुक्तं रागद्वेषौ व्यवस्थितावित्यत्र शास्त्रनि-

विद्धेऽपीन्द्रियार्थे परस्त्रीसम्भोगादौ राग इत्यत्र पृच्छति--
अथेति । केन प्रयोजककर्त्रानिच्छन्नपि विधिनिषेधशास्त्रार्थज्ञान-
बत्त्वात् पापे प्रवर्तितुमिच्छारहितोऽपि बलादिवेति प्रयोजक-
प्रेरणवशात् प्रयोज्यस्यापीच्छा सम्यगुत्पद्यत इति भावः ॥३६॥

गी०भू०—इन्द्रियस्येत्यादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि परदारसं-
भाषणादौ रागो व्यवस्थित इति यदुक्तं “तत्राज्जुनः पृच्छति
अथ केनेति । हे बाष्पण्य वृष्णवंशोद्भव ! शुभादिभ्यश्चेति ढक्” ।
अयं ज्ञानयोगाद्योद्यतः पुरुषो जीवः केन प्रयोजकेन प्रयुक्तः
प्रेरितः पापं चरति निषेधशास्त्रार्थज्ञानात् तच्चरितमनिच्छन्नपि
बलादिवेति । प्रयोजकेच्छापन्नतया प्रयोज्येऽपीच्छा प्रजायते ।
स किमीश्वरः, पूर्वसंस्कारो वा ? तत्राद्यः--साक्षित्वात् कारु-
णिकत्वाच्च न पापे प्रेरकः, न च परो जडत्वादिति प्रश्नार्थः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

सारा०व०--एष काम एष विषयाभिलाषात्मकः पुरुषं पापे
प्रवर्त्तयति--तेनैव प्रयुक्तः पुरुषः पापं चरतीत्यर्थः । एष काम एष
पृथक्त्वेन दृश्यमान एष प्रत्यक्षः क्रोधो भवति--काम एव केन-
चित् प्रतिहतो भूत्वा क्रोधाकारेण परिणमतीत्यर्थः । कामो रजो-
गुणसमुद्भव इति राजसात् कामादेव तामसः क्रोधो जायत
इत्यर्थः । कामस्यापेक्षितपूरणेन निवृत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह--
महाशनो महदशनं यस्य सः । “यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं
पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत् सर्व्वमिति मत्वा शमं ब्रजेत् ॥”
इति स्मृतेः, कामस्यापेक्षितं पूरयितुमशक्यमेव । ननु दानेन
सन्धातुमशक्यश्चेत् सामभेदाभ्यां स स्वबशीकर्त्तव्यः ? तत्राह--
महापाप्माऽत्युग्रः ॥३७॥

गी०भू०--तत्राह भगवान् काम इति । कामः प्राक्तन-
वासनाहेतुकः शब्दादिविषयकोऽभिलाषः पुरुषं पापे प्रेरयति तद-
निच्छुमपि सोऽस्य प्रेरक इत्यर्थः । नन्वभिचारादौ क्रोधोऽपि
प्रेरको दृष्टः स चेन्द्रियस्येत्यादौ भवतापि पृथगुक्त इति चेत्,
सत्यम् ; न स तस्मात् पृथक्, किन्त्वेष काम एव केनचित्तेतनेन
प्रतिहतः क्रोधो भवति । दुग्धमित्रास्लेन युक्तं दधि ;--कामजय
एव क्रोधजय इति भावः । कीदृशः काम इत्याह--रजोगुणेति ।
सत्त्ववृद्ध्या रजसि निजिते कामो निजितः स्यादित्यर्थः । न चापे-
क्षितप्रदानेन कामस्य निवृत्तिरित्याह--महाशन इति । “यत् पृथि-
व्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्व्वमिति
मत्वा शमं ब्रजेत् ॥” इति स्मरणात् । न च साम्ना भेदेन वा स
वशोभवेदित्याह--महापाप्मेति । योऽत्युग्रो विवेकज्ञानविलोपेन
निषिद्धेऽपि प्रवर्त्तयति तस्मादिह दानयोगे एनं वैरिणं विद्धि
तथा च ज्ञानादिभिस्त्रिभिर्रुपायैः सन्धातुमशक्यत्वाद्द्वयमाणेन
दण्डेन स हन्तव्य इति भावः । ईश्वरः कर्म्मन्तरितः पर्जन्यवत्
सर्व्वत्र प्रेरकः । कामस्तु स्वयमेव पाप्माग्रे इति तथोक्तम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

सारा०व०--न च कस्यचिदेवायं वैर्यपि तु सर्व्वस्यैवेति
सदृष्टान्तमाह--धूमेनेति । कामस्यागाढत्वे गाढत्वेऽतिगाढत्वे च
क्रमेण दृष्टान्ताः--धूमेनावृतोऽपि मलिनो वह्निर्दाहादिलक्षणं
स्वकार्य्यन्तु करोति । मलेनावृतो दर्पणस्तु स्वच्छता-धर्म-
तिरोधानाद्बिम्बग्रहणं स्वकार्य्यं न करोति, स्वरूपतस्तूपलभ्यते ।
उल्बेन जरायुनावृतो गर्भस्तु स्वकार्य्यं करचरणादिप्रसारणं न
करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति । एवं कामस्यागाढत्वे

परमार्थस्मरणं कर्तुं शक्नोति, गाढत्वे न शक्नोत्यतिगाढत्वे
त्वचेतनमेव स्यादित्दं जगदेव ॥३८॥

गी०भू०—मृदुमध्यतीव्रभावेन त्रिविधस्य कामस्य धूममलो-
त्वनेति क्रमेण दृष्टान्तानाह—धूमेनेति । यथा धूमेनावृतोऽनु-
ज्ज्वलोऽपि वाहिरौष्णादिकं किञ्चित् करोति मलेनावृतो दर्पणः
स्वच्छता-तिरोधानात् प्रतिविम्बं न शक्नोति ग्रहीतुमुत्वेन जरा-
युणावृतो गर्भस्तु पादादिप्रसारं न शक्नोति कर्तुं न चोप-
लभ्यते, तथा मृदुना कामेनावृतं ज्ञानं कथञ्चिन् तत्त्वार्थं ग्रहीतुं
शक्नोति मध्येनावृतं न शक्नोति । तीव्रेणावृतन्तु प्रसर्त्तुमपि
न शक्नोति, न च प्रतीयत इत्यर्थः ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥६६॥

सारा०व०—काम एव हि जीवस्याबिद्येत्याह—आवृतमिति ।
नित्यवैरिणेत्यतोऽसौ सर्वप्रकारणे हन्तव्य इति भावः । काम-
रूपेण—कामाकारेणाज्ञानेनेत्यर्थः । च-कार इवार्थे, अनलो
यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथा कामोऽपि भोगेनेत्यर्थः, यदु-
क्तम्—“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा
कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्द्धते ॥” इति ॥३९॥

गी०भू०—उक्तमर्थं स्फुटयति—आवृतमिति । अनेन काम-
रूपेण नित्यवैरिणा ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमावृतमिति सम्बन्धः ।
अज्ञस्य विषयभोगसमये सुखत्वात् सुहृदपि कामस्तत्कार्ये दुःखे
सति वैरिः स्याद्विज्ञस्य तु तत्समयेऽपि दुःखानुसन्धानाद्दुःख-
हेतुरेवेति नित्यवैरिणेत्युक्तिः, तस्मात् सर्वथा हन्तव्य इति भावः ।
किञ्च दुष्पूरेणेति च-शब्द इवार्थः । तत्रानलो यथा हविषा पूर-
यितुमशक्यस्तथा भोगेन काम इत्यर्थः । स्मृतिश्चैवमाह—“न

जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मव
भूय एवाभिवर्द्धते ॥” इति । तस्मात् सर्वेषां स नित्यवैरीति ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

सारा०व०—कासौ तिष्ठत्यत आह—इन्द्रियाणीति । अस्य
वैरिणः कामस्याधिष्ठानं महादुर्गराजधान्यः, शब्दादयो विषयास्तु
तस्य राज्ञो देशा इति भावः । एतैरिन्द्रियादिभिर्देहिनं जीवम् ॥४०॥

गी०भू०—वैरिणः कामस्य दुर्गेषु निजितेषु तस्य जयः सुकर
इति तान्याह—इन्द्रियाणीति । विषयश्रवणादिना सङ्कल्पेनाध्य-
वसायेन च कामस्याभिव्यक्तेः श्रोत्रादीनि च मनश्च बुद्धिश्च तस्या-
धिष्ठानं महादुर्गराजधानीरूपं भवति विषयास्तु तस्य तस्य जन-
पदा बोध्याः । एतैर्विषयसञ्चारिभिर्निन्द्रियादिभिर्देहिनं प्रकृतिसृष्ट-
देहवन्तं जीवमात्मज्ञानोद्यतमेष कामो विमोहयति—आत्मज्ञान-
विमुखं विषयरसप्रवणञ्च करोतीत्यर्थः ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

सारा०व०—वैरिणः खत्वाश्रये जिते सति वैरी जीयत इति
नीतिरतः कामस्याश्रयेष्विन्द्रियादिषु यथोत्तरं दुजेयत्वाधिक्यम् ।
अतः प्रथमप्राप्तानीन्द्रियाणि दुर्जनान्यप्युत्तरापेक्षया सुजयानि,
प्रथमं ते जीयन्तामित्याह—तस्मादिति । इन्द्रियाणि नियम्ये
यद्यपि परस्त्रीपरद्रव्याद्यपहरणे दुर्निवारं मनो गच्छत्येव, तदपि
तत्र तत्र नेत्रश्रोत्रकरचरणादीन्द्रियव्यापारस्थ-गणनादिन्द्रियाणि
न गमयेत्यर्थः । पाप्मानमत्युग्रं कामं जहीतीन्द्रियव्यापारस्थ-
गणनमतिकालेन मनोऽपि कामाद्विच्युतं भवतीति भावः ॥४१॥

गी०भू०—यस्मादयं कामरूपो बैरी निखिलेन्द्रियव्यापारविर-
तिरूपायात्मज्ञानायोद्यतस्य विषयरसप्रवणैरिन्द्रियैर्ज्ञानमावृणोति
तस्मात्, प्रकृतिसृष्टदेहादिमांस्त्वमादावात्मज्ञानोदयायारम्भकाल
एवेन्द्रियाणि सर्वाणि तद्व्यापाररूपे निष्क्रामे कर्मयोगे नियम्य
प्रवर्णानि कृत्वा एनं पाप्मानं कामं शत्रुं प्रजहि विनाशय । हि
यस्माज्ज्ञानस्य शास्त्रीयस्य देहादिर्बाधतात्मविषयकस्य विज्ञानस्य
च तादृगात्मानुभवस्य नाशनमावरकम् ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

सारा०व०—न च प्रथममेव मनोबुद्धि-जये यतनीयमशक्य-
त्वादित्याह—इन्द्रियाणि पराणीति । दश-दिग्विर्जायिभिरपि
बीरैर्दुर्जयत्वादतिबलत्वेन श्रेष्ठानीत्यर्थः । इन्द्रियेभ्यः सकाशा-
दापि प्रबलत्वान्मनः परम्—स्वप्ने स्वात्वेन्द्रियेष्वपि नष्टेष्वनश्वर-
त्वादिति भावः, मनसः सकाशादापि परा प्रबला बुद्धिविज्ञान-
रूपा, सुषुप्तौ मनस्यपि नष्टे तस्याः सामान्याकाराया अनश्वरत्वा-
दिति भावः । तस्या बुद्धेः सकाशादापि परतो बलाधिक्येन यो
वर्त्तते—तस्यामपि ज्ञानाभ्यासेन नष्टायां सत्यां यो विराजत
इत्यर्थः ; स तु प्रसिद्धो जीवात्मा कामस्य जेता । तेन वस्तुतः
सर्वतोऽप्यतिप्रबलेन जीवात्मनेन्द्रियादीन् विजित्य कामो
विजेतुं शक्य एवेति नात्रासम्भावना कार्य्येति भावः ॥४२॥

गी०भू०—ननु मुद्रितयन्त्राम्बुन्यायेन निष्कामकर्मप्रवणत-
येन्द्रियानयमने कामक्षतिरिति त्वया प्रदर्शितम् । अथ दैहिककर्म-
काले मुक्तयन्त्राम्बुन्यायेनेन्द्रियवृत्तिप्रसारे कामस्य पुनरुज्जीवता-
पात्ताः स्यादिति तत्र 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा' इति पूर्वोपदिष्टेन
विदित्वात्मानुभवेन निःशेषा तस्य क्षतिः स्यादिति दर्शयति—

इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम् । पाञ्चभौतिकादेहादिन्द्रियाणि परा-
ण्याहुः पण्डिताः । तच्चालिकत्वात्ततोऽतिसूक्ष्मत्वात्ताद्विनाशोऽविना-
शाच्च ; इन्द्रियेभ्यो मनः परं जागरे तेषां प्रवर्त्तिकत्वात् स्वप्ने
तेषु स्वप्निन् विलीनेषु राज्यकर्त्तृत्वेन स्थितत्वाच्च । मनसस्तु बुद्धिः
परा, निश्चयात्मकबुद्धिवृत्त्यैव सङ्कल्पात्मकमनोवृत्तोः प्रसरात् ।
यस्तु बुद्धेरपि परतोऽस्ति, स देही जीवात्मा चित्स्वरूपो देहादि-
बुद्ध्यन्तविविक्ततयानुभूतः सन्निःशेषकामक्षतिहेतुर्भवतीति । कठा-
श्चैवं पठन्ति—“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मन-
सस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरैवात्मा महान् परः ॥” इत्यादि । अस्यार्थः—
इन्द्रियेभ्योऽर्था विषयास्तदाकर्षित्वात् पराः प्रधानभूताः । विषये-
न्द्रियव्यवहारस्य मनोमूलत्वादर्थेभ्यो मनः परं विषयभोगस्य
निश्चयपूर्वकत्वात् संशयात्मकान्मनसो निश्चयात्मिका बुद्धिः परा
बुद्धेर्भोगोपकरणत्वात्तस्याः सकाशाद्बोक्तात्मा जीवः परः स
चात्मा महान् देहेन्द्रियान्तःकरणस्वामीति दैहिकं कर्म तु पूर्वा-
भ्यासबशाच्चक्रभ्रमिवत् सेत्स्यति ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

सारा०व०—उपसंहरति—एवमिति । बुद्धेः परं जीवात्मानं
बुद्ध्वा सर्वोपाधिभ्यः पृथग्भूतं ज्ञात्वाऽऽत्मना स्वेनैवात्मानं स्वं
संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा दुरासदं दुर्जयमपि कामं जहि नाशय ॥४३॥

अध्यायेऽस्मिन् साधनस्य निष्कामस्यैव कर्मणः ।

प्राधान्यमूचे तत्साध्यज्ञानस्य गुणतां बधन् ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
तृतीयः खलु गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

—५२१—

गी०भू०—एवमिति—एवं मदुपदेशविधया बुद्धेश्च परं देहा-
दिनिखिलजडवर्गप्रवर्त्तकत्वाद्विबिक्तं सुखचिद्धनं जीवात्मानं
बुद्ध्यानुभूयेत्यर्थः । आत्मना ईदृशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्यात्मानं
मनः संस्तभ्य तादृश्यात्मनि स्थिरं कृत्वा कामरूपं शत्रुं जहि
नाशय ; दुरासदं दुर्द्धर्षमपि । महाबाहो इति प्राग्वत् ॥४३॥

निष्कामं कर्म मुख्यं स्याद्गौणं ज्ञानन्तदुद्भवम् ।

जीवात्म-दृष्टावित्येष तृतीयोऽध्याय-निर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

सा०व०—तुय्ये स्वाविर्भावहेतोर्नित्यत्वं जन्मकर्मणोः ।

स्वस्योक्तं ब्रह्मयज्ञादिज्ञानोत्कर्षप्रपञ्चनम् ॥ (१)

सारा०व०—अध्यायद्वयेनोक्तं निष्कामकर्मसाध्यं ज्ञानयोगं
स्तौति—इममिति ॥१॥

गी०भू०—

तुय्ये स्वाभिव्यक्तिहेतुं स्वलीलानित्यत्वं सत्कर्मसु ज्ञानयोगम् ।
ज्ञानस्यापि प्राग्यन्माहात्म्यमुच्चैः प्राख्यद्देवो देवकीनन्दनोऽसौ ॥

गी०भू०—पूर्वाध्यायाभ्यामुक्तं ज्ञानयोगं कर्मयोगश्चैक-
फलत्वादेकीकृत्य तद्वंशं कीर्त्तयन् स्तौति—इममिति । इमं त्वां
प्रत्युक्तं योगं पुरा भक्ताय सर्वश्रितयान्ववाय वीजाय विवस्वते
सूर्यायाहं प्रोक्तवान् । अव्ययं नित्यं वेदार्थत्वान्नव्येति स्वफला-
दित्यव्यभिचारिफलत्वाच्च । स च मच्छिष्यो विवस्वान् स्व-
पुत्राय मनवे वैवस्वताय प्राह, स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्राया-
ब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सारा०व०—त्वां प्रत्येवास्य प्रोक्तत्वे हेतुः—भक्तो दासः
सखा चेति भावद्वयमन्यन्त्वर्वाचीनं प्रत्येबाबक्तव्यत्वे हेतुः—
रहस्यमिति ॥३॥

गी०भू०—एवं विवस्वन्तमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं
योगं राजर्षयः स्वपित्रादिभिरिक्ष्वाकुप्रभृतिभिरुपदिष्टं विदुः ।
इह लोके, नष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायः ॥ २ ॥

स एव तदानुपूर्विकवचनवाच्यो योगो मया त्वत्सखेना-
तिस्निग्धेन ते तुभ्यं मत्सखायेति स्निग्धाय प्रोक्तस्त्वं मे भक्तः
प्रपन्नः सखा चासीति हेतोः न त्वन्यस्मै कस्मैचित् । तत्र
हेतुः—रहस्यमिति । हि यस्मादुत्तमं रहस्यमिति गोप्यमेतत् ॥३॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

सारा०व०—उक्तमर्थमसम्भवं पृच्छति—अपरमिदानीन्तनम्, परं पुरातनमतः कथमेतत् प्रत्येमीति भावः ॥४॥

गी०भू०—कृष्णस्य सनातनत्वे साव्वज्ञे च शङ्कमानानन-
भिज्ञान् निराकर्त्ता मर्जुन उवाच—अपरमिति । अपरमर्वा-
चीनं परं पराचीनं तस्मादाधुनिकस्त्वं प्राचीनाय विबन्धते
योगमुक्तवानित्येतत् कथमहं विजानीयां प्रतीयाम । अयमर्थः,—न
खलु सर्वेश्वरत्वेन कृष्णमर्जुनो न वेत्ति तस्य नराख्यतद-
बतारत्वेन ताद्रूप्यात् “परं ब्रह्म परं धाम” इत्यादि तदुक्तेश्च ।
किन्तु देवक्रयां जातत्वेन मनुष्यभावेन चाभ्यूदितां तत्सनात-
नत्वतत्सर्वज्ञविषयामज्ञशङ्कामपाकर्त्ता अपरमित्यादि पृच्छति ।
सर्वेश्वरः स यथा स्व—तत्त्वं वेत्ति न तथान्यः । ततस्तन्मुखा-
ग्बुजादेव तद्रूपतज्जन्मादि प्रकाशनीयं लोकमङ्गलाय । तदर्थं
स्वमहिमानं प्रवदन् विकथनतया स नाक्षेप्यः, किन्तु स्तवनीय
एव कृपालुतया । तच्च मनुष्याकृतिपरब्रह्मणस्तव रूपं जन्मादि
च लोकविलक्षणं किंविधं किमथकं किंकालकमिति विज्ञस्याप्या-
ज्ञवत् प्रश्नोऽयमज्ञशङ्का-निरासकप्रतिबचनाथः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

वह्नि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

सारा०व०—अवतारान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणाह बहु-
नीति । तव चेति यदा यदैव ममावतारस्तदा मत्पार्षदत्वात्ता-
बाप्याबिर्भाबोऽभुदेवेत्यर्थः । वेद वेद्मि सर्वेश्वरत्वेन सर्वज्ञत्वात् ।
त्वं न वेत्थ मयैव स्वलीलासिद्धयर्थं त्वज्ज्ञानावरणादिति भावः ।
अतएव हे परन्तप ! साम्प्रतिक-कुन्तीपुत्रत्वाभिमानमात्रेणैव परान्
शत्रून् स्तापयसि ॥५॥

गी०भू०—एक एवाहं “एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति”
इत्यादि श्रुत्युक्तानि नित्यसिद्धानि वह्नि रूपाणि वैदूर्यबदा-
त्मनि दधानः पुरा रूपान्तरेण तं प्रत्युपदिष्टवान् इति भावेनाह
भगवान्—वह्नीति । तव चेति मत्सखत्वात्तावन्ति जन्मानि
तवाप्यभूवान्नित्यर्थः । न त्वं वेत्थेति । इदानीं मयैवाचिन्त्य-
शक्त्या स्वलीला-सिद्धये त्वज् ज्ञानाच्छादनादिति भावः ।
एतेन साव्वज्ञ्यं स्वस्य दर्शितम् । अत्र भगवज्जन्मनां वास्तवत्वं
बोध्यं;—वह्नीत्यादि श्रीमुखोक्तेस्तव चेति दृष्टान्ताच्च । न च
जन्माख्यो विकारस्तस्याग्रिमव्याख्यया प्रत्याख्यानात् ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

सा०व०—स्वस्य जन्मप्रकारमाह—अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन्
सम्भवामि, देवमनुष्यतिर्यग्गादिषु आबिर्भवामि । ननु किमत्र
चित्रम्?—जीवोऽपि बस्तुतोऽज एव स्थूलदेहनाशानन्तरं जायत
एव ? तत्राह—अव्ययात्माऽनश्वरशरीरः । किञ्च, जीवस्य स्वदेह-
भिन्नस्वस्वरूपेणाजत्वमेव, आबिद्यकैर्न देहसम्बन्धेनैव तस्य जन्म-
बत्त्वम्, मम स्वीश्वरत्वात् स्वदेहाभिन्नस्याजत्वं जन्मबत्त्वमित्यु-
भयमपि स्वरूपसिद्धम् । तच्च दुर्घटत्वात् चित्रमतव्यमेव । अतः
पुण्यपापादिमतो जीवस्येव सदसद्योनिषु न मे जन्माशङ्के-
त्याह—भूतानामीश्वरोऽपि सन् कर्म-पारतन्त्र्यरहितोऽपि भूत्वे-
त्यर्थः । ननु जीवो हि लिङ्गशरीरेण स्वबन्धकेन कर्मप्राप्यान्
देवादि-देहान् प्राप्नोति । त्वं परमेश्वरो लिङ्गरहितः सर्वव्यापकः
कर्मकालादि-नियन्ता ; “बहु स्याम्” इति श्रुतेः सर्वजगद्रूपा
भवस्येव । तदपि यद्विशेषत एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामीति ब्रूये,
तन्मन्ये सर्वजगाद्विलक्षणान् देहविशेषान् नित्यानेव लोके प्रकाश-

यितुं त्वज्जन्मेत्यवगम्यते । तत् खलु कथमित्यत आह-प्रकृतिं स्वा-
मधिष्ठायेति । अत्र प्रकृति-शब्देन यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिरुच्यते,
तदा तदधिष्ठाता परमेश्वरस्तद्द्वारा जगद्रूपो भवत्येवेति न विशे-
षोपलब्धिः । तस्मात् “संसिद्धिप्रकृती त्विमे स्वरूपश्च स्वभावश्च”
इत्यभिधानादत्र प्रकृतिशब्देन स्वरूपमेवोच्यते । न तत् स्वरूप-
भूता मायाशक्तिः, स्वरूपश्च तस्य सच्चिदानन्द एव ; अतएव
“स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिम्” इति श्रीश्वामिचरणाः ; “प्रकृतिं
स्वभावं स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वरूपेण स्वेच्छया सम्भवा-
मीत्यर्थः” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः । प्रकृतिं स्वभावं
सच्चिदानन्दधनैकरसम् ; मायां व्यावर्त्तयति—स्वामिति—निज-
स्वरूपमित्यर्थः । “स भगवंः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नि”
इति श्रुतेः । “स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सम्भवामि,
देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि” इति श्रीमधुसूदनसर-
स्वतीपादाः । ननु यद्यव्ययात्मा—अनश्वर-मत्स्यकूर्मादिस्वरूप
एव भवसि, तर्हि तव प्रादुर्भवत्स्वरूपं पूर्वप्रादुर्भूतस्वरूपाणि
च युगपदेव किं नोपलभ्यन्ते ? तत्राह—आत्मभूता या माया तया
स्वस्वरूपावरणप्रकाशन-कर्म च यथा चिच्छाक्तवृत्त्या योगमायये-
त्यर्थः । तया हि पूर्वकालावतीर्णस्वरूपाणि पूर्वमेवावृत्य वर्त्ता-
मानस्वरूपं प्रकाश्य सम्भवामि । “आत्ममायया सम्यक्प्रच्युत-
ज्ञानवल-वीर्यादिशक्त्यैव भवामि” इति श्रीश्वामिचरणाः ;
आत्ममाययाऽऽत्मज्ञानेन—“माया बयुनं ज्ञानम्” इति ज्ञान-
पर्यायोऽत्र माया-शब्दः ; तथा चाभियुक्तप्रयोगः—“मायया
सततं वेत्ति प्राचीनानां शुभाशुभम्” इति श्रीरामानुजाचार्य-
चरणाः ; “मायि भगवति बासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण
प्रतीतिः मायामात्रम्” इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः ॥६॥

गी०भू०—लोकविलक्षणतया स्वरूपं स्वजन्म च बद्धं सना-
तनत्वं स्वस्याह-अजोऽपीति । अत्र स्वरूपस्वभावपर्यायः “प्रकृति”
शब्दः, स्वां प्रकृतिं स्वं स्वरूपं अधिष्ठायालम्ब्य सम्भवामि आबि-
र्भवामि । संसिद्धिप्रकृती त्विमे ; “स्वरूपश्च स्वभावश्च” इत्यमरः,
स्वरूपेणैव सम्भवामीति । एतमर्थं विवरितुं विशिनष्टि—अजो-
ऽपीत्यादिना । “अपि” अवधारणे । अपूर्वदेहयोगो जन्म, तद्रहित
एव सन् । अव्ययात्मापि सन् अव्ययः परिणामशून्य आत्मा
बुद्ध्यादिर्यस्य तादृश एव सन् । “आत्मा पुंसि” इत्याद्युक्तेः । भूता-
नामीश्वरोऽपि सन् स्वेतरेषां जीवानां नियन्तैव सन् इत्यर्थः । अज-
त्वादिगुणकं यद्विभुज्ञानसुखधनं रूपं तेनैवावतरामीति स्वरूपेणैव
संभवामीत्यस्य विवरणं तादृशस्य स्वरूपस्य स्वेतिबाभिव्यक्ति-
मात्रमेव जन्मेति तत्स्वरूपस्य तज्जन्मनश्च लोकविलक्षणत्वं तेन
सनातनत्वञ्च व्यक्तम् ; कर्मतन्त्रत्वं निरस्तम् । अतिश्रैवमाह—
“अजायमानो बहुधा विजायते” इति । स्मृतिश्च—“प्रत्यक्षं च हरे-
र्जन्मन बिकारः कथञ्चन” इत्याद्या । अतएव सूतिकागृहे दिव्यायुध-
भूषणस्य दिव्यरूपस्य षडैश्वर्यसम्पन्नस्य तस्य बीक्षणं स्मर्यते ।
प्रयोजनमाह—आत्ममाययेति—भजजीवानुकम्पया हेतुना तदुद्धारा-
येत्यर्थः—“माया दम्भे कृपायाञ्च” इति विश्वः, आत्ममायया स्व-
सार्वज्ञेन स्वसङ्कल्पेनेति केचित्, “माया बयुनं ज्ञानञ्च” इति
निर्घण्टकोषात् । लोकः खलु राजादिः पूर्वदेहादीनि बिहाया-
पूर्वदेहादीनि भजन्निरनुसन्धिरज्ञो जन्मी भवतीति तद्वैलक्षण्यं हरे-
र्जन्मनः प्रस्फुटम् । भूतानामीश्वरोऽपि सन्नित्यनेन लब्धासद्भयो
योगिप्रभृतयोऽपि व्यावृत्ताः । सुखादिधनो हरिर्देहदेहिभेदेन
गुणगुणिभेदेन च शून्योऽपि विशेषबलात्तत्त्वावेन विदुषां प्रती-
तिरासीदिति ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

सारा०व०—कदा संभवामीत्यपेक्षायामाह—यदेति । धर्मस्य ग्लानिर्हानिरधर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिस्ते द्वे सोढुं मशक्नुवन् तयो-
र्वैपरीत्यं कर्तुं मिति भावः । “आत्मानं देहं सृजामि, नित्य-
सिद्धमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया” इति श्रीमधुसूदन-
सरस्वतीपादाः ॥७॥

गी०भू०—अथ सम्भवकालमाह—यदेति । धर्मस्य वेदो-
क्तस्य ग्लानिर्विनाशः अधर्मस्य तद्विरुद्धस्याभ्युत्थानमभ्युदयः
तदाहमात्मानं सृजामि प्रकटयामि, न तु निर्म्ममे—तस्य पूर्व-
सिद्धत्वादिति नास्ति मत्सम्भवकालनियमः ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

सारा०व०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्म-
हान्यधम्मवृद्धी दूरीकर्तुं शक्नुवन्त्येव ; एतावदर्थमेव किं तवा-
वतारेण ? इति चेत्, सत्यम् । अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म कर्तुं
सम्भवामीत्याह—परीति—साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां
मदर्शनोत्कण्ठास्फुटचित्तानां यद्वैयर्थ्यरूपं दुःखम्, तस्मात्
त्राणाय । तथा दुष्कृतां मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्वैरवध्यानां
रावणकंसकेश्यादीनां विनाशाय । तथा धर्मसंस्थापनार्थाय
मदीयध्यानयजनपरिचर्यासंकीर्त्तनलक्षणं परमधर्मं मदन्वै-
प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः । युगे युगे
प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा । न चैवं दुष्टनिग्रहकृतो भगवतो वैषम्य-
माशङ्कनीयम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्त्तृकबधेन विविधदुष्कृत-

फलान्नरकसहप्रणिपातात् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु
निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः ॥८॥

गी०भू०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयोऽपि धर्मग्लानिमधर्माभ्यु-
त्थानं चापनेतुं प्रभवन्ति तावतेऽर्थाय किं सम्भवसीति चेदस्ति
मदन्यदुष्करं कार्यं तदर्थं सम्भवामीति आह—परीति—साधूनां
मद्रूपगुणनिरतानां मत्साक्षात्कारमाकाङ्क्षयतां तेन विनातिव्य-
प्राणां तद्वैयर्थ्यरूपात् दुःखात् परित्राणायतिमनोज्ञस्वरूपसा-
क्षात्कारेण । तथा दुष्कृतां दुष्टकर्मकारिणां मदन्वैरवध्यानां दश-
ग्रीव-कंसादीनां तादृग्भक्तद्रोहिणां विनाशाय धर्मस्य मदे-
कार्त्तनध्यानादिलक्षणस्य शुद्धभक्तियोगस्य वैदिकस्यापि मदितरैः
प्रचारयितुमशक्यस्य संस्थापनार्थाय संप्रचारायेत्येतत् त्रयं मत्स-
म्भवस्य कारणमिति । युगे युगे तत्तत्समयेन च दुष्टबधेन हरौ
वैषम्यं, तेन दुष्टानां मोक्षानन्दलाभे सति तस्यानुग्रहरूपत्वेन परि-
णामात् ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

सारा०व०—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्क-
र्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति ।
“दिव्यमप्राकृतम्” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदन-
सरस्वतीपादाश्च ; “दिव्यमलौकिकम्” इति श्रीस्वाभिचरणाः ।
लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वादलौकिक—शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थस्तेषा-
मप्यभिप्रेतः । अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्मकर्म-
णोर्नित्यत्वम् । तच्च भगवत्सन्दर्भे—“न विद्यते यस्य च जन्म कर्म
वा” इत्यत्र श्लोके श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम् ; यद्वा,
युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्यबलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम् ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

सारा०व०—कदा संभवामीत्यपेक्षायामाह—यदेति । धर्मस्य ग्लानिर्हानिरधर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिस्ते द्वे सोढुं मशक्नुवन् तयोर्वैपरीत्यं कर्तुं मिति भावः । “आत्मानं देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया” इति श्रीमधुसूदन-सरस्वतीपादाः ॥७॥

गी०भू०—अथ सम्भवकालमाह—यदेति । धर्मस्य वेदोक्तस्य ग्लानिर्विनाशः अधर्मस्य तद्विरुद्धस्याभ्युत्थानमभ्युदयः तदाहमात्मानं सृजामि प्रकटयामि, न तु निर्म्ममे—तस्य पूर्वसिद्धत्वादिति नास्ति मत्सम्भवकालनियमः ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

सारा०व०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्महान्यधम्मवृद्धौ दूरीकर्तुं शक्नुवन्त्येव ; एतावदर्थमेव किं तवावतारेण ? इति चेत्, सत्यम् । अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म कर्तुं सम्भवामीत्याह—परीति—साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां महर्शनोत्कण्ठास्फुटचित्तानां यद्वैयर्थ्यरूपं दुःखम्, तस्मात्त्राणाय । तथा दुष्कृतां मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्वैरवध्यानां रावणकंसकेश्यादीनां विनाशाय । तथा धर्मसंस्थापनार्थाय मदीयध्यानयजनपरिचर्यासंकीर्तनलक्षणं परमधर्मं मदन्वैः प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः । युगे युगे प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा । न चैवं दुष्टनिग्रहकृतो भगवतो वैषम्यमाशङ्कनीयम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्तृकबधेन विविधदुष्कृत-

फलान्नरकसहप्रणिपातात् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः ॥८॥

गी०भू०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयोऽपि धर्मग्लानिमधर्माभ्युत्थानं चापनेतुं प्रभवन्ति तावतेऽर्थाय किं सम्भवसीति चेदस्ति मदन्वदुष्करं कार्यं तदर्थं सम्भवामीति आह—परीति—साधूनां मद्रूपगुणनिरतानां मत्साक्षात्कारमाकाङ्क्षयतां तेन विनातिव्यप्राणां तद्वैयर्थ्यरूपात् दुःखात् परित्राणायामिमनोज्ञस्वरूपसाक्षात्कारेण । तथा दुष्कृतां दुष्टकर्मकारिणां मदन्वैरवध्यानां दशप्रीव-कंसादीनां तादृग्भक्तद्रोहिणां विनाशाय धर्मस्य मदेकार्चनध्यानादिलक्षणस्य शुद्धभक्तियोगस्य वैदिकस्यापि मदितरैः प्रचारयितुमशक्यस्य संस्थापनार्थाय संप्रचारायेत्येतत् त्रयं मत्सम्भवस्य कारणमिति । युगे युगे तत्तत्समयेन च दुष्टबधेन हरौ वैषम्यं, तेन दुष्टानां मोक्षानन्दलाभे सति तस्यानुग्रहरूपत्वेन परिणामात् ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

सारा०व०—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्कर्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति । “दिव्यमप्राकृतम्” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदन-सरस्वतीपादाश्च ; “दिव्यमलौकिकम्” इति श्रीस्वामिचरणाः । लोकानां प्रकृतिसृष्ट्वादलौकिक—शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थस्तेषामप्यभिप्रेतः । अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वम् । तच्च भगवत्सन्दर्भे—“न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा” इत्यत्र श्लोके श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम् ; यद्वा, युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्यबलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम् ।

तत्र पिप्पलाद-शाखायां पुरुषबोधनी श्रुतिः—“एको देवो नित्य-
लीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा” इति । तथा जन्म-
कर्मणोर्नित्यत्वं श्रीभागवतामृते बहुश एव प्रपञ्चितम् । एवं ‘यो
वेत्ति तत्त्वतः’ इति, ‘अजोऽपि सन्नव्ययात्मा’ इत्यस्मिन्तथा
‘जन्म कर्म च मे दिव्यम्’ इत्यस्मिन् मद्वाक्य एनास्तिकतया
मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वमेव यो जानाति, न तु तयोर्नित्यत्वं
काश्चिद्युक्तिमप्यपेक्षमाणो भवतीत्यर्थः ; यद्वा, तत्त्वतः ‘ॐ तत्
सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः’ इत्यग्रिमोक्तेस्तच्छब्देन
ब्रह्मोच्यते ; तस्य भावस्तत्त्वं तेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन यो वेत्तीत्यर्थः ।
स वर्त्तमानं देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, किन्तु मामेवैति । अत्र
देहं त्यक्त्वेत्यस्याधिक्यादेवं व्याचक्षते स्म । स देहं त्यक्त्वा
पुनर्जन्म नैति किन्तु देहमत्यक्त्यैव मामेति । “मदीयदिव्यजन्म-
चेष्टितयाथार्थ्यज्ञानेन बिध्वस्तसमस्तसमाश्रयणबिरोधिपाप्मा
अस्मिन्नेव जन्मनि मामाश्रित्य मदेकप्रियो मामेव प्राप्नोति” इति
श्रीरामानुजाचार्यचरणाः ॥६॥

गी०भू०—बहुलायासैः साधनसहस्रैरपि दुर्लभो मोक्षो
मज्जन्मचरितश्रवणेन मदेकान्तिपथानुवर्तिनां सुलभोऽस्त्वित्ये-
तदर्थञ्च सम्भवामीत्याशयाभग वानाह—जन्मेति । मम सर्व-
श्वरस्य सत्यं च्छस्य बैदूर्यबान्नित्यसिद्धनृसिहरघुनाथादिबहुरूपस्य
तत्र तत्रोक्तलक्षणं जन्म तथा कर्म च तत्तद्भक्तसम्बन्धं चरितं
तदुभयं दिव्यमप्राकृतं नित्यं भवतीत्येवमेवैतदिति यस्त्वत्त्वतो
वेत्ति यद्गतं भवञ्च भविष्यञ्च “एको देवो नित्यलीलानु-
रक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा” इति श्रुत्या दिव्यमिति
मदुक्त्या च दृढश्रद्धो युक्तिनिरपेक्षः सन्, हे अर्जुन ! स वर्त्त-
मानं देहं त्यक्त्वा पुनः प्रापञ्चिकं जन्म नैति, किन्तु मामेव
तत्तत्कर्ममनोज्ञमेति मुक्तो भवतीत्यर्थः, यद्वा मोचकत्वलिङ्गेन

“तत्त्वमसि” इति श्रुतेश्च मे जन्मकर्मणी तत्त्वतो ब्रह्मत्वेन यो
वेत्तीति व्याख्येयम् । इतरथा “तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति नान्यः
पन्था विद्यते अयनाय” इति श्रुतिर्व्याकुप्येत् । समानमन्यत् ।
जन्मादिनित्यतायां युक्तयस्त्वन्यत्र विस्तृता द्रष्टव्याः ॥६॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

सा०व०—न केवलमेक एवाधुनिक एव, मज्जन्मकर्मतत्त्वज्ञानमात्रे-
णैव मां प्राप्नोत्यपि तु प्राक्तना अपि पूर्वपूर्वकल्पावतीर्णस्य
मम जन्मकर्मतत्त्वज्ञानवन्तो मामापुरेवेत्याह—वीतेति । “ज्ञान-
मुक्तलक्षणं मज्जन्मकर्मणोस्तत्त्वतोऽनुभवरूपमेव तपस्तेन पूताः”
इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः । यद्वा, ज्ञाने मज्जन्मकर्मणोर्नित्य-
त्वान्निश्चयानुभवे यन्नानाकुमतकुतर्ककुयुक्तिसर्पीबिषदाहसहनरूपं
तपस्तेन पूताः ; तथा च श्रीरामानुजभाष्यधृता श्रुतिः—“तस्य
धीराः परिजानन्ति योनिम्” इति—धीरा धीमन्त एव तस्य
योनिं जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः । वीतास्त्यक्ताः कुमतप्रजल्प-
तेषु जनेषु रागाद्या यैस्ते न तेषु रागः प्रीतिर्नापि तेभ्यो भयं
नापि तेषु क्रोधो मद्भक्तानामित्यर्थः । कुतो मन्मया मज्जन्म-
कर्मानुध्यानमननश्रवणकीर्त्तनादिप्रचुराः । मद्भावं मयि प्रेमा-
णम् ॥ १० ॥

गी०भू०—इदानीमिव पुरापि मज्जन्मादिनित्यता-ज्ञानेन
बहूनां विमुक्तिरभूदिति तन्नित्यतां द्रढयितुमाह—वीतेति । बहवो
जना ज्ञानतपसा पूताः सन्तः पुरा मद्भावमागता इत्यनुषङ्गः ।
मज्जन्मादिनित्यत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेव दुरधिगमश्रुतियुक्ति-
सम्पाद्यत्वात्तपस्तस्मिन् ज्ञाने वा यद्बिबिधकुमतकुतर्कादिनिवा-
रणरूपं तपस्तेन पूता निर्धूताविद्या इत्यर्थः । मयि भावं प्रेमाणं

विद्यमानतां वा मत्साक्षात्कृतिम् । कीदृशास्ते इत्याह--बीतेति-
वीताः परित्यक्तास्तन्नित्यत्वविरोधिषु रागादयो यैस्ते, न तेषु
रागं न भयं न च क्रोधं प्रकाशयन्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः--मन्मया
मदेकनिष्ठा उपाश्रिताः संसेवमानाः ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

सारा०व०--ननु त्वदेकान्तभक्ताः किल तज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं
मन्यन्त एव, केचित्तां ज्ञानादिसिद्धयर्थं त्वां प्रपन्ना ज्ञानिप्रभृ-
तयस्त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं नापि मन्यन्त इति तत्राह-य इति ।
यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तेनैव प्रकारेण
भजामि, भजनफलं ददामि । अयमर्थः--ये मत्प्रभोज्जन्मकर्मणी
नित्ये एवेति मनांस कुर्वाणास्तत्तल्लीलायामेव कृतमनोरथविशेषा
मां भजन्तः सुखयन्त्यहमपीश्वरत्वात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु-
मपि समर्थस्तेषामपि जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं कर्त्तुं तान् स्वपार्षदी-
कृत्य तैः साद्धमेव यथासमयमवतरन्नन्तर्द्धानश्च तान् प्रतिक्षण-
मनुगृह्णन्नेव तद्भजनफलं प्रेमाणमेव ददामि । ये ज्ञानिप्रभृतयो
मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मद्विग्रहस्य मायामयत्वञ्च मन्यमानाः मां
प्रपद्यन्ते अहमपि तान् पुनः पुनर्नश्वरजन्मकर्मवतो मायापाशपति-
तानेव कुर्वाणस्तत्प्रतिफलं जन्ममृत्युदुःखमेव ददामि । ये तु मज्जन्म-
कर्मणोर्नित्यत्वं मद्विग्रहस्य च सच्चिदानन्दत्वं मन्यमाना ज्ञानिनः
स्वज्ञानसिद्धयर्थं मां प्रपद्यन्ते, तेषां स्वदेहद्वयभङ्गमेवेच्छतां मुमु-
क्षूणामनश्वरं ब्रह्मानन्दमेव सम्पादयन् भजनफलमाविद्यकजन्म-
मृत्युध्वंसमेव ददामि । तस्मान्न केवलं मद्भक्ता एव मां प्रपद्यन्ते,
अपि तु सर्वशः सर्वेऽपि मनुष्या ज्ञानिनः कर्मिणो योगिनश्च
देवतान्तरोपासकाश्च मम वर्त्मानुवर्तन्ते--मम सर्वस्वरूपत्वात्

ज्ञानकर्मणादिकं सर्वं मामकमेव वर्त्तेति भावः ॥११॥

गी०भू०--ननु नित्यजन्मादिमनोज्ञः सर्वेश्वरस्त्वं मयावगत-
कचित्त्वङ्गुष्ठमात्रादिरपीश्वरो जन्मादिशून्यः श्रूयते, तत् किं तव
त्वदुपासनस्य च वैबिध्यं भवेदिति चेदोमित्याह--ये यथेति । ये
भक्ता मामेकं वैदूर्यमिव बहुरूपं सर्वेश्वरं यथा येन प्रकारेण
भावेनेति यावत् प्रपद्यन्ते भजन्ति, तानहं तादृशस्तथैव तद्भावानु-
सारिणा रूपेण भावेन च भजामि साक्षात् भवन्ननुगृह्णामि । नून-
तामेवकारो निवर्त्तयति, अतो ममैकस्यैव बहुरूपस्य वत्सु बहुविध-
मुपासनमार्गमनादिप्रवृत्ततदुपासकपरम्परानुकम्पिता मनुष्याः
सर्वे अनुवर्त्तन्ते अनुसरन्ति ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्वद्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

सारा०व०--तत्रापि मनुष्येषु मध्ये कामिनस्तु मम साक्षाद्-
भूतमपि भक्तिमार्गं परिहाय शीघ्रफलसाधकं कर्मवर्त्म एवानु-
वर्त्तन्त इत्याह-काङ्क्षन्त इति । कर्मजा सिद्धिः स्वर्गादिमयी ॥१२॥

सारा०व०--ननु भक्तिज्ञानमार्गौ मोक्षकौ, कर्ममार्गस्तु
बन्धक इति सर्वमार्गस्त्रिष्टयि त्वयि परमेश्वरे वैषम्यं प्रसक्तम्,
तत्र नहि नदीत्याह-चातुर्वर्ण्यमिति । चत्वारो वर्णा एव चातुर्व-
र्ण्यम्--स्वार्थे ष्यब् । अत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां शम-
दमादीनि कर्माणि ; रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां शौर्ययुद्धा-
दीनि कर्माणि, तमोरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिगोरक्षादीनि
कर्माणि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां परिचर्यात्मकं कर्मेत्येवं गुण-

कर्मविभागशो गुणानां कर्मणाञ्च विभागैश्चत्वारो वर्णा मया कर्ममार्गाश्रितत्वेन सृष्टाः । किन्तु तेषां कर्त्तारं स्रष्टारमपि माम-कर्त्तारमस्रष्टारमेव विद्धि, तेषां प्रकृतिगुणसृष्टत्वात् प्रकृतेश्च मच्छक्तित्वात्, स्रष्टारमपि मां वस्तुतस्त्वस्रष्टारम्, मम प्रकृति-गुणातीतस्वरूपत्वादिति भावः । अतएवाव्ययम्—सृष्टृत्वेऽपि न साम्यं किञ्चिदेवेत्यर्थः ॥१३॥

गी०भू०—एवं प्रासङ्गिकं प्रोच्य प्रकृतस्य निष्कामकर्मणो ज्ञानाकारत्वं बदिष्यंस्तदनुष्ठातुविरलत्वमाह—काङ्क्षन्त इति । इह लोकेऽनादिभोगवासना-नियन्त्रिताः प्राणिनः कर्मणां सिद्धिं पशुपुत्रादिफलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्तोऽनित्याल्पफलदानपीन्द्रादि-देवान् यजन्ते सकामैः कर्मभिर्न तु सर्वदेवेश्वरं नित्यानन्द-फलप्रदमपि मां निष्कामैस्तैर्यजन्ते, हि यस्मादास्मिन्मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति । निष्कामकर्मरहितान्मत्तो ज्ञानतो मोक्षलक्षणा सिद्धिस्तु चिरेणैव भवतीति । सर्वे लोका भोग-वासनाग्रस्तसदसद्विवेकाः शीघ्रभोगेच्छवस्तदर्थं मद्भृत्यान् देवान् भजन्ति, न तु कश्चित् सदसद्विवेकी संसारदुःखावित्रस्तदुःख-निवृत्तये निष्कामकर्मभिः सर्वदेवेशं मां भजतीति विरलस्तद-धिकारीति भावः ॥१२॥

गी०भू०—अथ निष्कामकर्मानुष्ठानविरोधि-भोगवासना-विनाशहेतुमाह—चातुर्वर्ण्यमिति द्वाभ्याम् । चत्वारो वर्णाश्चा-तुर्वर्ण्यं स्वार्थिकः पयश्च । सत्त्वप्रधाना विप्रास्तेषां शमादीनि कर्माणि, रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां युद्धादीनि, तमोरजः-प्रधाना वैश्यास्तेषां कृष्यादीनि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां विप्रा-दित्रिकपरिचर्यादीनीति गुणविभागैः कर्मविभागैश्च विभ-क्ताश्चत्वारो वर्णाः सर्वेश्वरेण मया सृष्टाः स्थितिसंहत्योरुप-लक्षणमेतन् । ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य प्रपञ्चस्याहमेव सर्गादिकर्त्तेति,

यदाह सूत्रकारः—“जन्माद्यस्य यतः” इति । तस्य सर्गादेः कर्त्तार-मपि मां तत्तत्कर्मन्तरितत्वादकर्त्तारं विद्धीति स्वस्मिन् वैष-म्यादिकं परिहृतम्, एतत् प्राहाव्ययमिति स्रष्टृत्वेऽपि साम्यान्न व्येमीत्यर्थः ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

सारा०व०—नन्वेतत्तावदास्ताम्, सम्प्रति त्वं क्षत्रियकुले-ऽवतीर्णः क्षत्रियजात्युचितानि कर्माणि प्रत्यहं करोष्येव, तत्र का भार्त्तव्यत आह—न मामिति । न लिम्पन्ति जीवमिव न लिप्तीकुर्वन्ति, नापि जीवस्येव कर्मफले स्वर्गादौ स्पृहा, पर-मेश्वरत्वेन स्वानन्दपूर्णत्वेऽपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव मे कर्मादिकर-णमिति भावः । इति—मामिति, यस्तु न जानाति स कर्मभिर्व-ध्यत इति भावः ॥१४॥

गी०भू०—एतद्विशदयति—न मामिति । कर्माणि विश्वसर्गा-दीनि मां न लिम्पन्ति वैषम्यादिदोषेण जीवमिव लिप्तं न कुर्वन्ति, यत्तानि सृज्यजीवकर्मप्रयुक्तानि न च मत्प्रयुक्तानि न च सर्गादिकर्मफले मम स्पृहास्त्यतो न लिम्पन्तीति । फल-स्पृहया यः कर्माणि करोति, स तत्फलैर्लिप्यते, अहन्तु स्वरूपा-नन्दपूर्णः प्रकृतिविलीनक्षेत्रज्ञबुभुक्षाभ्युदितदयः । पर्जन्यवत्तनि-मित्तमात्रः सन् तत्कर्मणि प्रवर्त्तयामीति । स्मृतश्च “निमित्ता-मात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥” इत्यादया ; सृज्यानां देवमानवादिभावभाजां क्षेत्रज्ञानां सर्गक्रियायामसौ परेशो निमित्तामात्रमेव देवादिभाव-वैचर्यां कारणीभूतास्तु सृज्यानां तेषां प्राचीनकर्मशक्तय एव भवन्तीति तदर्थः । एवमाह सूत्रकृत्—“वैषम्यनैर्घृण्येन” इत्या-

दिना । एवं ज्ञानस्य फलमाह—इति मामिति । इत्थम्भूतं मां योऽभिजानाति, स तद्विरोधिभिस्तद्धेतुभिः प्राचीनकर्मभिर्न बध्यते, तैर्विमुच्यत इत्यर्थः ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

सारा०व०—एवमेवम्भूतमेव मां ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभि-
रपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव कर्म कृतम् ॥१५॥

गी०भू०—एवमिति । मामेवं ज्ञात्वा तदनुसारिभिर्मच्छि-
ष्यैः पूर्वैर्विवस्वदादिभिर्मुमुक्षुभिर्निष्कामं कर्म कृतं तस्मात्त्व-
मपि कर्मैव तत् कुरु, न तु कर्मसंन्यासम्, अशुद्धचित्तश्चे-
ज्ज्ञानगर्भायै चित्तशुद्धयै शुद्धचित्ताश्चल्लोकसंग्रहायेत्यर्थः ।
कीदृशं पूर्वैस्तैः कृतं पूर्वतरमतिप्राचीनम् ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१६॥

सारा०व०—किञ्च, कर्मापि न गतानुगतिकन्यायेनैव केवलं
विवेकिना कर्त्तव्यम्, किन्तु तस्य प्रकारविशेषं ज्ञात्वैवेत्यतस्तस्य
प्रथमं दुर्ज्ञेयत्वमाह ॥१६॥

गी०भू०—ननु किं कर्मविषयकः कश्चित् सन्देहोऽप्यस्ति
यतः पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्व्वन्धाद्ब्रवीषीति चेदस्यैव-
त्याह—किं कर्मेति । मुमुक्षुभिरनुष्ठेयं कर्म किं रूपं स्याद-
कर्म च कर्मान्यत् तदन्तर्गतं ज्ञानञ्च किं रूपमित्यर्थः । तदन्यत्
एतच्च । अत्रार्थं कवयो धीमन्तोऽपि मोहितास्तद्याथात्म्यनिर्ण-
यासामर्थ्यान्मोहं प्रापुः । अहं सर्व्वेशः सर्व्वज्ञस्ते तुभ्यं त-

कर्म अकारप्रश्लेषादकर्म च प्रवक्ष्यामि—यज्ज्ञात्वानुष्ठाय प्राप्य
चाशुभात् संसारात् मोक्षयसे ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सारा०व०—निषिद्धाचरणं दुर्गतिप्रापकमिति तत्त्वम्, तथा-
ऽकर्मणः कर्माकरणस्यापि सन्न्यासिनः कीदृशं कर्माकरणं
शुभमिति । अन्यथा निःश्रेयसं कथं हस्तगतं स्यादिति भावः ।
कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणाम्, गतिस्तत्त्वम्,
गहना दुर्गमा ॥१७॥

गी०भू०—ननु कवयोऽपि मोहं प्रापुरिति चेत्तत्राह—कर्मणो
निष्कामस्य मुमुक्षुभिरनुष्ठायस्व स्वरूपं बोद्धव्यं, विकर्मणो
ज्ञानविरुद्धस्य काम्यकर्मणः स्वरूपं बोद्धव्यं, अकर्मणश्च कर्म-
भिन्नस्य ज्ञानस्य च स्वरूपं बोद्धव्यम्, तत्तात् स्वरूपविद्धिः साद्धं
विचार्य्यमित्यर्थः । कर्मणोऽकर्मणश्च गतिर्गहना दुर्गमा, अतः
कवयोऽपि तत्र मोहिताः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

सारा०व०—तत्र कर्माकर्मणोस्तत्त्वबोधमाह—कर्मणीति ।
शुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानवत्त्वेऽपि जनकादेरिवाकृत-सन्न्यासस्य
कर्मण्यनुष्ठीयमाने निष्काम-कर्मयोगे अकर्म कर्मेदं न भवतीति
यः पश्येत्, तत्कर्मणो बन्धकत्वाभावादिति भावः, तथाऽशु-
द्धान्तःकरणस्य ज्ञानाभावेऽपि शास्त्रज्ञत्वाज्ज्ञानबाधकस्य सन्न्या-
सिनोऽकर्मणि कर्माकरणे कर्म पश्येत् दुर्गतिप्रापकं कर्मबन्ध-
मेवोपलभते, स एव बुद्धिमान्, स तु कृत्स्नकर्माण्येव करोति,

न तु तस्य ज्ञानबाबदूकस्य ज्ञानिमानिनः सङ्गेनापि तद्वचसापि सन्न्यासं करोतीति भावः । तथा च भगवद्वाक्यम्—“यस्त्व-संयतषड्बर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः । ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्ड-मुपजीवति ॥ सुरानात्मानमात्मस्थं निहते माञ्च धर्महा । अवि-पकृषायोऽस्मादमुष्माञ्च विहीयते ॥” इति ॥१८॥

गी०भू०—कर्मकर्मणोर्वोद्भव्यं स्वरूपमाह—कर्मणीति । अनुष्ठायमाने निष्कामे कर्मणि योऽकर्म प्रस्तुतत्वात् कर्म-ण्यात्मज्ञानं पश्येत्, अकर्मण्यात्मज्ञाने यः कर्म पश्येत् । एत-दुक्तं भवति, यो मुमुक्षुर्द्विषुद्वये क्रियमाणं कर्मात्मज्ञानानु-सन्विगर्भत्वाज्ज्ञानाकारं, तच्च ज्ञानं कर्मद्वारकत्वात् कर्माकारं पश्येत्, उभयोरेकात्मोद्देश्यत्वादुभयमेकं विद्यादित्यर्थः । एवमेव वक्ष्यते—“सांख्ययोगौ पृथग्वालाः” इत्यादिनेति । एवमनुष्ठीय-माने कर्मणि आत्मयाथात्म्यं योऽनुसंधत्ते, स मनुष्येषु बुद्धि-मान् परिणतः । युक्तो मोक्षयोग्यः, कृत्स्नकर्मकृत् सर्वेषां कर्म-फलानामात्मज्ञानसुखान्तर्भूतत्वात् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः परिणतं बुधाः ॥१९॥

सारा०व०—उक्तमर्थं विवृणोति—यस्येति पञ्चभिः । सम्यगा-रभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि, कामः फलं तत्संकल्पेन वर्जिताः । ज्ञानमेवाग्निस्तेन दग्धानि कर्माणि क्रियमाणानि विहितानि निषिद्धानि च यस्य सः—एतेन विकर्मणश्च वोद्भव्यमित्यपि विवृतम् । एतादृशाधिकारिणं कर्म यथा अकर्म पश्येत्, तथैव विकर्माप्यकर्मैव पश्येदिति पूर्वश्लोकस्यैव सङ्गीतः । यदग्रे वक्ष्यते—“अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप-कृत्तामः । सर्वं ज्ञानसत्त्वेनैव विजितं सन्तरिष्यसि ॥ यथैधांसि

समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि भस्मसात कुरुते तथा ॥” इति ॥१९॥

गी०भू०—कर्मणो ज्ञानाकारमाह—यस्येति पञ्चभिः । समा-रम्भाः कर्माणि काम्यन्त इति कामाः फलानि तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः शून्या यस्य कर्मभिरात्मोद्देशिनो भवन्ति तं बुधाः परिणतमात्मज्ञमाहुः । तत्र हेतुः—ज्ञानेति । तैः समारम्भैः हृदि-शुद्धौ सत्यामाविर्भूतेनात्मज्ञानाग्निना दग्धानि सञ्चितानि कर्माणि यस्य तम् ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

सारा०व०—नित्यतृप्तो नित्यं निजानन्देन तृप्तः । निराश्रयः स्वयोगक्षेमार्थं न कमप्याश्रयते ॥२०॥

गी०भू०—उक्तमर्थं विशदयति—त्यक्त्वेति । कर्मफले सङ्गं त्यक्त्वा नित्येनात्मनानुभूतेन तृप्तो निराश्रयः योगक्षेमार्थमप्याश्रयरहित ईदृशो योऽधिकारी स कर्मण्यभितः प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति—कर्मानुष्ठानापदेशेन ज्ञाननिष्ठामेव संपादयती-त्यारुरुक्षोर्दशेयम् । एतेन विकर्मणः स्वरूपं वन्धकत्वं वोद्भव्य-मित्युक्तं भवति ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

सारा०व०—आत्मा—स्थूलदेहः । शारीरं शारीरनिर्वाहार्थं कर्मासत्प्रतिग्रहादिकं कुर्वन्नपि किल्बिषं पापं नाप्नोतीत्येतदपि विकर्मणश्च वोद्भव्यमित्यस्य विवरणम् ॥२१॥

गी०भू०—अथारूढस्य दशामाह—निराशीरिति त्रिभिः ।

निर्गता आशीः फलेच्छा यस्मात् स यतचित्तात्मा बशीकृत-
चित्तदेहस्यक्तसर्वपरिग्रह आत्मैकावलोकनार्थत्वात् प्राकृतेषु
वस्तुषु ममत्ववर्जितः । शारीरं कर्म शरीरनिर्वाहार्थं कर्मा-
सत्प्रतिग्रहादि कुर्वन्नपि कित्त्वपि पापं नाप्नोति ॥२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

सारा०व०—यज्ञो बध्यमाणलक्षणस्तदर्थं कर्माचरतस्तत्
कर्म प्रविलीयते—अकर्मभावमापद्यत इत्यर्थः ॥२३॥

गी०भू०—अथ शरीरनिर्वाहार्थमन्नाच्छादनादिकं स्वप्रयत्नेन
न संपाद्यमित्याह—यदृच्छयेति । याचनां विनैव लाभो यदृ-
च्छालाभस्तेन सन्तुष्टस्तुष्टः । द्वन्द्वानि शीतोष्णादीन्यतीतस्तत्स-
हिष्णुः । विमत्सरोऽन्यैरुपद्रुतोऽपि तैः सह वैरमकुर्वन् यदृच्छा-
लाभसिद्धौ हर्षस्य तदसिद्धौ बिषादस्य चाभावान् समः एवं-
भूतः शारीरं कर्म कृत्वापि तेन तेन न बध्यते ज्ञाननिष्ठाप्रभावान्न
लिप्यते ॥२२॥

गी०भू०—गतसङ्गस्य निष्कामस्य रागद्वेषादिभिर्मुक्तस्य
स्वात्मविषयकज्ञाननिविष्टमनसः यज्ञाय बिष्णुं प्रसादयितुं तच्चि-
न्तनमाचरतः प्राचीनं बन्धकं कर्म समग्रं कृत्स्नं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

सारा०व०—‘यज्ञायाचरतः’ इत्युक्तम्, स यज्ञ एव कीदृशः ?

इत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मेति । अपर्यत अनेनेत्यर्पणं जुह्वादि, तदपि
ब्रह्मैव ; अपर्यमाणं हविरपि ब्रह्मैव, ब्रह्माग्नौर्वाति हवनाधि-
करणमग्निरपि ब्रह्मैव, ब्रह्मणेति हवनकर्त्तापि ब्रह्मैव । एवं विवे-
कवता पुंसा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यम्, न तु फलान्तरम् ।
कुतः ? ब्रह्मात्मकं यत् कर्म तत्रैव समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य
तेन ॥२४॥

गी०भू०—एवं विबिक्त-जीवात्मानुसन्धिगर्भतया स्वविहि-
तस्य कर्मणो ज्ञानाकारतामभिधाय साङ्गस्य तस्य परात्मरूप-
तानुसन्धिना तदाकारतामाह—ब्रह्मार्पणमिति । अपर्यतेऽनेनात्मै-
वेति व्युत्पत्तोरर्पणं स्तुवं मन्त्राधिदैवतं चेन्द्रादि तत्तच्च ब्रह्मैव,
अपर्यमाणं हविश्चाज्यादि तदपि ब्रह्मैव, तच्च हविर्होमाधारेऽग्नौ
ब्रह्मणि यजमानेनाध्वर्युणा च ब्रह्मणा हुतं त्यक्तं प्राक्षिप्तञ्च,
अग्निर्यजमानोऽध्वर्युश्च ब्रह्मैवेत्यर्थः । ब्रह्माग्नौर्वाति हि कार-
लोपश्छान्दसः । न च समस्तं पदमिति वाच्यम्—अग्नौ ब्रह्म-
दृष्टेर्विधेयत्वात् इत्थञ्च ब्रह्मरूपे साङ्गे कर्मणि समाधिश्चित्तै-
काग्र्यं यस्य तेन मुमुक्षुणा ब्रह्मैव गन्तव्यं स्वस्वरूपं परस्वरू-
पञ्च लभ्यमवलोकयमित्यर्थः । “विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इत्यादौ जीवे
ब्रह्म-शब्दः, “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्यादौ परमात्मानं च ब्रह्मा-
र्पणत्वादिगुणयोगान्नाम्य प्रकरणस्य पौनरुक्तम् । ‘स्तुवादीनां
ब्रह्मत्वं तदायत्तावृत्तिकत्वात्तादृष्टत्वाच्च’ इति व्याख्यातारः ।
तादृशतयानुसन्धितं कर्मज्ञानाकारं सत्तादवलोकनाय कल्प्यते ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति ॥२५॥

सारा०व०—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्तन्ते, तांस्त्वं
शृण्वित्याह—दैवमेवेत्यष्टभिः । देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते

यस्मिन् तं दैवमिति । इन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्—
“सास्य देवतेत्यण्” । योगिनः कर्मयोगिनः, अपरे ज्ञानयोगि-
नस्तु ब्रह्म परमात्मैवाग्निस्तस्मिन्तत्-पदार्थं यज्ञं हविःस्थानीयं त्वं-
पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणवरूपेण मन्त्रेणैव जुहति । अयमेव ज्ञान-
यज्ञोऽग्रे स्तोष्यते । अत्र ‘यज्ञं’ ‘यज्ञेन’ इति शब्दौ कर्मकरण-
साधनौ प्रथमातिशयोक्त्या शुद्धजीवप्रणवाबाहवुः ॥२५॥

गी०भू०—एवं ब्रह्मानुसन्धिगर्भतया च कर्मणो ज्ञानाकारतां
निरूप्य कर्मयोगभेदानाह—दैवमिति । दैवमिन्द्रादिदेवाच्चर्त्त-
रूपं यज्ञमपरे योगिनः पर्युपासते तत्रैव निष्ठां कुर्वन्ति । अपरे
“ब्रह्मार्पणम्” इत्यादिन्यायेन ब्रह्मभूतेऽग्नौ यज्ञेन सुवादिना
यज्ञं घृतादि-हवीरूपं जुहति होम एव निष्ठां कुर्वन्तीत्यर्थः ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियण्यन्ये संयमाग्निषु जुहति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति ॥२६॥

सारा०व०—अन्ये नैष्ठिकाः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, संयमः
संयतं मन एवाग्नयस्तेषु जुहति—शुद्धे मनसीन्द्रियाणि प्रवि-
लापयन्तीत्यर्थः । अन्ये ततो न्यूना ब्रह्मचारिणः शब्दादीन्
विषयानिन्द्रियाग्निष्विन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु जुहति—शब्दादीनी-
न्द्रियेषु प्रबिलापयन्तीत्यर्थः ॥२६॥

गी०भू०—श्रोत्रादीनीति-अन्ये नैष्ठिकब्रह्मचारिणः संयमाग्निषु
तत्तादीन्द्रियसंयमरूपेष्वग्निषु श्रोत्रादीनि जुहति तानि निरुध्य
संयमप्रधानाग्निष्ठन्ति । अन्ये गृहिण इन्द्रियाग्निष्वग्नित्वेन भावि-
तेषु श्रोत्रादिषु शब्दादीनुपजुहति अनासक्त्या तान् भुञ्जाना-
स्तानि तत्प्रवणानि कुर्वन्ति ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सारा०व०—अपरे—शुद्ध-त्वंपदार्थविज्ञाः । सर्वाणीन्द्रि-
याणि तत्कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि च, प्राणकर्माणि
दशप्राणास्तत्कर्माणि च, प्राणस्य बहिर्गमनमपानस्याधोग-
मनम् समानस्य भुक्तपीतादीनां समीकरणम्, उदानस्योच्चै-
र्नयनम्, व्यानस्य विश्वकनयनम्—“उद्गारे नाग आख्यातः
कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृ-
म्भणे । न जहाति मृतञ्चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥” इत्येवं दश
प्राणास्तत्कर्माणि । आत्मनस्त्वंपदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्नि-
स्तस्मिन् जुहति—मनोबुद्ध्यादीन्द्रियाणि दशप्राणाश्च प्रविला-
पयन्ति—एकः प्रत्यगात्मैवास्ति, नान्ये मन आदय इति भाव-
यन्तीत्यर्थः ॥२७॥

गी०भू०—सर्वाणीति—अपरे इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्मा-
णि च आत्मसंयमयोगाग्नौ च जुहति—आत्मनो मनसः संयमः
स एव योगस्तस्मिन्नाग्नित्वेन भाविते जुहति । मनसा इन्द्रियाणां
प्राणानाञ्च कर्मप्रवणतां निवारयितुं प्रयतन्ते । इन्द्रियाणां
श्रोत्रादीनां कर्माणि शब्दग्रहणादीनि प्राणकर्माणि प्राणस्य
बहिर्गमनं कर्म, अपानस्याधोगमनम्, व्यानस्य निखिलदेह-
व्यापनमाकुञ्चनप्रसारणादि, समानस्याशितपीतादिसमीकरणम्,
उदानस्योर्ध्वनयनं चेत्येवं बोध्यानि सर्वाणि सामस्येन ज्ञान-
दीपिते आत्मानुसन्धानोज्ज्वलिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥२८॥

सारा०व०—द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते ‘द्रव्ययज्ञाः’, तपः
कृच्छ्रचान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते ‘तपोयज्ञाः’, योगोऽष्टाङ्ग
एव यज्ञो येषां ते ‘योगयज्ञाः’, स्वाध्यायो वेदस्य पाठस्तदर्थस्य

ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते, यतयो यत्नपराः—सर्वे एते सम्यक् शितं
तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ॥२८॥

गी०भू०—द्रवेऽति — केचित् कर्मयोगिनो द्रव्ययज्ञाः
अन्नादिदानपराः, केचित्तापोयज्ञाः कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतपराः,
केचिद्योगयज्ञाः पुण्यतीर्थादिसङ्गमपराः, केचित् स्वाध्यायज्ञान-
यज्ञाः वेदाभ्यासपरास्तदर्थभ्यासपराश्च । यतयस्तत्र प्रयत्नशीलाः
शांसतव्रतास्तीक्ष्णतत्तदाचरणाः ॥ २८ ॥

अपाने जुहति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।

अपरे नियताहाराः प्राणाः प्राणेषु जुहति ॥२९॥

सारा०व०—अपरे प्राणायामनिष्ठाः—अपानेऽधोवृत्तौ प्राण-
मूर्ध्ववृत्तं जुहति पूरक-काले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति ; तथा
रेचक-कालेऽपानं प्राणे जुहति ; कुम्भक-काले प्राणापानयोर्गती
रुद्ध्वा प्राणायाम—परायणा भवन्ति । अपरे इन्द्रियजयकामाः,
नियताहाराः अल्पाहाराः, प्राणेष्वहारासङ्कोचनेनैव जीव्य-
मानेषु प्राणानिन्द्रियाणि जुहति । इन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्त-
त्वात् प्राणदोर्वल्ये सति स्वयमेव स्व-स्व-विषयग्रहणासमर्था-
नीन्द्रियाणि प्राणेष्वेवाल्पीयन्त इत्यर्थः ॥२९॥

गी०भू०—किञ्चापाने इति । तथापरे प्राणायामपरायणास्ते
त्रिधा अधोवृत्तावपाने प्राणमूर्ध्ववृत्तिं जुहति,—पूरकेन प्राण-
मपानेन सहैकीकुर्वन्ति । तथा प्राणेऽपानं जुहति,—रेचकेना-
पानं प्राणेन सहैकीकृत्य वहिर्निर्गमयन्ति; यथा प्राणापानयोर्गती
श्वासप्रश्वासौ कुम्भकेन रुद्ध्वा वर्तन्ते इति । आन्तरस्य वायोर्ना-
सास्येन वहिर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः; बिर्निर्गतस्य तस्यान्तः-

प्रवेशः प्रश्वासः अपानस्य गतिः; तयोर्निरोधः कुम्भकः; स
द्विविधः—वायुमापूर्य श्वासप्रश्वासयोर्निरोधोऽन्तःकुम्भकः, वायुं
विरेच्य तयोर्निरोधो वहिःकुम्भकः । अपरे नियताहारा भोजन-
सङ्कोचमभ्यसन्तः प्राणान् इन्द्रियाणि प्राणेषु जुहति;—तेष्व-
ल्पाहारेण जीर्यमाणेषु तदायत्तावृत्तिकानि तानि विषयग्रहणा-
क्षमाणि तप्तायोनिषिक्तोदविन्दुवत्तेस्वेव विलीयन्ते ॥ २९ ॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

सारा०व०—सर्वेऽप्येते यज्ञविद उक्तलक्षणान् यज्ञान्
विन्दमानाः सन्तो ज्ञानद्वारा ब्रह्म यान्ति । अत्राननुसंहितं फल-
माह—यज्ञशिष्टं यज्ञावशिष्टं यदमृतं भोगैश्वर्यसिद्ध्यादिकं
तद्भुञ्जते इति । तथा अनुसंहितं फलमाह—ब्रह्म यान्तीति ॥३०॥

सारा०व०—तदकरणे प्रत्यवायमाह—नायमिति । अयमल्प-
सुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, कुतोऽन्यो देवादिलोकस्तेन प्राप्तव्य-
इत्यर्थः ॥३१॥

गी०भू०—एते खल्विन्द्रियविजयकामाः सर्वेऽपीति यज्ञविदः
पूर्वोक्तान् देवादियज्ञान् विन्दमाना तैरेव यज्ञैः क्षपितकल्मषाः ।
अननुसंहितं फलमाह,—यज्ञशिष्टेति । यज्ञशिष्टं यदमृतमन्नादि
भोगैश्वर्यसिद्ध्यादि च तद्भुञ्जन्ताः । अनुसंहितं फलमाह,—या-
न्तीति । तत्साध्येन ज्ञानेन ब्रह्मोति प्राग्वत् ॥ ३० ॥

गी०भू०—तदकरणे दोषमाह,—नायमिति । अयज्ञस्योक्त-
यज्ञाननुष्ठानुरयं प्रकृतो लोकस्तत्रत्यस्त्रिवर्गो नास्ति, अन्यो मोक्ष-
लभ्यो लोकः कुतः स्यात् ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्बिद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

सारा०व०—ब्रह्मणो वेदस्य मुखेन वेदेन स्वमुखेनैव स्पष्ट-
मुक्ता इत्यर्थः । कर्मज्ञानं बाहुमनःकायकर्मजनितान् ॥३२॥

गी०भू०—एवमिति ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितता विविक्तात्म-
प्राप्तयुपायतया स्वमुखेनैव तेन स्फुटमुक्ताः । कर्मजनिति बाहु-
मनःकायकर्मजनितानित्यर्थः । एवं ज्ञात्वा तदुपायतया तेनोक्तान्
तानवबुद्धानुश्रयं तदुत्पन्नविज्ञानेनावलोकितात्मद्वयः संसारा-
द्विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

सारा०व०—तेष्वपि मध्ये ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति लक्षणादपि
द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ब्रह्माग्नावित्यनेनोक्तो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् ; कुतः ?
ज्ञाने सति सर्वं कर्माखिलमव्यर्थं सत् परिसमाप्यते समाप्ती-
भवति—ज्ञानानन्तरं कर्म न तिष्ठतीत्यर्थः ॥३३॥

गी०भू०—उक्ताः कर्मयोगा विविक्तात्मानुसन्धिगर्भत्वाद-
रण्यादिव उभयरूपास्तेषु ज्ञानरूपं संस्तौति,—श्रेयानिति ।
द्विरूपे कर्माणि कर्मद्रव्यमयादंशाज्ज्ञानमयोऽशः श्रेयान् प्रश-
स्ततरः । द्रव्यमयादित्युपलक्षणमिन्द्रियसंयमादीनां तेषां तदु-
पायत्वात् । एतद्विवृणोति,—हे पार्थ ! ज्ञाने सति सर्वं कर्माखिलं
साङ्गं परिसमाप्यते निवृत्तिमेति फले जाते साधननिवृत्तोर्दर्श-
नात् ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

सारा०व०—तज्ज्ञानप्राप्तये प्रकारमाह—तदिति । प्रणिपातेन
ज्ञानोपदेष्टरि गुरौ तण्डवन्नमस्कारेण, “भगवन् ! कुतोऽयं मे सं-
सारः, कथं निवर्त्तिष्यते” इति परिप्रश्नेन च, सेवया तत्परिचर्यया
च, “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं
ब्रह्मनिष्ठम्” इति श्रुतेः ॥३४॥

गी०भू०—एवं जीवस्वरूपज्ञानं तत्साधनञ्च साङ्गमुपदिश्य पर-
स्वरूपोपासनज्ञानमुपदिशन् सत्प्रसङ्गलभ्यत्वं तस्याह,—तदिति ।
यदर्थं तदुभयं मया तवोपदिष्टं ‘अविनाशि तु तद्विद्धि’ इत्यादिना
तत् परात्मसम्बन्धविज्ञानं प्रणिपातादिभिः प्रसादितेभ्यो ज्ञानिभ्यः
सद्भ्यस्त्वमवगत-स्वस्वरूपो विद्धि प्राप्नुहि । तत्र प्रणिपातो
दण्डवत्प्रणतिः, सेवा भृत्यवत्तेषां परिचर्या, परिप्रश्नः तत्स्वरू-
पतद्गुणतद्विभूतिविषयको विविधः प्रश्नः । ननूदासीनास्ते न
ब्रह्मन्तीति चेत्तत्राह,—उपेति । ते ज्ञानिनोऽधिगतस्वपरात्मानः
प्रणिपातादिना तज्जिज्ञासुतामालक्ष्य ते तुभ्यं तादृशाय तत्-
सम्बद्धि ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति तत्त्वदर्शिनस्तज् ज्ञानप्रचारकाः कारू-
णिका इति यावत् । नन्वत्र तदिति जीवज्ञानं वाच्यं प्रकृतत्वादिति
चेन्न,—“न त्वेवाहं जातु नासं” “युक्त आसीत मत्परः” “अज्ञो-
ऽपि सन्नव्ययात्मा” इत्यादिना परात्मनोऽप्याप्राकृतत्वात् तज्-
ज्ञानायैव जीवज्ञानस्याप्युपदेश्यत्वात् । एवमाह सूत्रकारः—“अ-
न्यार्थश्च परामर्शः” इति; अन्यथा श्रुतिसूत्रार्थसम्बादिनोऽग्नि-
मस्य ज्ञानमहिम्नो विरोधः स्यात् उक्तमेव सुष्ठु ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रव्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

सारा०व०—ज्ञानस्य फलमाह—यज्ज्ञात्वेति साङ्ख्यैस्त्रिभिः । यज्ज्ञानं
देहादतिरिक्त एवात्मेति लक्षणं ज्ञात्वैवं मोहमन्तःकरणधर्मं न

प्राप्स्यसि, येन च मोह-विगमेन स्वाभाविकनित्यसिद्धात्मज्ञान-
लाभादशेषाणि भूतानि मनुष्यतिर्य्यगादीन्यात्मनि जीवात्मन्यु-
पाधित्वेन स्थितानि पृथक् द्रक्ष्यसि । अथो मयि परमकारणे च
कार्यत्वेन स्थितानि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

गी०भू०—उक्तज्ञानफलमाह,—यदिति । यज्जीवज्ञानपूर्वकं
परमात्मसन्वन्धिज्ञानं ज्ञात्वोपलभ्य पुनरेवं बन्धुवधादिहेतुकं मोहं
न यास्यसि । कथं न यास्यामीत्यत्राह,—येनेति । येन ज्ञानेन
भूतानि देवमानवादिशरीराणि अशेषेण सामस्त्येन सर्वाणी-
त्यर्थः । आत्मनि स्वस्वरूपे उपाधित्वेन स्थितानि तानि पृथग्-
द्रक्ष्यसि, अतो मयि सर्वेश्वरे सर्वहेतौ कार्यत्वेन स्थितानि
तानि द्रक्ष्यसीति । एतदुक्तं भवति,—देहद्वयविविक्ता जीवात्मा-
नस्तेषां हरिविमुखानां हरिमाययैव देहेषु दैहिकेषु च ममत्वानि
रचितानि, हन्तृहन्तव्यभावावभासश्च तयैव । शुद्धस्वरूपाणां न
तत्तत्सम्बद्धः । परमात्मा खलु सर्वेश्वरः स्वाश्रितानां जीवानां
तत्तात्कर्मणुगुणतया तत्तादेहेन्द्रियाणि तत्तादेहयात्रां लोकान्त-
रेषु तत्तत्सुखभोगांश्च सम्पादयत्युपासितस्तु मुक्तिमित्येव ज्ञानिनो
न मोहावकाश इति ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सारा०व०—ज्ञानस्य माहात्म्यमाह—अपि चेदिति । पापिभ्यः
पापकृद्भ्योऽपि सकाशाद्यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि, तथापि
अत्रैतावत्पापसत्त्वे कथमन्तःकरणशुद्धिः ? तदभावे च कथं ज्ञानो-
त्पत्तिः ? नाप्युत्पन्नज्ञानस्यैतद्दुराचारत्वं सम्भवेदतोऽत्र व्याख्या
श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादानाम्—“अपि चेदित्यसम्भावितान्युप-
गमप्रदर्शनार्थं निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न सम्भवत्येव, तथापि

ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते” इत्येषा ॥३६॥

गी०भू०—ज्ञानप्रभावमाह,—अपि चेदिति । यद्यपि सर्वेभ्यः
पापकर्त्ताभ्यस्त्वमतिशयेन पापकृदसि, तथापि सर्वं वृजिनं
निखिलं पापं दुस्तरत्वेनार्णवतुल्यमुत्तलक्षणज्ञानप्लवेन संत-
रिष्यसि ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

सारा०व०—शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नं तु प्रारब्धभिन्नं कर्म-
मात्रं विनाशयतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति । समिद्धः प्रज्वलितः ॥३७॥

सारा०व०—इह तपोयोगादियुक्तेषु मध्ये ज्ञानेन सदृशं
पवित्रं किमपि नास्ति । तज्ज्ञानं न सर्वसुलभम् ; किन्तु योगेन
निष्कामकर्मयोगेन सम्यक् सिद्ध एव, न त्वपरिपक्वः, सोऽपि
कालेनैव, न तु सद्यः । आत्मनि स्वास्मिन् स्वयं प्राप्तं विन्दति, न
तु सन्न्यासग्रहणमात्रेणैवेति भावः ॥३८॥

गी०भू०—ब्रह्मविद्यया पापकर्माणि नश्यन्तीत्युक्तम् ; इदानीं
पुण्यकर्मण्यापि नश्यन्तीत्याह,—यथेति । एधांसि काष्ठानि
समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्यथा भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः
स्वपरात्मानुभववाहिः सर्वाणि कर्माणि पुण्याणि पापानि च
प्रारब्धेतराणि भस्मसात् कुरुते । तत्र सञ्चितानि प्रारब्धेतराणी-
षीकतुलबान्निर्दहति क्रियमाणानि पद्मपत्राम्बुविन्दुबद्धिः श्लेषयति
प्रारब्धानि तु तत्प्रभावेनातिजीर्णान्यपि सत्पथप्रचारार्थं हरे-
रिच्छयैवात्मानुभावान्यवस्थापयतीति । श्रुतिश्च—“उभे उहैवैष
एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी” इति,—एष ब्रह्मानुभवी उभे

सञ्चित्य - क्रियमाणे एते साध्वसाधुनी पुण्यपापे कर्मणी तरति
कामतीत्यर्थः । एवमाह सूत्रकारः,--“तदाधिगम उत्तरपूर्वाद्य-
योरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्” इत्यादिभिः ॥ ३७ ॥

गी०भू०--न हीति । हि यतो ज्ञानेन सदृशं पवित्रं शुद्धिकरं
तपस्तीर्थाटनादिकं नास्ति, अतस्तत् सर्वपापनाशकं तज्ज्ञानं
न सर्वमुलभं, किन्तु योगेन निष्कामकर्मणा संसिद्धः परिपक्व
एव कालेनैव, न तु सद्यः । आत्मानि स्वस्मिन् स्वयं लब्धं
विन्दति, न तु पारिव्राज्यग्रहणमात्रेणेति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमधिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

सारा०व०--तर्हि कीदृशः सन् कदा प्राप्नोतीत्यत आह--
‘श्रद्धा’ निष्कामकर्मणैवान्तःकरणशुद्ध्यैव ज्ञान स्यादिति
शास्त्रार्थ आस्तिक्यबुद्धिस्तद्वानेव ; तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठस्तादृशो-
ऽपि यदा संयतेन्द्रियः स्यात्तदा परां शान्तिं संसारनाशम् ॥ ३९ ॥

गी०भू०--कीदृशः सन् कदा विन्दतीत्याह,--श्रद्धावानिति ।
निष्कामेण कर्मणा हृद्विशुद्धौ ज्ञानं स्यादिति । दृढविश्वासः
श्रद्धा तद्वान् तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठः तादृगपि यदा संयतेन्द्रि-
यस्तदा परां शान्तिं मुक्तिम् ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

सारा०व०--ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीताधिकारिणमाह--
अज्ञः पश्चादिवन्मूढः ; अश्रद्धानः शास्त्रज्ञानवत्त्वेऽपि नानावा-
दिनां परस्परविप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा न कापि विश्वस्तः ; अज्ञावत्त्वे-
ऽपि संशयात्मा--ममैतत् सिध्येन्न वेति सन्देहाक्रान्तमतिः ;
तेष्वपि मध्ये संशयात्मानं विशेषतो निन्दति--नायमिति ॥ ४० ॥

गी०भू०--ज्ञानाधिकारिणं तत्फलञ्चाभिधाय तद्विपरीतं
तत्फलञ्चाह--अज्ञश्चेति । अज्ञः पश्चादिवच्छास्त्रज्ञानहीनः,
अश्रद्धानः शास्त्रज्ञाने सत्यपि विवादिप्रतिपत्तिभिर्न कापि
विश्वस्तः, अश्रद्धानत्वेऽपि संशयात्मा ममैतत् सिध्येन्न वेति
सन्दिहानमना विनश्यति स्वार्थाद्विच्यवते । तेष्वपि मध्ये संशया-
त्मानं विनिन्दति,--नायमिति । अयं प्राकृतो लोकः परोऽप्राकृतः
संशयात्मनः किञ्चिदपि सुखं नास्ति । शास्त्रीयकर्मजन्यं हि सुखं,
तच्च कर्म विविक्तात्मज्ञानपूर्वकम्, तत्र सन्दिहानस्य कुतस्त-
दित्यर्थः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

सा०व०--नैष्कर्म्यं त्वेतादृशस्य स्यादित्याह-योगान्निष्काम-कर्म-
योगानन्तरमेव संन्यस्तकर्माणं संन्यासेन त्यक्तकर्माणम्, ततश्च
ज्ञानाभ्यासानन्तरं छिन्नसंशयम्, आत्मवन्तं प्राप्तप्रत्यगात्मानं
कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥

गी०भू०--ईदृशस्य नैष्कर्म्यलक्षणासिद्धिः स्यादित्याह,-
योगेति । योगेन ‘योगस्थः कुरु कर्माणि’ इत्यत्रोक्तेन संन्यस्तानि
ज्ञानाकारतापन्नानि कर्माणि यस्य तम्, मदुपादिष्टेन ज्ञानेन
छिन्नसंशयो यस्य तम् । आत्मवन्तमवलोकित्वात्मानं कर्माणि
न निबध्नन्ति,--तेषां ज्ञानेन विगमात् ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-

पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।



सारा०व०—उपसंहरति तस्मादिति । हृत्स्थं हृद्गतं संशयं
छित्त्वा योगं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठाय, उत्तिष्ठ युद्धं कर्तु-
मिति भावः ॥४२॥

उक्तेषु मुक्त्युपायेषु ज्ञानमत्र प्रशस्यते ।

ज्ञानोपायन्तु कर्मैवेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वयं चतुर्थो हि सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०—तस्मादिति । हृत्स्थं हृद्गतमात्मविषयकं संशयं
मदुपदिष्टेन ज्ञानासिना छित्त्वा योगं निष्कामं कर्म मयोपादृष्ट-
मातिष्ठ तदर्थमुत्तिष्ठेति ॥४२॥

द्वयंशकं धान्यवत् कर्म तुषांशादिव तण्डुलः ।

श्रेष्ठं द्रव्यांशतो ज्ञानमिति तुल्यस्य निर्णयः ॥

इति श्रीभगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ।



पञ्चमोऽध्यायः



अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

सा०व०—प्रोक्तं ज्ञानादापि श्रेष्ठं कर्म तद्वाक्यं सिद्धये ।

तत्पदार्थस्य च ज्ञानं साम्याद्या अपि पञ्चमे ॥ (१)

सारा०व०—पूर्वाध्यायान्ते श्रुतेन वाक्यद्वयेन विरोधमा-
शङ्कमानः पृच्छति—संन्यासमिति । “योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञान-
संछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निवधन्ति धनञ्जय ॥”
इति वाक्येन त्वं कर्मयोगेनोत्पन्नज्ञानस्य कर्मसंन्यासं ब्रूषे ;
“तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः छित्त्वैनं संशयं योग-
मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥” इत्यनेन पुनस्तस्यैव कर्मयोगश्च ब्रूषे ।
न च कर्मसंन्यासः कर्मयोगश्चैकस्यैकदेव सम्भवतः स्थिति-
गतिवद्बिरुद्धस्वरूपत्वात् । तस्मात् ज्ञानी कर्मसंन्यासं
कुर्यात् कर्मयोगं वा कुर्यादिति त्वदभिप्रायमनवगतोऽहं
पृच्छामि—एतयोर्मध्ये यदेकं श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तन्मे ब्रूहि ॥१॥

गी०भू०—ज्ञानतः कर्मणाः श्रेष्ठ्यं सुकरत्वादिना हरिः ।

शुद्धस्य तदकर्तृत्वं त्वेत्यादि प्राह पञ्चमे ॥

गी०भू०—द्वितीये मुमुक्षुं प्रत्यात्मविज्ञानं मोचकमभिधाय
तदुपायतया निष्कामं कर्म कर्तव्यमभ्यधान् । लब्धविज्ञानस्य
न किञ्चित् कर्मास्तीति “यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्” इति तृतीये,
“सर्वं कर्माखिलं पार्थ” इति चतुर्थे चावादीत्, अन्ते तु
तस्मादज्ञानसम्भूतम्” इत्यादिना तस्यैव पुनः कर्मयोगं प्राबो-
धत् । तत्रार्जुनः पृच्छति संन्यासमिति । हे कृष्ण ? कर्मणां
संन्यासं सर्वेन्द्रियव्यापारविरतिरूपं ज्ञानयोगमित्यर्थः, पुनर्योगं
कर्मानुष्ठानञ्च सर्वेन्द्रियव्यापाररूपं शंससि । न चेकस्य युग-
पत्तौ संभवेतां स्थितिगतिवत्तामस्तेजोबच्च विरुद्धस्वरूपत्वात् ।
तस्मान्नवज्ञानः कर्म संन्यसेदनुतिष्ठेद्वेति भवदभिमतं वेत्ता म-
शक्तोऽहं पृच्छामि । एतयोः कर्मसंन्यासकर्मानुष्ठानयोर्यदेकं
श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तत्त्वं मे ब्रूहि इति ॥ १ ॥

भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

सारा०व०—कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानिनः कर्मकरणे न कोऽपि दोषः ; प्रत्युत निष्कामकर्मणा चित्तशुद्धिदाढ्याज्ज्ञान-
दाढ्यमेव स्यात् ; संन्यासिनस्तु कदाचिच्चित्तवैगुण्ये सति तदु-
पशमनार्थं किं कर्म निषिद्धम् ? ज्ञानाभ्यासप्रतिबन्धकन्तु चित्त-
वैगुण्यमेव, विषयग्रहणे तु वान्ताशित्वमेव स्यादिति भावः ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच,—संन्यास इति । निःश्रे-
यसकरौ मुक्तिहेतु कर्मसंन्यासाज् ज्ञानयोगाद्विशिष्यते श्रेष्ठो
भवति । अयं भावः,—न खलु लब्धज्ञानस्यापि कर्मयोगो
दोषावहः, किन्तु ज्ञानगर्भत्वाज् ज्ञानदाढ्यकृदेव । ज्ञाननिष्ठतया
कर्मसंन्यासिनस्तु चित्तदोषे सति तद्दोषविनाशाय कर्मानुष्ठेयं
प्रतिषेधकशास्त्रात् । कर्मत्यागवाक्यानि त्वात्मनि रतौ सत्यां
कर्माणि तं स्वयं त्यजन्तीत्याहुः । तस्मात् सुकरत्वादप्रमाद-
त्वाज्ज्ञानगर्भत्वाच्च कर्मयोगः श्रेयानिति ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्व्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

सारा०व०—न च संन्यासप्राप्त्यो मोक्षोऽकृतसंन्यासेनैव
तेन न प्राप्य इति वाच्यमित्याह—ज्ञेय इति । स तु शुद्धचित्तः
कर्माणि नित्यसंन्यासी एव ज्ञेयः । ‘हे महाबाहो’ इति मुक्ति-
नगरीं जेतुं स एव महावीर इति भावः ॥३॥

गी०भू०—कुतो विशिष्यते तत्राह—ज्ञेय इति । स विशुद्ध-
चित्तः कर्मयोगी नित्यसंन्यासी स सर्वदा ज्ञानयोगनिष्ठो

ज्ञेयः, यः कर्मान्तर्गताऽमानुभवानन्दपरितृप्तस्ततोऽन्यत् किञ्चित्
न काङ्क्षति, न च द्वेष्टि, निर्व्वन्द्वो द्वन्द्वसहिष्णुः सुखमनायासेन
सुकरकर्मानुष्ठेयैत्यर्थः ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भूयोविन्दते फलम् ॥४॥

सारा०व०—तस्माद्यच्छ्रेय एवैतयोरिति त्वदुक्तमपि
वस्तुतो न घटते, विवेकिभिरुभयोः पार्थक्याभावस्य दृष्टत्वा-
दित्याह—सांख्ययोगाविति । सांख्य-शब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना
तदङ्गः संन्यासो लक्ष्यते । संन्यास-कर्मयोगौ पृथक् स्वतन्त्रा-
विति बाला वदन्ति न तु विज्ञाः, ‘ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी’
इति पूर्वोक्तेः, अत एकमपीत्यादि ॥४॥

गी०भू०—यः श्रेय एतयोरेकमिति त्वद्वाक्यञ्च न घटत
इत्याह—सांख्येति—ज्ञानयोगकर्मयोगौ फलभेदात् पृथग्भूता-
विति बालाः प्रवदन्ति, न तु पण्डिताः । अतएव एकमित्यादि-
फलमात्मावलोकलक्षणम् ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

सारा०व०—एतदेव स्पष्टयति—यदिति । सांख्यैः संन्यासेन
योगैर्निष्कामकर्मणा, बहुवचनं गौरवेण, अतएव तद्वचनं पृथग्-
भूतमपि यो विवेकेनैकमेव पश्यति स पश्यति—चक्षुष्मान् पण्डित
इत्यर्थः ॥५॥

गी०भू०—एतद्विशदयति—यदिति । सांख्यैर्ज्ञानयोगिभिर्योगैः
निष्कामकर्मभिः “अर्श आद्यच्” । स्थानमात्मावलोकलक्षणम्—
‘तिष्ठन्त्यस्मिन्’, न तु कदाचित् प्रच्यवन्त इति व्युत्पत्तोः । अत-

एव तद्द्वयं निवृत्तिप्रवृत्तिरूपतया भिन्नरूपमपि फलैक्यादेकं यः पश्यति वेत्ति, स पश्यति स चक्षुष्मान् पण्डित इत्यर्थः ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

सारा०व०--किन्तु सम्यक्चित्ताशुद्धिमनिर्द्धारयतो ज्ञानिनः संन्यासो दुःखदः कर्मयोगस्तु सुखद एवेति पूर्वव्यञ्जितमर्थं स्पष्टमेवाह--संन्यासस्त्विति । चित्तावैगुण्ये सतीति शेषः । अयोगतः कर्मयोगाभावाच्चित्ता--वैगुण्यप्रशामककर्मयोगस्य संन्यासिन्यभावात् तत्रानधिकारादित्यर्थः । संन्यासो दुःखमेव प्राप्तं भवति । तदुक्तं बार्त्तिककृद्भिः--“प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः । संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताः शयाः ॥” इति, श्रुतिरपि--“यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः” इति, भगवतापि--“यस्त्वसंयतषड्वर्गः” (भा ११ । १८ । ४०) इत्याद्युक्तम् । तस्माद्योगयुक्तेः निष्काम-कर्मवान् मुनिर्ज्ञानी सन् ब्रह्म शीघ्रं प्राप्नोति ॥६॥

गी०भू०--ज्ञानयोगस्य दुष्करत्वात् सुकरकर्मयोगः श्रेयानित्याह--संन्यासस्त्विति । संन्यासः सर्वेन्द्रियव्यापारविनिवृत्तिरूपो ज्ञानयोग अयोगतः कर्मयोगं विना दुःखं प्राप्तुं भवति-दुष्करत्वात् सप्रमादत्वाच्च दुःखहेतुरेव स्यादित्यर्थः । योगयुक्तनिष्कामकर्म्म तु मुनिरात्ममननशीलः सन्नचिरेण शीघ्रमेव ब्रह्माधिगच्छति ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

सारा०व०--कृतेनापि कर्मणा ज्ञानिनस्तस्य न लेप इत्याह-

योगेति । योगयुक्तो ज्ञानी त्रिविधः--विशुद्धात्मा विजितबुद्धिरेकः, विजितात्मा विशुद्धचित्तो द्वितीयः, जितेन्द्रियस्तृतीय इति पूर्वपूर्वेषां साधनतारतम्यादुत्कर्षः । एतादृशे गृहस्थे तु सर्वेऽपि जीवा अनुरज्यन्तीत्याह--सर्वेषामपि भूतानामात्मभूतः प्रेमास्पदीभूत आत्मा देहो यस्य सः ॥७॥

गी०भू०--ईदृशो मुमुक्षुः सर्वेषां प्रेयानित्याह-योगेति-योगे निष्कामे कर्मणि युक्तो निरतः, अतएव विशुद्धात्मा निर्मलबुद्धिः, अतएव विजितात्मा बशीकृतमनाः, अतएव जितेन्द्रियः शब्दादि-विषयरोगशून्यः, अतएव सर्वेषां भूतानां जीवानामात्मभूतः प्रेमास्पदतां गत आत्मा देहो यस्य सः । न चात्र पार्थसारथिना सर्व्वात्मैक्यमाभिमतम्,--“न त्वेवाहम्” इत्यादिना सर्व्वात्मनां मिथो भेदस्य तेनाभिधानात्, तद्वादिनापि विज्ञाज्ञाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । एवम्भूतः कुर्वन्नपि विविक्तात्मानुसन्धानादनात्मन्यात्माभिमानेन न लिप्यते अचिरेणात्मानमधिगच्छति । अतः कर्मयोगः श्रेयान् ॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविति ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशजिघ्रक्षन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्चसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्निमिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

सारा०व०--येन कर्मणा लेपस्तं प्रकारं शिक्षयति--नैवेति । युक्तः कर्मयोगी दर्शनादीनि कुर्वन्नपीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या निश्चिन्वन् निरभिमानः किञ्चिदप्यहं नैव करोमीति मन्येत ॥८-९॥

गी०भू०--शुद्धस्यात्मनोऽधिष्ठानादि-पञ्चापेक्षित-कर्मवर्त्तित्वं

नास्तीति उपदिशति—नैवेति । युक्तो निष्कामकर्मी प्राधानिकदेहेन्द्रियादिसंसर्गादर्शनादीनि कर्माणि कुर्वन्नापि तत्त्वावत् बिबिक्तमात्मतत्त्वमनुभवन् इन्द्रियार्थेषु रूपादिषु इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि मद्भासनानुगुणपरमात्मप्रेरितानि वर्त्तन्त इति धारयन्निश्चिन्वन्नहं किञ्चिदपि न करोमीति मन्यते । पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्श्नन्ति चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां ज्ञानेन्द्रियाणां दशेनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानां व्यापाराः, गच्छन् प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् इति गमनादयः कर्मेन्द्रियव्यापाराः । तत्र गमनं पादयोः प्रलापं वाचः विसर्गानन्दः पायूपस्थयोः ग्रहणं हस्तयो इति बोध्यम्, श्वसन्निति प्राणादीनामुन्मिषान्निमिषान्नाति नागादीनां प्राणभेदानां, स्वपन्नित्यन्तःकरणानामित्यर्थः क्रमाद्व्याख्येयम् । विज्ञानसुखैकरसस्य ममानादिवासनाहेतुकप्राधानिकदेहादिसम्बन्धानिम्मितं तदीदृशकर्मकर्तृत्वम्, न तु स्वरूपैकनिम्मितमिति मन्यत इत्यर्थः । न स्वरूपप्रयुक्तमात्मनः कर्तृत्वं किञ्चिदपि नास्तीति शक्यमभिधातुं निर्वृत्तिरूपेण मनने च तस्याभिधानात् । तत्तच्च ज्ञानमेव तच्चात्मनो नित्यं—“न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिन्तापो विद्यते” इति श्रुतेः । तत्सिद्धिश्च—“हाराण धर्मभूतेन ज्ञानेन च” इत्याहुः ॥८-६॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

सारा०व०—किञ्च, ब्रह्मणि परमेश्वरे मयि कर्माणि समर्प्य सङ्गं त्यक्त्वा साभिमानोऽपि कर्मासक्तिं विहाय यः कर्माणि करोति । पापेनेत्युपलक्षणम् । सोऽपि कर्ममात्रेणैव न लिप्यते ॥१०॥

गी०भू०—उक्तं विशदयन्नाह—ब्रह्मणीति । ब्रह्म-शब्देनात्र त्रिगुणावस्थं प्रधानमुक्तम्, “तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमज्ञञ्

ज्ञायत” इति श्रवणात्, “मम योनिर्महद्ब्रह्म” इति ब्रह्मण्याधाय । देहेन्द्रियादीनि प्रधानपरिणामविशेषाणि भवन्ति तद्रूपतया परिणते प्रधाने दर्शनादीनि कर्माण्याधाय तस्यैवैतानि, न तु तद्विबिक्तस्य शुद्धस्य ममेति निर्वृत्त्यर्थः । सङ्गं तत्फलाभिलाषं तत्कर्तृत्वाभिनिवेशं च त्यक्त्वा यस्तानि करोति, स तादृग्देहादिमत्ताया सन्नपि देहाद्यात्माभिमानेन पापेन न लिप्यते—यथोपरिनिर्दिष्टेनाम्भसा स्पृष्टमपि पद्मपत्रं तद्वत् । न च “मयि संन्यस्य कर्माणि” इति पूर्वस्वारस्याद्ब्रह्मणि परमात्मनीति व्याख्येयम् । प्राधानिकदेहादिसंसृष्टस्यैव जीवस्य दशेनादिकर्मकर्तृत्वं, न तु तद्विविक्तस्येत्यर्थस्य प्रकृतत्वात् ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

सारा०व०—केवलैरपीन्द्रियैरात । ‘इन्द्राय स्वाहा’ इत्यादिना हविराद्यर्पणकाले यद्यपि मनः काप्यन्यत्र तदपीत्यर्थः । आत्मशुद्धये मनःशुद्धयर्थम् ॥११॥

गी०भू०—सदाचारं प्रमाणयन्नेतद्विवृणोति—कायेनेति । कायादांभः साध्यं कर्म कायाद्यहंभावशून्या योगिनः कुर्वन्ति । केवलैर्विशुद्धैः । सङ्गं त्यक्त्वेति प्राग्वत् आत्मशुद्धये अनादिदेहात्माभिमाननिवृत्ताये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सत्तो निबध्यते ॥१२॥

सारा०व०—कर्मकरणेऽनासक्त्यासक्ती एव मोक्षबन्धहेतू इत्याह—युक्तो योगी निष्कामकर्मीत्यर्थः । नैष्ठिकीं निष्ठाप्राप्तां शान्तिं मोक्षमित्यर्थः । अयुक्तः सकाम-कर्मीत्यर्थः । कामकारेण कामप्रवृत्त्या ॥१२॥

गी०भू०—युक्तं आत्मापितमनाः कर्मफलं त्यक्त्वा कुर्वन्ने-
ष्टिकीं स्थिरां शान्तिमात्मावलोकक्षणमाप्नोति । अयुक्त आत्मा-
नर्पितमनाः कर्मफले सक्तः कामकारेण कामतः कर्माणि प्रवृत्त्या
निवध्यते संसरति ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सारा०व०—अतोऽनासक्तः कर्माणि कुर्वन्नापि ज्ञेयः स
नित्यसन्न्यासी' इति पूर्वोक्तवत् वस्तुतः सन्न्यासी एतोच्यत
इत्याह—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य कार्यादव्यापारेण बहि-
ष्कुर्वन्नापि वशी जितेन्द्रियः सुखमास्ते । कुत्र?—नवद्वारे पुरे
पुरवदहं-भावशून्ये देहे देही उत्पन्नज्ञानो जीवो नैव कुर्वन्निति
कर्मसुखस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वं नैवास्तीति जानन्, न कारयन्निति
नापि तेषु स्वस्य प्रयोजनकत्वमित्यापि जानन्नित्यर्थः ॥१३॥

गी०भू०—सर्वेति । बिबेकवता मनसा तादृश प्रधाने सर्व-
कर्माणि संन्यस्यार्पयित्वा देहादिना बहिस्तानि कुर्वन्नापि वशी
जितेन्द्रियः सुखमास्ते । नवद्वारे पुरे पुरवदहं-भाववर्जिते देहे-
द्वे नेत्रे द्वे नासिके द्वे श्रोत्रे मुखञ्चेति शिरसि सप्त द्वाराणि
अधस्तात् पायूपरस्थस्य द्वे इति नव द्वाराणि देही लब्धज्ञानो
जीवः । नैवेति—देहादिबिबेकस्यात्मनः कर्मसु कर्त्तृत्वं कार-
यितृत्वञ्च नास्तीति विजानन्नित्यर्थः ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

सारा०व०—ननु च यदि जीवस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वादिकं
नैवास्ति, तर्हि परमेश्वरसृष्टेर्जगति सर्वत्र जीवस्य कर्त्तृत्व-

भोक्तृत्वादि-दर्शनान्मन्ये परमेश्वरेणैव बलात्तस्य कर्त्तृत्वादिकं
सृष्टम् । तथा सति तस्मिन् वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रसक्ते, तत्र न हि
न हीत्याह—न कर्त्तृत्वमिति । नापि तत्कर्त्तृव्यत्वेन कर्माण्यपि,
न च कर्मफलैर्भोगैः संयोगमपि, किन्तु जीवस्य स्वभावोऽनाद्य-
विद्यैव प्रवर्तते, तं जीवं कर्त्तृत्वाद्यभिमानमारोहयितुमिति
भावः ॥१४॥

गी०भू०—एतद्द्वयं शुद्धस्य नास्तीति विशदयति—नेति ।
प्रभुर्देहेन्द्रियादीनां स्वामी जीवो लोकस्य जनस्य कर्त्तृत्वं न सृज-
तीति त्वं कुर्विति कारयिता न भवति, नापि तस्येक्षिततमानि
कर्माणि माल्याम्बरादीनि सृजतीति स्वयं कर्त्तापि न भवति ।
न च कर्मफलेन सुखेन दुःखेन च संयोगं सम्बन्धं सृजतीति
भोजयिता भोक्ता च न भवतीत्यर्थः । यद्येवं, तर्हि कः कारयन्
कुर्वन्श्च प्रतीयते ? तत्राह—स्वभावस्त्विति । अनादिप्रवृत्ता प्रधान-
वासनात्र स्वभावशब्देनोक्तप्राधानिकदेहादिमान् जीवः कारयिता
कर्त्ता चेति न बिबेकस्य तत्त्वमिति । शुद्धेऽपि किञ्चि-
त्कर्त्तृत्वमस्त्येव पूर्वत्र सुखासने तत्त्वस्योक्तेः भानादाविवै-
तद्बोध्यं, धात्वर्थः खलु क्रिया, तन्मुख्यत्वं हि कर्त्तृत्वमुक्तम् ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सारा०व०—यस्मादसाधु-साधुकर्मणामीश्वरो न कारयिता,
तस्मादेव न तस्य पापपुण्यभागित्वमित्याह—नादत्ते न गृह्णाति,
किन्तु तदीया खलु या शक्तिरविद्या, सैव जीबज्ञानमावृणो-
तीत्याह—अज्ञानेनाविद्यया । ज्ञानं जीबस्य स्वाभाविकम्, तेन
हेतुना ॥१५॥

गी०भू०—ननु यदि विशुद्धस्य जीवस्य तादृशकर्मकर्त्तृ-

त्वादि नास्तीति ब्रूषे, तर्हि कौतुकाक्रान्तः परमात्मा प्रधानं तद्गले निपात्य तत्परिणामदेहेन्द्रियादिमतस्तस्य तद्रचितवानित्यापद्यते । युक्तञ्चैतत्, अन्यथा “एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमघो निनीषते” इति श्रुतिः । “अज्ञो जन्तुरनोशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं बाधभ्रमेव च ॥” इति स्मृतिश्च व्याकुप्येत् । तथा च पापपुण्यमयीमवस्थां नयति । प्रयोजके तस्मिन् वैषम्यादिकं पापादिभागित्वञ्च स्यादिति चेत्तत्राह—नादत्त इति । विभुरपरिमितविज्ञानानन्दोऽनन्त-शक्तिपूर्णः स्वानन्दैकरसिकस्ततोऽन्यत्रोदासीनः परमात्मानादि-प्रधानवासनानिवन्धं बुभुक्षुं स्व-सन्निधिमात्रपरिणतप्रधानमय-देहादिमन्तं जीवं तद्वासनानुसारेण कर्माणि कारयन् कस्यचि-ज्जीबस्य पापं सुकृतञ्च नादत्ते न गृह्णाति, एवमुक्तं श्रीवैष्णवे—“यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः ज्ञोभाय जायते । मनसो नोप-कर्त्तृत्वात्तथासौ परमेश्वरः ॥ सन्निधानाद्यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः । तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः ॥” इति । औदासीन्यमात्रेऽयं गन्धादिदृष्टान्तो, न त्विच्छाया अभावे तस्याः—“सोऽकामयत” इति श्रुतत्वात् । तर्हि जीवास्तं विषमं कुतो बदन्ति, तत्राह—अज्ञानेनेति । अनादितद्वैमुख्येनाज्ञानेन जीवानां नित्यमपि ज्ञानमावृतं तिरोहितं तेन हेतुना जन्तवो जीवा मुह्यन्ति—सममपि तं बिमूढा विषमं बदन्ति न विज्ञा इत्यर्थः । आह चैवं सूत्रकारः—“वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति”, “न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्” इति ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

साराव०—यथाऽविद्या तस्य ज्ञानमावृणोति, तथैवापरा तस्य विद्याशक्तिरविद्यां विनाश्य ज्ञानं प्रकाशयतीत्यर्थः । ज्ञानेन विद्या-शक्त्याऽज्ञानमविद्याम्, तेषां जीवानां ज्ञानमेव कर्त्ता, आदित्यव-दित्यादित्यप्रभा यथान्वकारं विनाश्य घटपटादिकं प्रकाशयति, तथैव विद्ययैवाविद्यां विनाश्य तज्जीवनिष्ठं ज्ञानं परमप्राकृतं प्रकाशयति । तेन परमेश्वरो न कमपि बध्नाति, नापि कमपि मोचयति । किन्त्वज्ञानज्ञाने प्रकृतेरेव धर्मः क्रमेण बध्नाति मोचयति च । कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-तत्प्रयोजकत्वादयो बन्धकाः, अनासक्तिशान्त्यादयो मोचकाश्च प्रकृतेरेव धर्माः । किन्तु पर-मेश्वरस्यान्तर्यामित्व एव प्रकृतेस्ते ते धर्मा उद्बुध्यन्त इत्येत-दंशेनैव तस्य प्रयोजकत्वमिति न तस्य वैषम्य-नैर्घृण्ये ॥१६॥

गी०भू०—विज्ञा न मुह्यन्तीत्येतदाह—ज्ञानेनेति । “सर्वं ज्ञानसत्त्वेन” इति, “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि” “न हि ज्ञानेन सदृ-शम्” इति चोक्तमहिम्ना सद्गुरुप्रसादलब्धेन स्वपरात्मविषय-केन ज्ञानेन येषां सत्प्रसङ्गिनां तद्वैमुख्यमज्ञानं नाशितं प्रध्वं-सितं तेषां तज्ज्ञानं कर्त्तृपरं प्रकाशयति । देहादेः परं जीवं वैषम्यादिदोषात् परमीश्वरञ्च बोधयति । आदित्यवत् यथा रवि-रुदित एव तमो निरम्यन् यथाबद्धस्तु प्रदर्शयति, तथा सद्गुरुरूप-देशलब्धमात्मज्ञानं यथाबद्धात्मवस्त्विति । अत्र विनष्टाज्ञानानां जीवानां बहुत्वं निगदता पार्थसारथिना मोक्षे तेषां तद्दर्शितं औपाधिकत्वं तस्य प्रत्युक्तं “नेमे जनाधिपाः” इत्युपक्रमोक्तं च तत् सोपपत्तिकमभूत् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

साराव०—किन्तु विद्या जीवात्मज्ञानमेव प्रकाशयति, न

तु परमात्मज्ञानम्—“भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” इति भगवदुक्तेः । तस्मात् परमात्मज्ञानार्थं ज्ञानिभिरपि पुनर्विशेषतो भक्तिः कार्येत्यत आह—तद्बुद्धय इति । तत्पदेन पूर्वमुपक्रान्तो विभुः परामृश्यते । तस्मिन् परमेश्वर एव बुद्धिर्येषां ते, तन्मननपरा इत्यर्थः । तदात्मानस्तन्मनस्कास्तमेव ध्यायन्त इत्यर्थः । तन्निष्ठाः “ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्” इति भगवदुक्तेः । देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेऽपि सात्त्विके निष्ठां परित्यज्य तदेकनिष्ठास्तत्परायणास्तदीयश्रवणकीर्त्तनपराः, यद्वदयते—“भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥” इति । ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ज्ञानेन विद्ययैव पूर्वमेव ध्वस्तसमस्ताविद्याः ॥१७॥

गी०भू०—परमात्मन्यबैषम्यादि-ध्यायतां फलमाह—तदिति । तस्मिन्स्तद्वैषम्यादिके गुणगणे बुद्धिर्निश्चयात्मिका येषां ते । तदात्मानस्तस्मिन्निबिष्टमनसः तन्निष्ठास्तत्तात्पर्यवन्तस्तत्परायणास्तत्समाश्रयाः, एवमभ्यस्तेन तद्बैषम्यादिगुणज्ञानेन निर्धूतकल्मषा विनष्ट-तद्वैमुख्याः सन्त अपुनरावृत्तिं मुक्तिं गच्छन्तीति ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

सारा०व०—ततश्च गुणातीतानां तेषां गुणमये वस्तुमात्र एव तारतम्यमयं विशेषमजिघृक्षुणां समबुद्धिरेव स्यादित्याह—विद्येति । ब्राह्मणे गवीति सात्त्विकजातित्वात्, हस्तिनि मध्यमे, शुनि च श्वपाके चेति तामसजातित्वाद्दधमेऽपि तत्तद्विशेषाग्रहणात् समदर्शिनः पण्डिता गुणातीताः, विशेषाग्रहणमेव समं गुणातीतं ब्रह्म, तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते ॥१८॥

गी०भू०—तान् स्तौति—विद्येति । तादृशे ब्राह्मणे श्वपाके चेति कर्मण्यैतौ विषमौ गवि हस्तिनि शुनि चेति जात्यैते विषमाः, एवं विषमतया सृष्टेषु ब्राह्मणादिषु ये परमात्मानं समं पश्यन्ति, त एव पण्डिताः । तत्कर्मण्यनुसारिणी तेन तेषां तथा तथा सृष्टिः, न तु रागद्वेषानुसारिणीति,—पञ्चान्यवत् सर्वत्र समः परमात्मेति ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

सारा०व०—समदृष्टत्वं स्तौति—इहैव इह लोक एव सृज्यत इति सर्गः संसारो जितः पराभूतः ॥१९॥

गी०भू०—इहेति—इह साधनदशायामेव तैः सर्गः संसारो जितः पराभूतः । कैः?—येषां मनः साम्येऽबैषम्याख्ये ब्रह्मधर्मे स्थितं निबिष्टम् । कुतो ब्रह्माविषमम् ? तत्राह—निर्दोषं हीति । हि यतो ब्रह्म निर्दोषं रागद्वेषशून्यमतः सममविषममित्यर्थः । यतो ब्रह्मण्यबैषम्यादिकं निश्चिक्व्युस्तस्मात् प्रपञ्चे तिष्ठन्तोऽपि ते ब्रह्मण्येव स्थिताः मुक्तिस्तेषां सुलभेत्यर्थः ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

सारा०व०—एवं लौकिकप्रियाप्रियादिष्वपि तेषां साम्यमाह—न प्रहृष्येदिति । न प्रहृष्येत् न प्रहृष्यति, नोद्विजेत् नोद्विजते । साधनदशायामेवमभ्यस्येदिति विवक्षया वा लिङ् । असंमूढो हर्षशोकादीनामभिमाननिबन्धनत्वेन संमोहमात्रत्वात् ॥२०॥

गी०भू०—ब्रह्मणि स्थितस्य लक्षणमाह—नेति । वर्त्तमाने देहे स्थितः प्रारब्धाकृष्टं प्रियमप्रियञ्च प्राप्य न प्रहृष्येन्न चोद्विजेत् । कुतः?—

स्थिरा स्वात्मनि बुद्धिर्यस्य सः, असंमूढोऽनित्येन देहेन नित्य-
मात्मानमेकीकृत्य मोहं न लब्धः, ब्रह्मविन् तादृशं ब्रह्मानुभवन् ।
एवंलक्षणो ब्रह्मणि स्थितो बोध्यः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा बिन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

साराव०--स च बाह्यस्पर्शेषु विषयसुखेष्वसक्तात्मा अना-
सक्तमनास्तत्र हेतुः--आत्मनि जीवात्मानं परमात्मानं बिन्दति
सति प्राप्ते यत् सुखं तदक्षयं सुखम् । स एवाश्नुते प्राप्नोति, न हि
निरन्तरममृतास्वादने मृत्तिका रोचत इति भावः ॥२१॥

साराव०--विवेकवानेव वस्तुतो विषयसुखेनैव सज्ज-
तीत्याह--ये हीति ॥२२॥

गी०भू०--पौर्वोक्तार्थेण स्वपरात्मानावनुभवतीत्याह--
बाह्येति । बाह्यस्पर्शेषु शब्दादिविषयानुभवेष्वासक्तात्मा सन् यदा-
त्मनि स्वस्वरूपेऽनुभूयमाने सुखं तदादौ बिन्दति, तदुत्तरं ब्रह्मणि
परमात्मानि योगः समाधिस्तद्युक्तात्मा सन् यदक्षयं महदनुभव-
लक्षणं सुखं, तदश्नुते लभते ॥२१॥

गी०भू०--अदृष्टाकृष्टेषु विषयभोगेष्वनित्यत्वविनिश्चयान्न
सज्जतीत्याह--ये हीति । संस्पर्शजा विषयजन्या विषयजन्या
भोगाः सुखानि । स्फुटमन्यत् ॥२२॥

शङ्कातीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

साराव०--संसारसिन्धौ पतितोऽप्येष एव योगी एष एव
सुखीत्याह--शक्नोतीति ॥२३॥

गी०भू०--कामादि-वेगो हि ज्ञाननिष्ठा-प्रतिकूलोऽतस्तस्य
सहने प्रयत्नवता भाव्यमित्याह--शक्नोतीति । कामात् क्रोधा-
च्चोद्धवति यो वेगो मनोनेत्रक्षोभादिबहुस्तमिह तदुद्धवकाल एवा-
त्मानुभवप्रीत्या यः सोढुं निरोद्धुं शक्नोति शरीरविमोक्षणात्
प्राक् यावच्छरीरत्यागम्, स एव युक्तः कृतात्मसमाधिः, स एव
सुखी आत्मानुभवानन्दवान् । तथा तद्वेगसहने तीव्रप्रयत्नो
योग्यः ॥२३॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

साराव०--यस्तु संसारातीतस्तस्य तु ब्रह्मानुभव एव सुख-
मित्याह--य इति । अन्तरात्मन्येव सुखं यस्य सः--यतोऽन्तरात्म-
न्येव रमते, अतोऽन्तरात्मन्येव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः ॥२४॥

गी०भू०--यत्प्रीत्या तं सोढुं शक्नोतीति--योऽन्तरिति ।
अन्तर्वर्तिनानुभूतेनात्मना सुखं यस्य सः, तेनैवारावः क्रीडा
यस्य सः, तस्मिन्नेव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः । ईदृशो योगी निष्काम-
कर्मि ब्रह्मभूतो लब्धशुद्धजैबस्वरूपो ब्रह्माधिगच्छति परमात्मानं
लभते । निर्वाणं मोक्षरूपं, तेनैव तल्लाभात् ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

साराव०--एवं बहव एव साधनसिद्धा भवन्तीत्याह--
लभन्त इति ॥२५॥

गी०भू०--एवं साधनसिद्धा बहवो भवन्तीत्याह--लभन्त

इति । ऋषयस्तत्त्वद्रष्टारः, छिन्नद्वैधा विनष्टसंशयाः स्फुटमन्यत् ॥२५॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

सारा०व०—ज्ञात 'त्वं' पदार्थानामप्राप्तपरमात्मज्ञानानां कियता कालेन ब्रह्मनिर्वाणसुखं स्यादित्यपेक्षायामाह—कामेति—यतचेतसामुपरतमनसां क्षीणलिङ्गशरीराणामिति यावत्, अभितः सर्वतोभावेनैव वर्तते एवेति ब्रह्मनिर्वाणे तस्य नैर्वातिबिलम्बमिति भावः ॥ २६ ॥

गी०भू०—ईदृशान् परमात्माप्यनुवर्त्तते इत्याह—कामेति । यतीनां प्रयत्नवतां तानभितो ब्रह्म वर्त्तते इत्यर्थः । यदुक्तं—“दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्मविहङ्गमाः । स्वान्यपत्यानि पुष्पान्ति तथाहमपि पद्मज ॥” इति ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे श्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

सारा०व०—तदेवमीश्वरार्पितनिष्कामकर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिः, ततो ज्ञानं 'त्वं' पदार्थविषयकम्, ततः 'तत्' पदार्थज्ञानार्थं भक्तिः, तदुत्थज्ञानेन गुणातीतेन ब्रह्मानुभव इत्युक्तम् । इदानीं निष्कामकर्मयोगेन शुद्धान्तकरणः स्याष्टाङ्गयोगं ब्रह्मानुभवसाधनं ज्ञानयोगादप्युत्कृष्टत्वेन षष्ठाध्याये वक्तुं तत्सुत्ररूपं श्लोकत्रयमाह—स्पर्शान्ति । बाह्या एव शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्पर्शशब्दवाच्याः । मनसि प्राविश्य ये वर्त्तन्ते तान्, तस्मान्मनसः

सकाशाद्वहिष्कृत्य विषयेभ्यो मनः प्रत्याहृत्येत्यर्थः । चक्षुषी च श्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा नेत्रयोः सम्पूर्णनिमीलने निद्रया मनो लीयत उन्मीलनेन बहिः प्रसरति । तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्धनिमीलनेन श्रुमध्ये दृष्टिं निधायोच्छ्वास-निश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्द्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा, यता बशीकृता इन्द्रियादयो येन सः ॥ २७-२८ ॥

गी०भू०—अथ कर्मणा निष्कामेण विशुद्धमनः समुदितात्मज्ञानस्तद्दर्शनाय समाधिं कुर्यादिति साङ्गं योगं सूचयन्नाह—स्पर्शान्ति । स्पर्शाः शब्दादयो विषयास्ते बाह्या एव स्मृताः सन्तो मनसि प्रविशन्ति, तांस्तस्मृतिपरित्यागेन बहिष्कृत्य विषयेभ्यो मनः प्रत्याहृत्येत्यर्थः । श्रुवोरन्तरे मध्ये चक्षुश्च कृत्वा नेत्रयोः सन्निमीलने निद्रया मनसो लयः, प्रोन्मीलने च बहिस्तस्य प्रसारः स्यात्, तदुभयविनिवृत्तायेऽर्द्धनिमीलनेन श्रुमध्ये दृष्टिं निधायेत्यर्थः । तथा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावूर्द्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ तुल्यौ कृत्वा कुम्भयित्वेत्यर्थः । एतेनोपायेन यता आत्माबलोकनाय स्थापिता इन्द्रियादयो येन सः, मुनिरात्ममननशीलः, मोक्षपरायणो मोक्षैकप्रयोजनः, अतो विगतेच्छादिः । ईदृशो यः सर्वदा फलकालवत् साधनकालेऽपि मुक्त एव ॥२७-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।



सारा०व०—एवम्भूतस्य योगिनोऽपि ज्ञानिन इव भक्त्युत्थेन परमात्मज्ञानेनैव मोक्ष इत्याह—भोक्तारमिति । यज्ञानां कर्मि-
कृतानां तपसाञ्च ज्ञानिकृतानां भोक्तारं पालयितारमिति कर्मिणां
ज्ञानिनां चोपास्यम्, सर्वलोकानां महेश्वरं महानियन्तारमन्तर्या-
मिनं योगिनामुपास्यम्, सर्वभूतानां सुहृदं कृपया स्वभक्तद्वारा
स्वभक्त्युपदेशेन हितकारिणमिति भक्तानामुपास्यं मां ज्ञात्वेति
सत्त्वगुणमयज्ञानेन निर्गुणस्य ममानुभवासम्भवात् “भक्त्याह-
मेकया ग्राह्यः” इति भदुक्तेः । निर्गुणया भक्त्यैव योगी स्वोपास्यं
परमात्मानं मामपरोक्षानुभवगोचरीकृत्य शान्तिं मोक्षमृच्छति
प्राप्नोति ॥ २६ ॥

निष्कामकर्मणा ज्ञानी योगी चात्र विमुच्यते ।
ज्ञात्वात्मपरमात्मानावित्यध्यायार्थ ईरितः ॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतासु पञ्चमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥



गी०भू०—एवं समाविस्थः कृतस्वात्मावलोकनः परमात्मान-
मुपास्य मुच्यत इत्याह,—भोक्तारमिति । यज्ञानां तपसाञ्च भोक्तारं
पालकम्, सर्वेषां लोकानां विधिरुद्रादीनामपि महेश्वरम्—“तमी-
श्वराणां परमं महेश्वरम्” इत्यादिश्रवणात्, सर्वभूतानां सुहृदं
निरपेक्षोपकारकम् । इदृशं मां ज्ञात्वा स्वाराध्यतयानुभूय शान्तिं
संसारनिवृत्तिमृच्छति लभते । सर्वेश्वरस्य सुहृदश्च समाराधनं
खलु सुखावहं सुखसाधनमिति ॥ २६ ॥

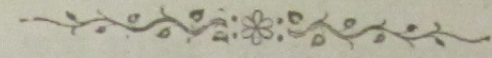
निष्काकर्मणा योगशिरस्केन विमुच्यते ।

सनिष्ठो ज्ञानगर्भेणेत्येष पञ्चमनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ।



षष्ठोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

सारा०व०—षष्ठेषु योगिनो योगप्रकारविजितात्मनः ।

मनसश्चञ्चलस्यापि नैश्चल्योपाय उच्यते ॥ (१)

सारा०व०—अष्टाङ्गयोगाभ्यासे प्रवृत्तेनापि चित्तशोधकं
निष्कामकर्म सहसा न त्याज्यमित्याह—कर्मफलमनाश्रितो-
ऽनपेक्ष्यमाणः कार्यमवश्यकर्तव्यत्वेन शास्त्रविहितं कर्म यः
करोति, स एव कर्मफलसंन्यासात् संन्यासी, स एव विषय-
भोगेषु चित्ताभावाद्योगी चोच्यते । न च निरग्निरग्निरहोत्रा-
दिकर्मामात्रत्यागवानेव संन्यास्युच्यते । न चाक्रियो दैहिकचेष्टा-
शून्योऽर्द्धनिमीलितनेत्र एव योगी चोच्यते ॥ १ ॥

गी०भू०—षष्ठे योगविधिः कर्मशुद्धस्य विजितात्मनः ।

स्थैर्योपायश्च मनसोऽस्थिरस्यापीति कीर्त्यते ॥

गी०भू०—प्रोक्तं कर्मयोगमष्टाङ्गयोगशिरस्कमुपदेक्ष्यन्नादौ
तौ तदुपायत्वात्तं कर्मयोगं स्तौति भगवान्—अनाश्रित इति
द्वाभ्याम् । कर्मफलं पञ्चत्रयपुत्रवर्गादि-कामनाश्रितोऽनिच्छन्
कार्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म यः करोति, स संन्यासी
ज्ञानयोगनिष्ठः योगी चाष्टाङ्गयोगनिष्ठः स एव—कर्मयोगेनैव
तयोः सिद्धिरिति भावः । न निरग्निरग्निरहोत्रादिकर्मत्यागी यति-
वेशः संन्यासी न चाक्रियः शारीरकर्मत्यागी अर्द्धमुद्रितनेत्रो
योगी । अत्र योगमष्टाङ्गं चिकीर्षूणां सहसा कर्म न त्याज्य-
मिति मतम् ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

सारा०व०—कर्मफलत्याग एव संन्यास-शब्दार्थः, वस्तु-
तस्तथा विषयेभ्यश्चित्तनैश्चल्यमेव योग-शब्दार्थः । तस्मात्
संन्यास-योग-शब्दयोरैकार्थ्यमेवागतमित्याह—यमिति । असंन्य-
स्तो न संन्यस्तस्त्यक्तः संकल्पः फलाकाङ्क्षा विषयभोगस्पृहा
येन सः ॥२॥

गी०भू०—ननु सर्वेन्द्रियवृत्तिविरतिरूपायां ज्ञाननिष्ठायां
संन्यासशब्दश्चित्तवृत्तिनिरोधे योगशब्दश्च पठ्यते । स च सर्वे-
न्द्रियव्यापारात्मके कर्मयोगे स संन्यासी च योगी चेति ब्रूवता
भवता कया वृत्त्या नीयत इति चेत्तत्राह—यमिति । यं कर्म-
योगमर्थतात्पर्यज्ञाः संन्यासं प्राहुस्तमेव तं योगमष्टाङ्गं विद्धि ।
हे पाण्डव ! ननु 'सिंहो मानवकः' इत्यादौ शौर्यादिगुणसादृश्येन
तथा प्रयोगः, प्रकृतेः किं सादृश्यमिति चेत्तत्राह—न हीति । असं-
न्यस्तसङ्कल्पः कश्चन कश्चिदपि ज्ञानयोग्यष्टाङ्गयोगी च न भव-
त्यपि तु संन्यस्तसङ्कल्प एव भवतीत्यर्थः । संन्यस्तः परित्यक्तः
सङ्कल्पः फलेच्छा च येन सः । तथा फलत्यागसादृश्यात्तृष्णा-
रूपचित्तावृत्तिनिरोधसादृश्याच्च कर्मयोगिनस्तदुभयत्वेन प्रयोगो
गोणवृत्त्येति ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

सारा०व०—ननु तर्ह्यष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवमेव निष्काम-
कर्मयोगः प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—आरुरुक्षोरिति ।
मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं निश्चलध्यानयोगमारोढुमिच्छोस्तदारोहं

कारणं कर्म चोच्यते, चित्ताशुद्धिकरत्वात् । ततस्तस्य योगं
ध्यानयोगमारूढस्य ध्याननिष्ठाप्राप्तः शमः विक्षेपकसर्वकर्मो-
परमः कारणम् । तदेवं सम्यक्चित्तशुद्धिरहितो योगारुरुक्षुः ॥३॥

गी०भू०—नन्वेवमष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवं कर्मानुष्ठानं प्राप्त-
मिति चेत्तत्राह—आरुरुक्षोरिति । मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं ध्यान-
निष्ठामारुरुक्षोस्तदारोहे कर्म कारणं हृदिशुद्धिकृत्वात् । तस्यैव
योगारूढस्य ध्याननिष्ठस्य तदाढ्ये शमो विक्षेपक-कर्मोपरतिः
कारणम् ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।

सर्वसंकल्पसंयासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

सारा०व०—सम्यक् शुद्धचित्तास्तु योगारूढस्तज्ज्ञापकं
लक्षणमाह—यदेति । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु तत्साधनेषु ॥४॥

गी०भू०—योगारूढत्वज्ञापकं चिह्नमाह—यदेति । इन्द्रियार्थेषु
शब्दादिषु तत्साधनेषु कर्मसु च यदात्मानन्दरासिकः सन्न
सज्जते । तत्र हेतुः—सर्वेति । सर्वान् भोगविषयान् कर्म-
विषयांश्च सङ्कल्पानासक्तिमूलभूतान् संन्यासितुं परित्यक्तुं
शीलं यस्य सः ॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

सारा०व०—यस्मादिन्द्रियार्थासक्त्यैवात्मा संसारकूपे पाति-
तस्तं यत्नेनोद्धरेदिति । आत्मना विषयासक्तिरहितेन मनसा-
ऽऽत्मानं जीवमुद्धरेत् । विषयासक्तिसहितेन मनसा त्वात्मानं
नावसादयेत् न संसारकूपे पातयेत् । तस्मादात्मा मन एव
बन्धुर्मन एव रिपुः ॥५॥

गी०भू०—इन्द्रियार्थाद्येनासक्तौ हेतुभावेनाह—उद्धरेदिति ।
विषयाद्यासक्तमनस्कतया संसारकूपे निमग्नमात्मानं जीवमात्मना
विषयासक्तिरहितेन मनसा तस्मादुद्धरेत् उद्ध्वं हरेत् । विषया-
सक्तेन मनसात्मानं नावसादयेत्तत्र न निमज्जयेत् । हि निश्चये-
नैवमात्मैव मन एवात्मनः स्वस्य बन्धुस्तदेव रिपुः । स्मृतिश्च-
“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषया-
सङ्गो मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥” इति ॥५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

सारा०व०—कस्य स बन्धुः, कस्य स रिपुरित्यपेक्षया-
माह—बन्धुरिति । येनात्मना जीवेनात्मा मनो जितस्तस्य जीवस्य
स आत्मा मनो बन्धुः, अनात्मनोऽजितमनसत्वात्मैव मन एव
शत्रुवत् शत्रुत्वेऽपकारकत्वे वर्त्तते ॥ ६ ॥

गी०भू०—कीदृशस्य स बन्धुः, कीदृशस्य च रिपुरित्यपेक्षा-
यामाह—बन्धुरिति । येनात्मना जीवेनात्मा मन एव जितस्तस्य
जीवस्य स आत्मा मनो बन्धुस्तद्वदुपकारी । अनात्मनोऽजित-
मनसस्तु जीवस्यात्मैव मन एव शत्रुवत् शत्रुत्वेऽपकारकत्वे
वर्त्तते ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

सारा०व०—अथ योगारूढस्य चिह्नानि दर्शयति त्रिभिः ।
जितात्मनो जितमनसः प्रशान्तस्य रागादिरहितस्य योगिनः
परमतिशयेन समाहितः समाधिस्थ आत्मा भवेत् । शीतादिषु
सत्स्वपि मानापमानयोः प्राप्तयोरपि ॥ ७ ॥

गी०भू०—योगारम्भयोग्यामवस्थामाह—जितेति त्रिभिः ।
शीतोष्णादिषु मानापमानयोश्च जितात्मनोऽविकृतमनसः प्रशा-
न्तस्य रागादिशून्यस्यात्मा परमत्यर्थं समाहितः समाधिस्थो
भवति ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥८॥

सारा०व०—ज्ञानमौपदेशिकं विज्ञानमपरोक्षानुभवस्ताभ्यां
तृप्तौ निराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य सः । कूटस्थ एकेनैव स्व-
भावेन सर्वकालं व्याप्य स्थितः, सर्ववस्तुष्वनासक्तत्वात् ।
समाने लोष्ट्रादीनि यस्य सः । लोष्ट्रं मृत्पिण्डः ॥ ८ ॥

गी०भू०—ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रजं विज्ञानं बिबिक्तात्मानु-
भवस्ताभ्यां तृप्तात्मा पूर्णमनाः, कूटस्थ एकस्वभावतया सर्व-
कालं स्थितः, अतो विजितेन्द्रियः,—प्रकृतिविविक्तात्ममात्रनिष्ठ-
त्वात्, प्राकृतेषु लोष्ट्रादिषु लोष्ट्रं मृत्पिण्डः । ईदृशो योगी
निष्कामकर्मि युक्त आत्मदर्शनरूपयोगाभ्यासयोग्य उच्यते ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सारा०व०—सुहृत् स्वभावेन हिताशंसी मित्रं केनापि स्नेहेन
हितकारी, अरिर्घातकः, उदासीनो विवदमानयोरुपेक्षकः, मध्यस्थो
विवदमानयोर्विवादापहारार्थी, द्वेष्योऽपकारकत्वात् द्वेषार्हः,
बन्धुः सम्बन्धी, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः,—
एतेषु समबुद्धिस्तु विशिष्यते । समलोष्ट्राश्मकाञ्चनात् सकाशा-
दपि श्रेष्ठः ॥ ९ ॥

गी०भू०—सुहृदिति । यः सुहृदादिषु समबुद्धिः, स समलो-

प्राश्मकाञ्चनादपि योगिनः सकाशाद्विशिष्यते श्रेष्ठो भवति । तत्र सुहृत् स्वभावेन हितेच्छुः, मित्रं केनापि स्नेहेन हितकृत्, अरि-
निर्मित्रतोऽनर्थेच्छुः, उदासीनो बिबदमानयोरनपेक्षकः, मध्य-
स्थस्तयोर्विवादापहारार्थी, द्वेषोऽपकारकारित्वात् द्वेषार्हः, बन्धुः
सम्बन्धेन हितेच्छुः, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः ॥६॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

साराव०—अथ साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिना, स योगी परमो मत इत्यन्तेन । योगी योगारूढ आत्मानं मनो युञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात् ॥ १० ॥

गी०भू०—अथ तस्य साङ्गं योगमुपदिशति—योगीत्यादि त्रयोविशत्या । योगी निष्कामकर्म्मर्षी । आत्मानं मनः सततमह-
रहयुञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात् । रहसि निर्जने निःशब्दे देशे स्थितः तत्राप्येकाकी द्वितीयशून्यस्तत्रापि यतचित्तात्मा यतौ योग-
प्रतिकूलव्यापारवर्जितो चित्तदेहो यस्य सः, यतो निराशी दृढ-
वैराग्यतयेतरत्र निस्पृहः, अपरिग्रहो निराहारः ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

साराव०—प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा । चैलाजिनकुशोत्तरमिति कुशासनोपरि मृगचर्मासनम्, तदुपरि वस्त्रासनं निधायेत्यर्थः । आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये विक्षेपशून्यत्वेनातिसुक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै,—“दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या” इति

श्रुतेः ॥ ११-१२ ॥

गी०भू०—आसनमाह—शुचाविति द्वाभ्याम् । शुचौ स्वतः संस्कारतश्च शुद्धे गङ्गातटगिरिगुहादौ देशे स्थिरं निश्चलम्, नात्युच्छ्रितं नात्युच्चम्, नातिनीचं दाढ्यादिनिर्मितमासनं प्रतिष्ठाप्य संस्थाप्य चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरे यत्र तत्-चैलं मृदुबन्धं, मृदु-
मृगादिचर्म, कुशोपरि बन्धमास्तीर्येत्यर्थः । आत्मन इति परा-
सनस्य व्यावृत्तये परेच्छायौ अनियतत्वेन तस्य योगप्रतिकूल-
त्वात् । तत्रेति - तस्मिन् प्रतिष्ठापिते आसने उपविश्य, न तु तिष्ठन् शयानो वेत्यर्थः । एवमाह सूत्रकारः—“आसीनः सम्भ-
वात्” इति । यता निरुद्धाश्चित्तादिक्रिया यस्य सः मन एकाग्र-
मव्याकुलं कृत्वा योगं युञ्जीतसमाधिमभ्यसेत् । आत्मनोऽन्तः-
करणस्य विशुद्धये अतिनैर्मल्येन सौक्ष्म्येणात्मदर्शनयोग्यतायै—
“दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” इति श्रव-
णात् ॥११-१२॥

सुमं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

साराव०—कायो देहमध्यभागः, सममवक्रम्, अचलं निश्च-
लम्, धारयन् कुर्वन्, मनः संयम्य प्रत्याहृत्य मच्चित्तो मां चतुर्भुजं सुन्दराकारं चिन्तयन्, मत्परो मद्भक्तिपरायणः ॥१३-१४॥

गी०भू०—आसने तस्मिन् पविष्टस्य शरीरधारणविधिमाह—
सममिति । कायो देहमध्यभागः, कायश्च शिरश्च ग्रीवा च तेषां
समाहारः प्राण्यङ्गत्वात् । सममवक्रं, अचलमकम्पं धारयन्
कुर्वन्, स्थिरो दृढप्रयत्नो भूत्वा स्वनासिकाग्रं संप्रेक्ष्य संप-

श्यन्मनोऽल्यविज्ञेयनिवृत्तये भ्रूमध्यदृष्टिः सन्नित्यर्थः । अन्तरान्तरादिशश्चानवलोकयन् । एवम्भूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण सम्बन्धः । प्रशान्तात्मा अल्लुब्धमनाः, बिगतभीर्निर्भयः, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्ये स्थितः, मनः संयम्य विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य, मच्चित्तः चतुर्भुजं सुन्दराङ्गं मां चिन्तयन्, मत्परो मदेकपुरुषार्थः, युक्तो यागी ॥१३-१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

साराव०—आत्मानं मनो युञ्जन्, ध्यानयोगयुक्तं कुर्वन्, यतो नियतमानसो विषयोपरतच्चित्तः, निर्वर्णो मोक्ष एव परमः प्राप्यो यस्याम्, मय्येव निर्विशेषब्रह्मणि सम्यक् स्था स्थितिर्यस्यां तां शान्तिं संसारोपरतिं प्राप्नोति ॥१५॥

गी०भू०—एवमासीनस्य किं स्यात्तादाह—युञ्जन्निति । योगी सदा प्रतिदिनमात्मानं युञ्जन्नर्पयन्, नियतमानसः मत्स्पर्शपरिशुद्धतया नियतं निश्चलं मानसं चित्तं यस्य सः मत्संस्थां मदधीनां निर्वर्णपरमां शान्तिमधिगच्छति लभते—“तमेव विदित्वा तिसृषुमेति” इत्यादि श्रवणात्, निर्वर्णपरमां मोक्षावधिकारिणं सिद्धयोऽपि योगफलानीत्युक्तम् ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

साराव०—योगाभ्यासनिष्ठस्य नियममाह द्वाभ्याम् । अत्यश्नतोऽधिकं भुञ्जानस्य; यदुक्तम्—“पूरयेदशनेनाद्धं तृतीयमुदकेन तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥” इति ॥१६॥

गी०भू०—योगमभ्यसतो भोजनादिनियममाह—नातीति

द्वाभ्याम् । अत्यश्नमनस्त्यश्नश्च, अतिस्वापोऽतिजागरश्च, योगविरोध्यतिविहारादि चोत्तरात् ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

साराव०—युक्तो नियत एवाहारो भोजनं विहारो गमनञ्च यस्य तस्य कर्मसु व्यवहारिक-पारमार्थिक-कृत्येषु युक्ता नियता एव चेष्टा वाग्व्यापाराद्या यस्य तस्य ॥१७॥

गी०भू०—युक्तेति—मिराहारविहारस्य कर्मसु लौकिक-पारमार्थिककृत्येषु मितवागादिव्यापारस्य मितस्वापजागरस्य च सर्वदुःखनाशको योगो भवति, तस्माद्योगी तथा तथा वर्त्तते ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

साराव०—योगी निष्पन्नयोगः कदा भवेदित्याकाङ्क्षायामाह—यदेति—विनियतं निरुद्धं चित्तमात्मनि स्वस्मिन्नेवावतिष्ठते निश्चलीभवतीत्यर्थः ॥१८॥

गी०भू०—योगी निष्पन्नयोगः कदा स्यादित्यपेक्षायामाह—यदेति । योगमभ्यसतो योगिनश्चित्तं यदा विनियतं निरुद्धं सदात्मन्येव स्वस्मिन्नेवावस्थितं स्थिरं भवति, तदात्मेतरसर्व-स्पृहाशून्यो युक्तो निष्पन्नयोगः कथ्यते ॥१८॥

यथा दीपौ निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

साराव०—निवातस्थो निर्व्रातदेशस्थितो दीपो नेङ्गते न

चलति यः स एव दीप उपमा यथा यथावदित्यर्थः । सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणमिति सन्धिः, कस्योपमा इत्यत आह - योगिन इति ॥ १६ ॥

गी०भू०—तदा योगी कीदृशो भवतीत्यपेक्षायामाह—यथेति - निर्वर्तितदेशस्थो दीपो नेङ्गते न चलति निश्चलः सप्रभ-स्तिष्ठति स दीपो यथा यथानुपमा योगज्ञैः स्मृता चिन्तिता । सोपमेत्यत्र—“सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्” इति सूत्रात् सन्धिः, उपमा-शब्देनोपमानं बोध्यम् । कस्येत्याह-योगिन इति । यत्-चित्तस्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरात्मनो योगं ध्यानं युञ्जतोऽनुतिष्ठतः । निवृत्तासकलेतरचित्तवृत्तिरभ्युदितज्ञानयोगी निश्चलसप्रभदीप-सदृशो भवतीति ॥ १६ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

तत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

सारा०व०—“नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति” इत्यादौ ‘योग’-शब्देन समाधिरुक्तः । स च संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । सवितर्क-सविचारादिभेदात् संप्रज्ञातो बहुविधः । असंप्रज्ञातसमाधिरूपो योगः कीदृश इत्यपेक्षायामाह—यत्रेत्यादि साद्धैस्त्रिभिः । यत्र समाधौ सति चित्तमुपरमते वस्तुमात्रमेव न स्पृशतीत्यर्थः । तत्र हेतुः—विरुद्धमिति । तथा च पातञ्जलसुत्रम्—“योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः” इति । यत्रेत्यादिपदानां योगसंज्ञितं विद्यादिति चतुर्थेनान्वयः । आत्मना परमात्माकारान्तःकरणेनात्मानं पश्यन् तस्मिन् तुष्यति, तत्रत्यं सुखं प्राप्नोति । यदात्यन्तिकं सुखं प्रसिद्धम्, तदेव यत्र समाधौ सति वेत्ति । बुद्ध्यात्माकारयैव ग्राह्यम्; अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्पर्करहितम् । अतएव यत्र स्थितः सन् तत्त्वत आत्मस्वरूपात्रैव चलति, अतएव यं लाभं लब्ध्वा ततः सकाशादपरं लाभमधिकं न मन्यते । दुःखस्य संयोगेन स्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिन् तं योगसंज्ञितं योग-संज्ञां प्राप्तं समाधिं विद्यात् । यद्यपि शीघ्रं न सिध्यति तदप्ययं मे योगः संसेत्स्यत्येवेति यो निश्चयस्तेन । अनिर्विण्णचेतसैता-वतापि कालेन योगो न सिद्धः, किमतःपरं कष्टेनेत्यनुतापो निर्व्वदस्तद्रहितेन चेतसा । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सिध्यतु, किं मे त्वरयेति धैर्य्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः । तदेतद्गोडपादा उदाजह्वः—“उत्सेक उद्धेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकविन्दुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥” इति;—उत्सेक उत्सेचनम्, शोष-णाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत् । अत्र काचिदाख्यायि-कास्ति,—“कस्याचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थितानि तरङ्ग-वेगेन समुद्रो जहार । स च समुद्रं शोषयिषाम्येवेति प्रतिज्ञाय स्वमुखाग्रेणैकैकं जलविन्दुमुपरि प्राचक्षेप । तमश्च स बहुभिः पक्षि-भिर्वन्धुभिर्युक्त्या वार्य्यमाणोऽपि नैवोपरराम । यदृच्छया च

तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति तदग्रेऽपि पुनः प्रतिजज्ञे । ततश्च दैवानु-
कूल्यात् कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास । समुद्र-
स्त्वदीयज्ञातिद्रोहेन त्वामबमन्यत इति वाक्येन ततो गरुडपक्ष-
बातेन शुष्यन् समुद्रोऽतिभीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे ददौ”
इति । एवमेव शास्त्रवचनास्तिक्येने योगे ज्ञाने भक्तौ वा प्रवर्त्त-
मानमुत्साहवन्तमध्यवसायिनं जनं भगवानेवानुगृह्णातीति निश्चे-
तव्यम् । एतादृशयोगाभ्यासे प्रवृत्तस्य प्रार्थामिकं कृत्यमन्त्यञ्च
कृत्यमाह-संकल्पेति द्वाभ्याम् । कामास्त्यक्त्वेति प्रार्थामिकं कृत्यम् ।
न किञ्चिदपि चिन्तयेदित्यन्त्यं कृत्यम् ॥ २०-२५ ॥

गी०भू०—‘नात्यश्नतः’ इत्यादौ योग-शब्देनोक्तं समाधि-
स्वरूपतः फलतश्च लक्षयति-यत्रत्यादि-साद्धेत्रयेण । यच्छब्दानां
तं विद्याद्योगसंज्ञितमित्युत्तरेणान्वयः । योगस्य सेवयाभ्यासेन
निरुद्धं निवृत्तेतरवृत्तिकं चित्तं यत्रोपरमते महत् सुखमेतदिति
सज्जाति, यत्र चात्मना शुद्धेन मनसात्मानं पश्यन् तस्मिन्नात्मन्येव
तुष्यति, न तु देहादि पश्यन् विषयेष्विति चित्तावृत्तिनिरोधेन
स्वरूपेणोपप्राप्तलक्षणेन फलेन च योगो दर्शितः । सुखमिति-यत्र
समाधौ यत्तत् प्रसिद्धमात्यन्तिकं नित्यं सुखं वेत्त्यनुभवात् ।
अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्बन्धरहितं, बुद्ध्यात्माकारया प्राप्यम् ।
अतएव यत्र स्थितस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलाति यं योगं
लब्ध्वैव ततोऽपरं लाभमधिकं न मन्यते, गुरुणा गुणवत्पुत्र-
विच्छेदादिना न विचाल्यते तमिति । दुःखसंयोगस्य वियोगः
प्रध्वंसो यत्र तं योगसंज्ञितं समाधिम् ॥ २०-२३ ॥

गी०भू०—स योगः प्रारम्भदशायां निश्चयेन प्रयत्ने कृते
संसेत्स्यत्येवेत्यध्यवसायेन योक्तव्योऽनुष्ठेयः । आत्मन्ययोगत्व-
मननं निर्व्वेदस्तद्रहितेन चेतसा हृताण्डार्णवशोषकपक्षिवत्

सोत्साहेनेत्यर्थः । एतादृशं योगमारभमाणस्य प्रार्थामिकं कृत्य-
माह-संकल्पेति । सङ्कल्पात् प्रभवो येषां तान् योगाविरोधिनः
कामान् विषयानशेषतः सवासनास्त्यक्त्वा । स्फुटमन्यत् । मनसा
विषयदोषदर्शिना ॥ २४ ॥

गी०भू०—अन्तिमं कृत्यमाह-धृतिगृहीतया धारणावशी-
कृतया बुद्ध्या मन आत्मसंस्थं कृत्वा आत्मानं ध्यात्वा समाधावु-
परमेत् तिष्ठेत् ; आत्मनोऽन्यत् किञ्चिदपि न चिन्तयेत् । एतच्च
शनैः शनैरभ्यासक्रमेण, न तु हठेन ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

सारा०व०—यदि च प्राक्तनदोषोद्गमवशाद् रजोगुणस्पृष्टं
मनश्चञ्चलं स्यात्, तदा पुनर्योगमभ्यसेदित्याह-यतो यत इति ॥ २६ ॥

गी०भू०—यदि कदाचित् प्राक्तनसूक्ष्मदोषान्मनः प्रचलेत्
तदा तत् प्रत्याहरेदित्याह-यत इति । यं यं विषयं प्रति मनो
निर्गच्छति, ततस्तत एतन्मनो नियम्य प्रत्याहृत्यात्मन्येव निरति-
शयसुखत्वभावनया वशं कुर्यात् ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

सारा०व०—ततश्च पूर्व्वबदेव तस्य समाधिसुखं स्यादित्याह-
प्रशान्तेति । सुखं कर्त्तृ, योगिनमुपैति प्राप्नोति ॥ २७ ॥

गी०भू०—एवं प्रयतमानस्य पूर्व्वबदेव समाधिसुखं स्या-
दित्याह-प्रशान्तेति । प्रशान्तमात्मन्यचलं मनो यस्य तम्, अत-
एवाकल्मषं दग्धप्राक्तनसूक्ष्मदोषम् ; अतएव शान्तरजसम् । ब्रह्म-
भूतं साक्षात्कृत-विबिक्ताविर्भाविताष्टगुणकात्मस्वरूपं योगिनं

प्रत्युत्तममात्मानुभवरूपं महत् सुखं कर्त्ता स्वयमेवोपैति ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

सारा०व०—ततश्च कृतार्थ एव भवतीत्याह—युञ्जन्निति ।
सुखमश्नुते जीवन्मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

गी०भू०—एवं स्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं परमात्मसा-
क्षात्कारश्च लभत इत्याह—युञ्जन्निति । एवमुक्तप्रकारेणात्मानं स्वं
युञ्जन् योगेनानुभवन् तेनैव विगत-कल्मषो दग्धसर्वदोषो योगी
सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं परमात्मानुभवमत्यन्तमपरिमितं
सुखमश्नुते प्राप्नोति ॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सारा०व०—जीवन्मुक्तस्य तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारं दर्शयति—
सर्वभूतस्थमात्मानमिति । परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठातृत्व-
मात्मनीति परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठानञ्च । ईक्षते अपरोक्ष-
तयाऽनुभवति । योगयुक्तात्मा ब्रह्माकारान्तःकरणः, समं ब्रह्मैव
पश्यतीति समदर्शनः ॥ २९ ॥

गी०भू०—एवं निष्पन्नसमाधिः प्रत्यक्षितस्वपरात्मयोगी परा-
त्मनः सर्वगतत्वं तदन्यात्मनां द्रुहिणादीनां सर्वेषां तदाश्रयत्वं
तस्याविषमत्वञ्चानुभवतीत्याह—सर्वेति । योगयुक्तात्मा सिद्ध-
समाधिस्तदात्मानम्—“आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो
हरिः” इति स्मृतेः, ‘यो माम्’ इति विवरणाच्च परमात्मानं सर्व-
भूतस्थं निखिलं जीवान्तर्गमिणमीक्ष्यते ; आत्मनि तस्मिन्ना-
श्रयभूते सर्वभूतानि च तमेव सर्वजीवाश्रयं चेक्षते । कीदृश-

स इत्याह—सर्वत्रेति । तत्तत्कर्मणानुगुण्येनोच्चावचतया सृष्टेषु
सर्वेषु जीवेषु समं वैषम्यशून्यं परात्मानं पश्यतीति तथा ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सारा०व०—एवमपरोक्षानुभविनः फलमाह—यो मामिति ।
तस्याहं ब्रह्म न प्रणश्यामि नाप्रत्यक्षीभवामि । तथा मत्प्रत्य-
क्षतायां शाश्वतिकयां सत्यां स योगी मे मदुपासको न प्रणश्यति
न कदाचिदपि भ्रश्यति ॥ ३० ॥

गी०भू०—एतद्विवृण्वन् तथात्वदर्शिनः फलमाह—यो मा-
मिति । तस्य तादृशस्य योगिनोऽहं परमात्मा न प्रणश्यामि
नादृश्यो भवामि, स च योगी मे न प्रणश्यति नादृश्यो भवति ;—
आवयोर्मिथःसाक्षात्कृतिः सर्वदा भवतीत्यर्थः ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सारा०व०—एवं मदपरोक्षानुभवात् पूर्वदशायामपि सर्वत्र
परात्मभावनया भजतो योगिनो न विधि—कैङ्कर्यमित्याह—
सर्वेति । परमात्मैव सर्वकरणत्वादेकोऽस्तीत्येकत्वमास्थितः सन्
यो भजति, श्रवणस्मरणादिभजनयुक्तो भवति, स सर्वथा
शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा वर्त्तमानो मयि वर्त्तते, न
तु संसारे ॥ ३१ ॥

गी०भू०—स योगी ममाचिन्त्यस्वरूपशक्तिमनुभवन्नतिप्रियो
भवतीत्याशयवानाह,—सर्वेति । सर्वेषां जीवानां हृदयेषु प्रादेश-
मात्रश्चतुर्बाहुरतसीपुष्पप्रभश्चक्रादिवरोऽहं पृथक् पृथङ्निव-
सामि ; तेषु बहूनां मद्भिप्रहाणामेकत्वमभेदमाश्रितो यो मां

भजति ध्यायति, स योगी सर्वथा वर्त्तमानो व्युत्थानकाले स्व-
बिहितं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा मयि वर्त्तते ममाचिन्त्यशक्ति-
कत्वधर्मानुभवमहिम्ना निर्दग्धकामचारदोषो मत्सामीप्यलक्षणं
मोक्षं बिन्दति, न तु संसारमित्यर्थः । श्रुतिश्च हरेरचिन्त्य-
शक्तिकतामाह—“एकोऽपि सन् बहुधा योऽबभाति” इति, स्मृ-
तिश्च—“एक एव परो बिष्णुः सर्वव्यापी न संशयः । ऐश्वर्या-
द्रूपमेकञ्च सूर्यबद्धदुधेयते ॥” इति ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

सारा०ब०—किञ्च, साधनदशायां योगी सर्वत्र समः
स्यादित्युक्तम् । तत्र मुख्यं साम्यं व्यचष्टे—आत्मौपम्येनेति ।
सुखं वा दुःखं वेति—यथा मम सुखं प्रियं दुःखमप्रियम्,
तथैवान्येषामपीति सर्वत्र समं पश्यन् सुखमेव सर्वेषां यो
वाञ्छति, न तु कस्यापि दुःखम्, स योगी श्रेष्ठो ममाभिमतः ॥३२॥

गी०भू०—“सर्वभूतहिते रता” इति यत् प्रागुक्तं तद्विशद-
यति—आत्मौपम्येनेति । व्युत्थानदशायामात्मौपम्येन स्वसा-
दृश्येन सुखं दुःखञ्च यः सर्वत्र समं पश्यति । स्वस्येव परस्य
सुखमेवेच्छति, न तु दुःखं स स्वपरसुखदुःखसमदृष्टिः सर्वानु-
कम्पी योगी मम परमः श्रेष्ठोऽभिमतः,—तद्विषमदृष्टिस्तु तत्त्वज्ञो-
ऽप्यपरमयोगीति भावः ॥३२॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

सारा०ब०—भगवदुक्तलक्षणस्य साम्यस्य दुष्करत्वमालक्ष्यो-

वाच—योऽयमिति । एतस्य साम्येन प्राप्तस्य योगस्य स्थिरां
सार्वदिकीं स्थितिं न पश्यामि । एष योगः सर्वदा न तिष्ठति,
किन्तु त्रिचतुरदिनान्येवेत्यर्थः । कुतः ?—चञ्चलत्वात् । तथा
ह्यात्मसुखदुःखसममेव सर्वजगद्वर्त्तिजनानां सुखदुःखं पश्येदिति
साम्यमुक्तम् । तत्र ये बन्धवस्तदथाश्च तेषु साम्यं भवेदपि,
ये रिपवो घातका द्वेष्टारो निन्दकाश्च तेषु न सम्भवेदेव । न
हि मया स्वस्य युधिष्ठिरस्य दुर्योधनस्य च सुखदुःखे सर्वथा
तुल्ये द्रष्टुं शक्येते । यदि च स्वस्य स्व-रिपूणाञ्च जीवात्म-
परमात्मप्राणेन्द्रिय-दैहिकभूतानि समान्येवेति विवेकेन पश्येत्,
तदा तत् खलु द्वित्रिदिनान्येव स्यात् विवेकेनाति प्रबलस्या-
तिचञ्चलस्य मनसो निग्रहणाशक्यत्वात् । प्रत्युत विषयासक्तेन
तेन मनसैव विवेकस्य ग्रस्यमानत्वदर्शनादिति ॥ ३३ ॥

गी०भू०—उक्तमाक्षिपन्नर्जुन उवाच—योऽयमिति । साम्येन
स्वपरसुखदुःखतुल्येन योऽयं योगस्त्वया सर्वज्ञेन प्रोक्तस्तस्य
स्थिरां सार्वदिकीं स्थितिं निष्ठामप्यहं न पश्यामि, किन्तु द्वित्रा-
ण्येव दिनानोऽन्यर्थः ; कुतः ?—चञ्चलत्वात् । अयमर्थः—बन्धुषु
उदासीनेषु च तत्साम्यं कदाचित् स्यात् ; न च शत्रुषु निन्दकेषु
च कदाचिदपि । यदि परमात्माधिष्ठानत्वं सर्वत्राविशेषमिति
विवेकेन तद्ग्राह्यं, तर्हि न तत् सार्वदिकम्—अतिचपलस्य
बलिष्ठस्य च मनसस्तेन विवेकेन निग्रहीतुमशक्यत्वादिति ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

सारा०ब०—एतदेवाह—चञ्चलमिति । ननु “आत्मानं रथिनं
विद्धि शरीरं रथमेव च” इत्यादि श्रुतेः, “आहुः शरीरं
रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् । बर्त्मानि मात्रा

धिषणञ्च सूतम्” इति (भा ७ । १५ । ४१) स्मृतेश्च बुद्धेर्मनो-
नियन्तृत्वदर्शनाद्विवेकबल्या बुद्ध्या मनो बशीकर्तुं शक्यमेवेति
चेदत आह—प्रमाथि बुद्धिमपि प्रकर्षेण मन्थातीति । तत् कुत
इति चेदत आह—बलवत् । स्वप्रशमकमौषधमपि बलवान्
रोगो यथा न गणयति, तथैव स्वभावादेव वलिष्ठं मनो
विवेकवतीमपि बुद्धिम । किञ्च, दृढमतिसूक्ष्मबुद्धिसूच्यापि लोह-
मिव सहसा भेत्तामशक्यम् । बायोरित्याकाशो दोधूयमानस्य
बायोर्निग्रहं कुम्भकादिना निरोधमिव योगेनाष्टाङ्गेन मनसोऽपि
निरोधं दुष्करं मन्ये ॥ ३४ ॥

गी०भू०—तदेवाह—चञ्चलं हीति । मनः स्वभावेन चञ्च-
लम् । ननु “आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिन्तु
सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विष-
यांस्तेषु गोचरान् ॥ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनी-
षिणः ॥” इति श्रुतेर्बुद्धिनियम्यं मनः श्रूयते ततो विवेकिन्यां
बुद्ध्या शक्यं तद्वशीकर्तुं मिति चेत्तत्राह—प्रमाथीति । तादृशी-
मपि बुद्धिं प्रमथाति ; कुतः ?—बलवत् स्वप्रशमकमप्यौषधं यथा
बलवान् रोगो न गणयति, तद्वत् । किञ्च—दृढं सूच्या लोहमिव
तादृश्यापि बुद्ध्या भेत्तामशक्यमतो योगेनापि तस्य निग्रहमहं
बायोरिव सुदुष्करं मन्ये ;—न हि बायुर्मुष्टिना धर्त्तुं शक्यते,
अतस्तत्रोपायं ब्रूहीति ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

सारा०व०—उक्तमर्थमङ्गीकृत्य समदधाति—असंशयमिति ।
त्वयोक्तं सत्यमेव, किन्तु बलवानपि रोगस्तत्प्रशमकौषध-सेवया

सद्वैद्यप्रयुक्तप्रकारया मुहुरभ्यस्तया यथा चिरकालेन शाम्यत्येव,
तथा दुर्निग्रहमपि मनोऽभ्यासेन सद्गुरुर्पादष्टप्रकारेण परमेश्व-
रध्यानयोगस्य मुहुरनुशीलनेन वैराग्येण विषयेष्वनासङ्गेन च
गृह्यते स्वहस्तवशीकर्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथा च पातञ्जल-
सुत्रम्—“अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः” इति । महाबाहो इति
संप्रामे त्वया यन्महावीरा अपि बिजीयन्ते, स च पिनाक-
पाणिरपि बशीकृतस्तेनापि किम् ?—यदि महावीरशिरोमणि-
र्मनोनामा प्राधानिको भटो महायोगास्त्रप्रयोगेण जेतुं शक्यते,
तदैव महाबाहुतेति भावः । हे कौन्तेयेति तत्र त्वं मा भैषीः—
मत्पितुःस्वसुः कुन्त्याः पुत्रे त्वयि मया साहाय्यं विधेयमिति
भावः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—उक्तमर्थं स्वीकृत्य भगवानुवाच—असंशयमिति ।
तथापि स्वप्रकाशसुखैकतानत्वात्मगुणाभिमुख्येनाभ्यासेनात्म-
व्यतिरिक्तेषु विषयेषु दोषदृष्टिजनितेन वैराग्येण च मनो निग्र-
हीतुं शक्यते । तथा चात्मानन्दास्वादाभ्यासेन लयप्रतिबन्धा-
द्विषयवैतृष्येण च विक्षेपप्रतिबन्धान्निवृत्ताचापलं मनः सुग्रहं यथा
सदौषधानुसेवया सुपथ्येन च बलवानपि रोगः सुजेयस्तथैतद्-
द्रष्टव्यम् । हे महाबाहो ! इति—शौर्येण शात्रवमिव विवेकेन
मनो जयेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

सारा०व०—अत्रायं परामर्श इत्यत आह—असंयतात्मना-
भ्यास-वैराग्याभ्यां न संयतं मनो यस्य तेन । ताभ्यां तु
वश्यात्मना बशीभूतमनसापि पुंसा यतता चिरं यत्नवतैव योगो
मनो-निरोधलक्षणः समाधिरुपायतः साधनभुयस्त्वात् प्राप्तुं

शक्यः ॥ ३६ ॥

गी०भू०—असंयतेति । उक्ताभ्यामभ्यास-वैराग्याभ्यां न संयत आत्मा मनो यस्य तेन बिभ्रेनापि पुंसां चित्तवृत्तिनिरोध-लक्षणो योगो दुष्प्रापः प्राप्तुमशक्यः । ताभ्यां बशोऽधीन आत्मा मनो यस्य तेन पुंसां, तथापि यतता तादृशप्रयत्नवता स योगः प्राप्तुं शक्यः । उपायतो मदाराधनलक्षणज्ज्ञाना-कारान् निष्कामकर्मयोगाच्चोति मे मतिः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

सारा०व०—नन्वभ्यास-वैराग्याभ्यां प्रयत्नवतैव पुंसां योगो लभ्यत इति त्वयोच्यते । यस्यैतत् त्रितयमपि न दृश्यते, तस्य का गतिरिति पृच्छति । अर्थातिरल्पयत्नः, अनवर्णाय बागुरि-तिवदल्पार्थे नञ्, अथच श्रद्धयोपेतो योगशास्त्रास्तिक्येन तत्र श्रद्धयोपेतो योगाभ्यास प्रवृत्त एव, न तु लोकबद्धकत्वेन मिथ्याचारः । किन्त्वभ्यास—वैराग्ययोरभावेन योगाच्चलितं विषयप्रवर्णीभुतं मानसं यस्य सः । अतएव योगस्य संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिमप्राप्येति यत् किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एवेति योगारुरुक्षा-भूमिकातोऽग्रमां योगारोहभूमिकायाः प्रथमां कक्षां गत इति भावः ॥ ३७ ॥

गी०भू०—ज्ञानगर्भो निष्कामकर्मयोगोऽष्टाङ्गयोगाशिरस्को निखिलोपसर्गविमर्दनः स्वपरमात्माबलोकनोपायो भवतीत्य-सकृदुक्तं, तस्य च तादृशस्य नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति पूर्वोक्त-महिम्नस्तन्महिमानं श्रोतुमर्जुनः पृच्छति-अर्थातिरिति । अभ्यास-वैराग्याभ्यां प्रयत्नेन च योगं पुमान् लभेतैव । यस्तु प्रथमं श्रद्धया

तादृशयोगनिरूपकश्च तिविश्वासेनोपेतः किन्त्वयतिरल्पस्वधर्म-नुष्ठानयत्नवान्—“अनुदारा युवतिः” इतिवदल्पार्थेऽत्र नञ् ; शिथिलप्रयत्नत्वादेव योगादष्टाङ्गाच्चलितं विषयप्रवर्णं मानसं यस्य सः ; एवञ्च स्वधर्मनुष्ठानाभ्यासवैराग्यशैथिल्याद्बिबिधस्य योगस्य सम्यक् सिद्धिं हृदिशुद्धिलक्षणाभावात्मानलक्षणं चाप्राप्तः किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एव ; श्रद्धालुः किञ्चिदनुष्ठित-स्वधर्मः प्रारब्धयोगोऽप्राप्तयोगफलो देहान्ते कां गतिं गच्छति ? हे कृष्ण ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

सारा०व०—कच्चिदिति प्रश्ने । उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाच्चुच्यतो योगमार्गञ्च सम्यगप्राप्त इत्यर्थः । छिन्नाभ्रमिवेति यथा छिन्नमभ्रं मेघः पूर्वस्माद्भ्राद्विश्लिष्टमभ्रान्तरं चाप्राप्तं सत मध्ये विलीयते तेनास्य इहलोके योगमार्गे प्रवेशाद्विषयभोगत्यागेच्छा सम्य-ग्वैराग्याभावाद्विषयभोगेच्छा चेति कष्टम् । परलोके च स्वर्ग-साधनस्य कर्मणोऽभावात्, मोक्षसाधनस्य योगस्याप्यपरि-पाकान्न स्वर्गमोक्षावित्युभयलोक एवास्य विनाश इति द्योतितम् । अतो ब्रह्मप्रप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढोऽयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठामास्पे-दमप्राप्तः सन् कच्चित् किं नश्यति न नश्यति त्वं पृच्छयसे ॥ ३८ ॥

सारा०व०—एतत् एतम् ॥ ३९ ॥

गी०भू०—प्रश्नाशयं विशदयति-कच्चिदिति प्रश्ने । निष्काम-तया कर्मणोऽनुष्ठानान्न स्वर्गादिफलम् ; योगासिद्धेर्नात्माब-लोकनञ्च तस्याभूत् । एवमुभयस्माद्विभ्रष्टोऽप्रतिष्ठो निरालम्बः

सन् किं नश्यति, किम्वा न नश्यतीत्यर्थः । छिन्नाभ्रमिवेति अभ्रं मेघो यथा पूर्वस्मादभ्राद्विच्छिन्नं परमभ्रञ्चाप्राप्तमन्तराले विलीयते, तद्वदेवेति नाशो दृष्टान्तः । कथमेवं शङ्का ? तत्राह-ब्रह्मणः पथि प्राप्त्युपाये यदसौ विमूढः ॥३८॥

गी०भू०—एतादिति क्लीबत्वमार्षम् । त्वदिति सर्वेश्वरात् सर्वज्ञात्त्वत्तोऽन्योऽनीश्वरोऽल्पज्ञः काश्चदपिः ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशरतय विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

सारा०ब०—इह लोके अमुत्र परलोकेऽपि कल्याणं कल्याणप्रापकं योगं करोतीति सः ॥ ४० ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच-पार्थेति । तस्योक्तकल्याणस्य योगिन इह प्राकृतिके लोकेऽमुत्राप्राकृतिके च लोके विनाशः स्वर्गादिसुखविभ्रंशलक्षणः परमात्मावलोकनविभ्रंशलक्षणश्च न विद्यते न भवति । किञ्चोत्तरत्र तत्प्राप्तर्भवेदेव ; हि यतः, कल्याणकृत् निःश्रेयसोपायभूतसद्धर्मयोगारम्भी दुर्गतिं तदुभयाभावरूपां दरिद्रतां न गच्छति । हे तातेत्यतिवात्सल्यात् सम्बोधनम् । “तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेण” इति व्युत्पत्तोस्ततः पिता-“स्वार्थिकेऽणि”, तत एव तातः-पुत्रं शिष्यञ्चातिवृषया ज्येष्ठस्तथा सम्बोधयति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

सारा०ब०—तर्हि कां गतिमसौ प्राप्नोतीत्यत आह—प्राप्येति । पुण्यकृतामश्वमेधादियाजिनां लोकानिति योगस्य फलं मोक्षो

भोगश्च भवति । तत्रापक्वयोगिनो भोगेच्छायां सत्यां योगभ्रंशे सति भोग एव । परिपक्वयोगिनस्तु भोगेच्छाया असम्भवा-न्मोक्ष एव । केचित्तु परिपक्वयोगिनोऽपि दैवाद्भोगेच्छायां सत्यां कर्हमसौ भर्ग्यादिदृष्ट्या भोगमप्याहुरिति । शुचीनां सदाचाराणां श्रीमतां धनिकबणिगादीनां राज्ञां वा ॥ ४१॥

गी०भू०—ऐहिकीं सुखसम्पत्तिं तावदाह-प्राप्येति । यादृशविषयस्पृहाया स्वधर्मे शिथिलो योगाच्च बिच्युतोऽयं तादृशान् विषयानात्मो-द्देश्यकनिष्कामस्वधर्मयोगारम्भमाहात्म्येन पुण्यकृतामश्वमेधादि-याजिनां लोकान् प्राप्य भुङ्क्ते तान् भुञ्जानो यावतीभिस्तद्भोग-तृष्णाविनिवृत्तिस्तावतीः शाश्वतीः बह्वीः समाः सम्बत्सरांस्तेषु लोकेषूपित्वा स्थित्वा तद्भोगवितृष्णस्तेभ्यो लोकेभ्यः शुचीनां सद्धर्मनिरतानां योगार्हाणां श्रीमतां धनिनां गेहे पूर्व्वारब्धयोग-माहात्म्यात् स योगभ्रष्टोऽभिजायत इत्यल्पकालारब्धयोगाद्भ्रष्टस्य गतिरियं दर्शिता ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्वि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

सारा०ब०—अल्पकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे गतिरियमुक्ता । चिरकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे तु पक्षान्तरमाह—अथवेति । योगिनां निमिप्रभृतीनामित्यर्थः ॥ ४२ ॥

गी०भू०—चिरारब्धाद्योगाद्भ्रष्टस्य गतिमाह-अथवेति । योगिनां योगमभ्यसतां धीमतां योगदेशिकानां कुले भवत्युत्पद्यते । द्विविधं जन्म स्तौति-एतदिति । योगार्हाणां योगमभ्यसताञ्च कुले पूर्व्वयोगसंस्कारबलकृतमेतज्जन्म प्राकृतानामतिदुर्लभम् ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुन्दन ॥४३॥

सारा०ब०—तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि बुद्ध्या परमात्मनिष्ठया सह संयोगं पौर्वदैहिकं पूर्वजन्मभवम् ॥ ४३ ॥

गी०भू०—आमुत्रिकी सुखसम्पत्तिं बक्तुं पूर्वसंस्कारहेतुकं साधनमा हतत्रेति—तत्र द्विविधे जन्मनि, पौर्वदैहिकं पूर्वदेहे भवम्, बुद्ध्या स्वधर्मस्वात्मपरमात्मविषया संयोगं सम्बन्धं लभते । ततश्च हृदिशुद्धिस्वपरमात्मावलोकनरूपायां संसिद्धौ निमित्तो स्वापो- स्थितबद्धयो बहुतरं यतते, यथा पुनर्विघ्नहतो न स्यात् ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

सारा०ब०—हियत आकृष्यते, योगस्य योगं जिज्ञासुरपि भवति । अतः शब्दब्रह्म वेदशास्त्रमतिवर्त्तते वेदोक्तकर्ममार्ग- मतिक्रम्य वर्त्तते, किन्तु योगमार्गे एव तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

गी०भू०—तत्र हेतुः—तेनैव योगविषयकेण पूर्वाभ्यासेन स योगी हियते आकृष्यते—अवशोऽपि केनचिद्विघ्नेनानिच्छन्नपी- त्यर्थः । हीति प्रसिद्धोऽयं योगमहिमा । योगस्य जिज्ञासुरपि तु योगमभ्यासितुं प्रवृत्ताः शब्दब्रह्म सकामकर्मनिरूपकं वेदमति- वर्त्तते, तं न शब्दधातीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्तयो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

सारा०ब०—एवं योगभ्रंशे कारणं यत्नशैथिल्यमेव—‘अयतिः श्रद्धयोपेतः’ इत्युक्तेः । तस्य च यत्नशैथिल्यवतो योगभ्रष्टस्य जन्मा- न्तरे पुनर्योगप्राप्तिरेवोक्ता, न तु संसिद्धिः । संसिद्धिस्तु यावद्भिर्जन्म- भिस्तस्य योगस्य परिपाकः स्यात्, तावद्भिरेवेत्यवसीयते । यस्तु न कदाचिदपि योगे शैथिल्यप्रयत्नः, स न योगभ्रष्टशब्दवाच्यः ।

किन्तु “बहुजन्मविपकैश्च सम्यग्योगसमाधिभिः । द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥” इति कर्दमोक्तेः सोऽपि नैकेन जन्मना सिध्यतीत्याह—प्रयत्नाद्यतमानः प्रकृष्टयत्नादपि यत्न- वानित्यर्थः । तु-कारः पूर्वोक्ताद्योगभ्रष्टादस्य भेदं बोधयति । संशुद्धिकिल्बिषः सम्यक्परिपक्वकषायः । सोऽपि नैकेन जन्मना सिध्यतीति सः । परां गतिं मोक्षम् ॥ ४५ ॥

गी०भू०—अथामुत्रिकीं सुखसम्पत्तिमाह—प्रयत्नादिति । पूर्वकृतादपि प्रयत्नादधिकमधिकं यतमानः पूर्वविघ्नभयात् प्रयत्नाधिक्यं कुर्वन् योगी तेनोपचितेन प्रयत्नेन संशुद्धिकिल्बिषो निधौतनिखिलान्यबासनः, एवमनेकैर्जन्मभिः संसिद्धः परिपक्व- योगो योगपरिपाकादेव हेतोः परां स्वपरात्मावलोकलक्षणां गतिं मुक्तिं याति ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

सारा०ब०—कर्मज्ञानतपोयोगवतां मध्ये कः श्रेष्ठ इत्यपेक्षा- माह—तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादि--तपोनिष्ठेभ्यो ज्ञानिभ्यो ब्रह्मोपासकेभ्योऽपि योगी परमात्मोपासकोऽधिको मत इति ममे- दमेव मतमिति भावः । यदि ज्ञानिभ्योऽप्यधिकस्तदा किमुत कर्मिभ्य इत्याह—कर्मिभ्यश्चेति ॥ ४६ ॥

गी०भू०—एवं ज्ञानगर्भो निष्कामकर्मयोगोऽष्टाङ्गयोगशिरस्को मोक्षहेतुस्तादृशाद्योगाद्विभ्रष्टस्यान्ततस्तत्फलं भवेदित्यभिधाय योगिनं स्तौति—तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः कृच्छ्रादितपःपरेभ्यः ज्ञानिभ्योऽर्थशास्त्रविद्वयः कर्मिभ्यः सकामेष्टापूर्त्तादिकृद्भ्यश्च योगी मदुक्तयोगानुष्ठाताधिकः श्रेष्ठोः मतः । आत्मज्ञानवैधुर्येण मोक्षानर्हेभ्यस्त्वयापस्वादिभ्यो मदुक्तो योगी समुदितात्मज्ञानत्वेन

मोक्षार्हत्वात् श्रेष्ठः ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।



सारा०ब०---तर्हि योगिनः सकाशान्नास्त्यधिकः कोऽपीत्य-
बसीयते, तत्र मेवं वाच्यमित्याह--योगिनामिति, पञ्चम्यर्थे षष्ठी
निर्द्धारणयोगात्--तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्योऽधिक इति पञ्चम्यर्थ-
क्रमाच्च योगिभ्यः सकाशादपीत्यर्थः । न केवलं योगिभ्य एक-
विधेभ्यः सकाशात्, अपि तु योगिभ्यः सर्वेभ्यो नानाविधेभ्यो
योगारूढेभ्यः संप्रज्ञातसमाधिमद्भ्योऽपीति, यद्वा, योगो उपायाः
कर्मज्ञानतपोयोगभक्त्यादयस्तद्वतां मध्ये यो मां भजेत, मद्भक्तो
भवति, स युक्ततम उपायवत्तमः । कर्म्म तपस्वी ज्ञानी च
योगी मतः, अष्टाङ्गयोगी योगितरः, श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिमांस्तु
योगितम इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीभागवते--“मुक्तानामपि सिद्धानां
नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महा-
मुने ॥” इति ॥ ४७ ॥

अग्रिमाध्यायषट्कं यद्भक्ति-योगनिरूपकम् ।
तस्य सूत्रमयं श्लोको भक्तकण्ठविभूषणम् ॥
प्रथमेन कथासूत्रं गीताशास्त्रशिरामणिः ।
द्वितीयेन तृतीयेन तुय्येणाकामकर्म च ॥
ज्ञानञ्च पञ्चमेनोक्तं यागः षष्ठेन कीर्त्तितः ।
प्राधान्येन तदप्येतत् षट्कं कर्मनिरूपकम् ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतासु षष्ठोऽध्यायोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०---तदित्यमाद्येन षट्केन सनिष्ठस्य साधनानि ज्ञान-
गर्भाणि निष्कामकर्मणि योगशिरस्कान्यभिधाय मध्येन परि-
निष्ठितादेर्भगवच्छरणादीनि साधनान्यभिधास्यन् तस्मात्तस्य
श्रेष्ठ्यावेदकं तत्सूत्रमभिधत्ते-योगिनामिति-पञ्चम्यर्थे षष्ठीयम्
तपस्विभ्य इति पूर्वोपक्रमात् ; न च निर्द्धारणे षष्ठीयमस्तु-
वक्ष्यमाणस्य योगिनस्तपस्व्यादिबलक्षणक्रियत्वेन तेष्वनन्तर्भा-
वात् । यद्यपि तपस्व्यादीनां मिथो न्यूनाधिकताभावोऽस्ति,
तथाप्यवरत्वं तस्मात् समानम्, स्वर्णगिरेरिव तदन्येषामुच्चा-
वचानां गिरीणामिति । यः श्रद्धावान्मद्भक्तिनिरूपकेषु श्रुत्यादि-
वाक्येषु दृढविश्वासः सन् मां नीलोत्पलश्यामलमाजानुपीवर-
बाहुं सवितृकरबिकासितारविन्देक्षणं बिद्युदुज्ज्वलबासुसंकिरीट-
कुण्डलकटककेयूरहारकौस्तुभनुपुरैः वनमालया च बिभ्राजमानं
स्वप्रभया दिशो बितमिस्त्राः कुर्वीणं नित्यसिद्ध-नृसिहरघुवर्या-
दिरूपं सर्वेश्वरं स्वयं भगवन्तं मनुष्यसंनिवेशिबिभुविज्ञानानन्द-
मयं यशोदास्तनन्धयं कृष्णादिशब्दैरभिधीयमानं सार्वज्ञसर्व-
श्रय्यसत्यसङ्कल्पाश्रितबात्सल्यादिभिः सौन्दर्यमाधुर्यलावण्या-
दिभिश्च गुणरत्नैः पूर्णं भजते श्रवणादिभिः सेवते, मद्गतेन
मदेकासक्तेनान्तरात्मना मनसा विशिष्टस्तिलमात्रमपि मद्द्वियोगा-
सहः सन्नित्यर्थः, मद्भक्तः सर्वेभ्यस्तपस्व्यादिभ्यो योगिभ्यो मे
सर्वेश्वरस्य सर्वार्थाणि वस्तूनि युगपत् पश्यतो युक्ततमोऽभि-
मतः-तपस्यादियुक्तः निष्कामकर्म युक्ततरः मदेकभक्तो युक्त-
तम इत्यर्थः । अत्र व्याचष्टे-ननु योगिनः सकाशान्न कोऽप्य-
धिकोऽस्तीति चेत्तत्राह-योगिनामिति । योगारोहतारतम्यात्
कर्मयोगिनो बहुवस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति ध्यानारूढो युक्तः

समाध्यारूढो युक्ततरः श्रवणादिभक्तिमांस्तु युक्ततम इति ।
 “भक्ति”शब्दः—सेवाभिधायी—“भज इत्येष वै धातुः सेवायां परि-
 कीर्तितः । तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता ‘भक्ति’शब्देन भूयसी”
 इति स्मृतेः । एतां भक्तिं श्रुतिराह—“श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि”
 इति, “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता
 ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥” इति, “भक्तिरस्य भजनं तदिहा-
 मुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्” इति,
 “आत्मानमेव लोकमुपासीत” इति, “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः
 श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि” इति चैवमाद्याः ।
 सा च भक्तिर्भगवत्स्वरूपशक्तिवृत्तिभूता बोध्या—“विज्ञानघना-
 नन्दघना सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति” इति श्रुतेः । तस्याः
 श्रवणादिक्रियारूपत्वं तु चित्सुखमूर्त्तेः सर्वेश्वरस्य कुन्तलादि-
 प्रतीकत्ववत् प्रत्येतव्यम्—श्रवणादिरूपाया भक्ते श्रिदानन्दत्वन्व-
 बृत्त्यानुभाव्यं सितानुसेवया पित्तविनाशे तन्माधुर्यमिवेति ॥४७॥
 गीताकथासूत्रमवोचदाद्ये कर्म द्वितीयादिषु कामशून्यम् ।
 तत् पञ्चमे वेदनगर्भमाख्यन् षष्ठे तु योगोज्ज्वलितं मुकुन्दः ॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

सारा०ब०—कदा सदानन्द-भुवो महाप्रभोः,

कृपामृताब्धेश्वरगौ श्रयामहे ।

यथा तथा प्रोज्झितमुक्तितत्पथा,
 भक्त्यध्वना प्रेमसुधामयामहे ॥ (१)

सप्तमे भजनीयस्य श्रीकृष्णैश्वर्यमुच्यते ।

न भजन्ते भजन्ते ये ते चाप्युक्ताश्चतुर्विधाः ॥ (२) ॥

प्रथमेनाध्यायषट्केनान्तःकरणशुद्ध्यर्थकनिष्कामकर्मसापेक्षौ
 मोक्षफलसाधकौ ज्ञानयोगावुक्तौ । इदानीमनेन द्वितीयाध्यायषट्केन
 कर्मज्ञानादिर्विमिश्र-श्रवणान्निष्कामत्व-सकामत्वाभ्यां च सालो-
 क्यादि-साधकस्तथा सर्वमुख्यः कर्मज्ञानादिनिरपेक्ष एव प्रेम-
 वत्पार्षदत्वलक्षणमुक्तिफलसाधकस्तथा “यत् कर्मभिर्यत्तपसा
 ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्धत्तो
 लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम” इत्याद्युक्तेर्विनापि साध-
 नान्तरं स्वर्गापवर्गादिनिखिलसाधकश्च परमः स्वतन्त्रः सर्वसुकरो-
 ऽपि सर्वदुष्करः श्रीमद्भक्तियोग उच्यते । ननु “तमेव विदित्वा
 अतिमृत्युमेति” इति श्रुतेः, ज्ञानं विना केवलया भक्त्यैव कथं
 मोक्षः ब्रूषे ? मैवं, ‘तमेव तत्पदार्थं परमात्मानमेव विदित्वा
 साक्षादनुभूय, न तु त्वं-पदार्थमात्मानं नापि प्रकृतिं नापि वस्तु-
 मात्रं विदित्वा मृत्युमत्येति’—इति अस्याः श्रुतेरर्थः । तत्र
 सितशर्करा-रसग्रहणे यथा रसनैव कारणं न तु चक्षुःश्रोत्रा-
 दिकं तथैव परब्रह्मास्वादे भक्तिरेव कारणम् । भक्तेर्गुणाती-
 तत्वात्तथैव गुणातीतस्य ब्रह्मणो ग्रहणं सम्भवेत्, न तु देहा-
 दितिरिक्तात्मज्ञानेन सात्त्विकेन । “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” इति
 भगवदुक्तेरिति, “भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि
 तत्त्वतः” इत्यत्र सविशेषं प्रतिपादयिष्यामः । ज्ञानयोगयोर्मुक्ति-
 साधनत्वप्रसिद्धिस्तु तत्रस्थ-गुणीभूतभक्तिप्रभावादेव, तथा विना
 तयोरकिञ्चित्करत्वस्य बहुशः श्रवणात् । किञ्च, अस्यां श्रुतौ
 विदित्वा इत्यनन्तरम् एव-कारस्याप्रयोगादेव । योगव्यवच्छेदा-

भावे ज्ञापिते सति, तस्मादेव परमात्मनो विदितात् कचिद्-
विदितादपि मोक्ष इत्यर्थो लभ्यते । ततश्च भक्त्युत्थेन निर्गुणेन
परमात्मज्ञानेन मोक्षः । कचित्तु भक्त्युत्थं तज्ज्ञानं विनापि
केबलेन भक्तिमात्रेण मोक्ष इत्यर्थः पर्यवस्यति । यथा मत्स्य-
ण्डिकापिण्डादूरसनादोषेणालब्धस्वादादपि भुक्तात् तदेक-
नाशयो व्याधिर्नश्यत्येवात्र न सन्देहः । “मत्स्यण्डिकानि ते खण्ड-
बिकारे शर्करासिते” इत्यमरः । श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तं (भा. १०।
४७।५६।) — “नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्त-
नोत्थगदराज ईवोपयुक्तः” इति । मोक्षधर्मे नारायणेऽप्युक्तं-
“या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति
नरो नारायणाश्रयः” इति । एकादशेऽप्युक्तं “यत् कर्मभिर्यत्ता-
पसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो
लभतेऽञ्जसा” इति । अतएव “यन्नाम सकृत्श्रवणात् पुक्कसोऽपि
विमुच्यते संसारात्” इत्यादौ बहुशो वाक्यैर्भक्त्यैव मोक्षः
प्रतिपाद्यत इति । अथ प्रकृतमनुसरामः,—“योगिनामपि सर्वेषां
मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो
मतः ॥” इति त्वद्वाक्येन त्वन्मनस्कत्वे सति त्वज्जनाबधय-
कश्रद्धाबत्वमिति त्वया स्वभक्तविशेषलक्षणमेव कृतमित्यवगम्यते ।
किन्तु स च कीदृशो भक्तस्त्वदीयज्ञानविज्ञानयोरधिकारी
भवतीत्यपेक्षायामाह—मय्यासक्तेति द्वाभ्याम् । यद्यपि “भक्तिः
परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः । प्रपद्यमानस्य
यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुधासम् ॥” इत्युक्तेर्मद्भ-
जनप्रक्रमत एव मदनुभवप्रक्रमोऽपि भवति, तदप्येकप्रासमात्र-
भोजिनो तथा तुष्टिपुष्टी न स्पष्टे भवतः, किन्तु बहुतरप्रास
भोजिन एव । तथैव मायि श्यामसुन्दरे पीताम्बरे आसक्तम्
असात्तभूमिकारुढं मनो यस्य तथाभूत एव त्वं मां ज्ञास्यसि ।

यथा स्पष्टमनुभविष्यसि, तत् शृणु कीदृशं योगम् मया सह
संयोगं युञ्जन् शनैः शनैः प्राप्नुवन् मदाश्रयः, मामेव, न तु
ज्ञानकर्मादिकमाश्रयमाणोऽनन्यभक्त इत्यर्थः । अत्रासंशयं सम-
ग्रम् इति पदाभ्यां मदीयनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपज्ञानं “क्लेशोऽ-
धिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहबद्धिरवाप्यते ॥” इत्यग्रिमोक्तेः ससंशयमेव । तथा ज्ञानि-
नामुपास्यं यद्ब्रह्म परममहतो मम महिमस्वरूपमेव । यदुक्तं
मयैव सत्यव्रतं प्रति मत्स्यरूपेण—“मदीयं महिमानञ्च परं
ब्रह्मेति शब्दितम् । वेत्स्यस्यानुगृहीतं मे” इति, अत्रापि “ब्रह्मणो
हि प्रतिष्ठाहम्” इति । अतो मज्ज्ञानापेक्षया तज्ज्ञानमसमग्र-
मिति द्योतितम् ॥ १ ॥

गी०भू०—सप्तमे भजनीयस्य स्वस्यैश्वर्यं प्रकीर्त्यते ।

चातुर्विध्यञ्च भजतां तथैवाभजतामपि ॥

गी०भू०—आद्येन षट्केनोपासकस्य जीवस्य स्वरूपं तत्प्रा-
प्तिसाधनञ्च प्राधान्येनोक्तम् । मध्येन तूपास्यस्य स्वस्य तत्तत्त-
तथोच्यते ; तत्र षष्ठान्तनिर्दिष्टं तव भजनीयं रूपं कीदृशं,
कथं वा भजतोऽन्तरात्मा तद्गतः स्यादित्येतत् पार्थेनाष्टमपि
कृपालुवेन स्वयमेव विबल्लुर्भगवानुवाच—मयीति । व्याख्यात-
लक्षणे स्वोपास्ये मय्यासक्तप्रतिमात्रनिरतं मनो यस्य स त्वमन्यो
वा तादृशो मदाश्रयो महास्यसख्याद्येकतमेन भावेन मां शरणं
गतो योगं मच्छरणादिलक्षणं युञ्जन् कर्तुं प्रवृत्तः । असंशयं
यथा स्यात्तथा—कृष्ण एव परं तत्त्वमतोऽन्यद्वेति सन्देहशून्यो
मत्पारतम्यनिश्चयवानित्यर्थः । समग्रं साधिष्ठानं सविभूतिं
सपरिकरं च मां सर्वेश्वरं येन ज्ञानेन ज्ञास्यसि तन्मयोच्यमान-
मवहितमनाः शृणु । हे पार्थ ! न च समग्रमिति कात्स्न्येन स
ज्ञानमादिशतीति वाच्यमनन्तरस्य तस्य तथाज्ञानासम्भवात् ।

स्मृतिश्च—“कात्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः” इति ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

सारा०ब०—तत्र मद्भक्तेरासक्तिभूमिकातः पूर्वमपि मे ज्ञानमैश्वर्यमयं भवेत् । तदुत्तरं विज्ञानं माधुर्यानुभवमयं भवेत् । तदुभयमपि त्वं शृण्वत्याह—ज्ञानमिति । अन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यत इति मन्निर्विशेषब्रह्मज्ञानविज्ञाने अप्येतदन्तर्भूत एवेत्यर्थः ॥ २ ॥

गी०भू०—वक्ष्यमाणं ज्ञानं स्तौति—ज्ञानमिति—इदं चिद-
चिच्छक्तिमत्स्वरूपविषयकं ज्ञानं, तच्च सविज्ञानं वक्ष्यामि ।
तच्छक्तिद्वयविविक्तस्वरूपविषयकं ज्ञानं विज्ञानं तेन सहितं ते
तुभ्यं प्रपन्नायाशेषतः सामग्र्येणोपदेक्ष्यामीत्यर्थः । यत्स्वरूपं सर्व-
कारणं यच्च ध्येयं तदुभयविषयकं ज्ञानमत्र वक्तुं प्रतिज्ञातं
यज्ज्ञानं ज्ञात्वेह श्रेयोवर्त्मनि निविष्टस्य जिज्ञासोस्तवान्यज्-
ज्ञातव्यं नावशिष्यते, सर्वस्य तदन्तर्भावात् ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

सारा०ब०—एतच्च सविज्ञानं मज्ज्ञानं पूर्वमध्यायषट्के प्रोक्त-
लक्षणैर्ज्ञानिभिर्योगिभिरपि दुर्लभमिति ब्रुवन् प्रथमं विज्ञानमाह-
मनुष्याणामिति । असंख्यातानां जीवानां मध्ये कश्चिदेव मनुष्यो
भवति । मनुष्याणां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव श्रेयसि यतते ।
तादृशानामपि मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदेव मां श्यामसुन्दरा-
कारं तत्त्वतो वेत्ति साक्षादनुभवतीति निर्विशेषब्रह्मानुभवा-
नन्दात् सहस्रगुणाधिकः सविशेषब्रह्मानुभवानन्दः स्यादिति
भावः ॥ ३ ॥

गी०भू०—स्वज्ञानस्य दौर्लभ्यमाह—मनुष्याणामिति । उच्चा-
वचदेहात्मसंख्याता जीवास्तेषु कतिचिदेव मनुष्यास्तेषां शास्त्राधि-
कारयोग्यानां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव सत्प्रसङ्गबशात् सिद्धये
स्वपरात्माबलोकनाय यतते, न तु सर्वैः । तादृशानां यततां यत-
मानानां सिद्धानां लब्धस्वपरात्माबलोकनानां सहस्रेषु मध्ये
कश्चिदेवैको मां कृष्णं तत्त्वतो वेत्ति । अयमर्थः—शास्त्रीयार्था-
नुष्ठायिनो बहवो मनुष्याः परमाणुचैतन्यं स्वात्मानं प्रादेशमात्रं
मत्स्वांशं परमात्मानं चानुभूय विमुच्यन्ते । मां तु यशोदास्त-
नन्वयं कृष्णमधुना त्वत्सारथिं कश्चिदेव तादृशसत्प्रसङ्गावाप्त-
मद्भक्तिस्तत्त्वतो याथात्म्येन वेत्ति—अविचिन्त्यानन्तशक्तिकत्वेन
निखिलकारणत्वेन सार्वज्ञ्यसार्वभौम्यस्वभक्तवात्सल्याद्यसंख्ये-
यकल्याणगुणरत्नाकरत्वेन पूर्णब्रह्मत्वेन चानुभवतीत्यर्थः ।
वक्ष्यति च—“स महात्मा सुदुर्लभः”, “मान्तु वेद न कश्चन” इति ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

सारा०ब०—अथ भक्तिमते ज्ञानं नाम भगवदैश्वर्यज्ञानमेव,
न तु देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानमेवेति । अतः स्वीयैश्वर्यज्ञानं निरूप-
यन् परापरभेदेन स्वीयप्रकृतिद्वयमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम् ।
भूम्यादिशब्दैः पञ्चमहाभूतानि सूक्ष्मभूतैर्गन्धादिभिः सहैकीकृत्य
संगृह्यन्ते, अहङ्कार-शब्देन तत्कार्यभूतानीन्द्रियाणि; तत्कारण-
भूत--महत्तात्त्वमपि गृह्यते, बुद्धिमनसोः पृथगुक्तिस्तत्त्वेषु तयोः
प्राधान्यात् ॥ ४ ॥

गी०भू०—एवं श्रोतारं पार्थमभिमुखीकृत्य स्वस्य कारण-
स्वरूपं चिदचिच्छक्तिमद्वक्तुं ते शक्ती प्राह—भूमिरिति द्वाभ्याम् ।
चतुर्विंशतिधा प्रकृतिर्भूम्याद्यात्मनाष्टधा भिन्ना मे मदीया
बोद्ध्या तन्मात्रादीनां भूम्यादिष्वन्तर्भावादिहापि चतुर्विंशति-

धैर्बाबसेया । तत्र भूम्यादिषु पञ्चषु भूतेषु तत्कारणानां गन्धानां पञ्चानां तन्मात्राणामन्तर्भावः ; अहङ्कारे तत्कार्याणामेकादशानामिन्द्रियाणाम् ; 'बुद्धि'शब्दो महत्तत्त्वमाह ; मनःशब्दस्तु मनो-गम्यमव्यक्तरूपं प्रगानमिति । श्रुतिश्चैवमाह—“चतुर्विंशतिसंख्यानां अव्यक्तं व्यक्तमुच्यते” इति । स्वयञ्च क्षेत्राध्याये ब्रूयति—“महाभूतान्यहङ्कारः” इत्यादिना ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । ५॥

सारा०ब०—इयं प्रकृतिर्वहिरङ्गाख्या शक्तिरपरानुकृष्टा जडत्वात् । इतोऽन्यां प्रकृतिं तटस्थां शक्तिं जीवभूतां परामुकृष्टां विद्धि चैतन्यत्वात् । अस्या उत्कृष्टत्वे हेतुः—यया चेतनया इदं जगत् चेतनं धार्यते स्वभोगार्थं गृह्यते ॥ ५ ॥

गी०भू०—एषा प्रकृतिरपरा निकृष्टा जडत्वाद्भोग्यत्वाच्चेतो जडायाः प्रकृतेरन्यां परां चेतनत्वाद्भोक्तृत्वाच्चेत्कृष्टां जीवभूतां मे मदीयां प्रकृतिं विद्धि । हे महाबाहो पार्थ ! परत्वे हेतुः—ययेति । यया चेतनया इदं जगत् स्वकर्मद्वारा धार्यते शय्यासनादि-वत् स्वभोगाय गृह्यते ; श्रुतिश्च हरेरेवेयं शक्तिस्त्वयीत्याह—“प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः” इति ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

सारा०ब०—एतच्छक्तिद्वयद्वारैव स्वस्य जगत्कारणत्व-माह—एतदिति । एते मायाशक्तिजीवशक्ती क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपे योनी कारणभूते येषां तानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि जानीहि । अतः कृत्स्नस्य सर्वस्यास्य जगतः प्रभवो मच्छक्तिद्वयप्रभूतत्वात्

अहमेव स्रष्टा, प्रलयतच्छक्तिमति मय्येव प्रलीनभावित्वादह-मेवास्य संहर्ता ॥ ६ ॥

गी०भू०—एतच्छक्तिद्वयद्वारैव सर्वजगत्कारणतां स्वस्याह-एतदिति । सर्वाणि स्थिरचराणि भूतान्येतद्योनीनि उपधारय विद्धि । एतेऽपरपरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्ये मच्छक्ती योनी कारण-भूते येषां तानीत्यर्थः । ते च प्रकृती मदीये मत्त एव सम्भूते । अतः कृत्स्नस्य सप्रकृतिकस्य जगतोऽहमेव प्रभव उत्पत्तिहेतुः—‘प्रभव-त्यस्मात्’ इति व्युत्पत्तोः तस्य प्रलयसंहर्ताप्यहमेव—‘प्रलीयते-ऽनेन’ इति व्युत्पत्तोः ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यात्किञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

सारा०ब०—यस्मादेवं तस्मादहमेव सर्वमित्याह—मत्तः परतरमन्यत् किञ्चिदापि नास्ति कार्य--कारणयोरैक्यान् शक्ति-शक्तिमतोरैक्याच्च । तथा च श्रुतिः—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म”, “नेह नानास्ति किञ्चन” इति । एवं स्वस्य सर्वात्मिकत्वमुक्त्वा सर्वान्तर्यामित्वाच्चाह—मयीति । सर्वमिदं चिज्जडात्मकं जगत् मत्कार्यत्वात् मदात्मकमपि पूनर्मय्यन्तेर्य्यामिनि प्रोतं प्रथितं यथा सूत्रे मणिगणाः प्रोताः । मधुसूदन-सरस्वतीपादास्तु सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु प्रथितत्वमात्रे, न तु कारणत्वे कनके कुण्डलादिर्बादति तु योग्यो दृष्टान्त इत्याहुः ॥ ७ ॥

गी०भू०—ननु स्थिरचरयोरपरपरयोः प्रकृत्योरपि त्वमेव तच्छक्तिमान् योनिरित्युक्तेर्निखिलजगद्बीजत्वं तव प्रतीतं, न तु सर्वपरत्वम् ; तच्च तद्बीजात्त्वतोऽन्यस्यैव—“ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति” इति श्रवणादिति चेत्तत्राह—मत्ता इति । मत्तास्त्वत्सखात्

कृष्णात् परतरं श्रेष्ठमन्यत् किञ्चिदपि नास्त्यहमेव सर्वश्रेष्ठं
बस्त्वित्यर्थः । ननु “ततो यदुत्तरतरम्” इत्यादाबन्यथा श्रुतामिति
चेन्मन्दमेतत् क्षोदाक्षमत्वात् ; तथा हि “वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विद्वानमृत इह भवति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय” इति श्रुताश्चतरैः सर्वजगद्बी-
जस्य महापुरुषस्य विष्णोर्ज्ञानममृतस्य पन्थास्ततो नास्तीत्यु-
पादिश्य तदुपपादनाय “यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिदय-
स्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्” इति तस्यैव परतमत्वं
तदितरस्य तदसंभवञ्च प्रतिपाद्य, “ततो यदुत्तरतरम्”
इत्यादिना पूर्वोक्तमेव निगमितम् ; न तु ततोऽन्यच्छ्रेष्ठमस्तीति
उक्तम्-तथा सति तेषां मृषाबादित्वापत्तेः । एवमाह सूत्रकारः-
“तथान्यप्रतिषेधात्” इति । मदन्यस्य कस्यचिदपि श्रेष्ठ्या-
भावादहमेव मदन्यसर्वश्रय इत्याह-मयीति । प्रोतं प्रथितं
स्फुटमन्यत्-एतेन विश्वपालकत्वं स्वस्योक्तम् ॥७॥

रसोऽहमप्सु कोन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

सारा०ब०—स्वकार्ये जगत्त्रयं यथाहमन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टो
वर्त्तो, तथा कचित् कारणरूपेण कचित् कार्येषु मनुष्यादिषु
साररूपेणाप्यहं वर्त्तो इत्याह—रसोऽहमिति चतुर्भिः । अप्सु
रसस्तत् कारणभूतो माद्विभूतिरित्यर्थः । एवं सर्वत्राप्रेऽपि
प्रभारूपः प्रणवः ‘ॐकारः’—सर्ववेदकारणम् । खे आकशे
शब्दस्तत्कारणं, नृषु पौरुषं सफल उद्गमविशेष एव मनु-
ष्यसारः ॥ ८ ॥

गी०भू०—तत्त्वं दर्शयति-रसोऽहमिति पञ्चभिः । अप्सु
रसोऽहं रसतन्मात्रया विभूत्या ताः पालयन् तास्वहं वर्त्तते,

तां विना तासामस्थितेः । शशिनि सूर्ये बाहं प्रभास्मि प्रभया
विभूत्या तौ पालयन् तयोस्वहं वर्त्तो ; एवं परत्र द्रष्टव्यम् । वैखरी-
रूपेषु सर्ववेदेषु तन्मूलभूतः प्रणवोऽहम्, खे नभसि शब्द-
स्तन्मात्रलक्षणोऽहम्, नृषु पौरुषं फलवानुद्यमोऽहम्-तेनैव तेषां
स्थितेः ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

सारा०ब०—“पुण्योऽविकृतो गन्धः पुण्यस्तु चावर्त्तपि”
इत्यमरः । च-कारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । तेजः
सर्ववस्तुपाचनप्रकाशनशीतत्राणादिसामर्थ्यरूपः सारः ; जीवन-
मायुरेव सारः, तपो द्वन्द्वसहनादिकमेव सारः ॥ ९ ॥

गी०भू०—पुण्योऽविकृतो गन्धस्तन्मात्रलक्षणः, चकारो
रसादीनामहमपि पुण्यत्वसमुच्चयकः । विभावसौ बन्धौ तेजः
सर्ववस्तुपाचनप्रकाशनादिसामर्थ्यरूपश्च शदाद्वायौ यः पुण्यः
स्पर्श उष्णस्पर्शव्याकुलानामापायकः सोऽहमिति बोध्यम् । जीव-
नमायुस्तपो द्वन्द्वसहनम् ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिबुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

सारा०ब०—बीजमविकृतं कारणं प्रधानाख्यमित्यर्थः । सनातनं
नित्यं बुद्धिमतां बुद्धिरेव सारः ॥ १० ॥

गी०भू०—सर्वभूतानां चराचराणां यदेकबीजं सनातनं
नित्यं, न तु प्रतिव्याक्तिभिन्नमनित्यं वा तत् प्रधानाख्यं सर्व-
बीजं मामेव विद्धि तद्रूपया विभूत्या तान्यहं पालयामि तत्परेण
हि तानि पुण्यन्ते । बुद्धिः सारासारविवेकवती, तेजः प्रागलभ्यं

पराभिभवसामर्थ्यं परानभिभाव्यत्वञ्च ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

सारा०ब०—कामः स्वजीविकाद्यभिलाषः, रागः क्रोधस्तद्विवर्जितम्, न तद्द्वयोत्थमित्यर्थः । धर्माविरुद्धः स्वभार्यायां पुत्रोत्पत्तिमात्रोपयोगी ॥११॥

गी०भू०—कामः स्वजीविकाद्यभिलाषः रागस्तु प्राप्तेऽप्यभिलषितेऽर्थे पुनस्ततोऽप्याधिकेऽर्थे चित्तरञ्जनात्मकोऽतितृष्णापरनामा, ताभ्यां निवर्जितं बलं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यमित्यर्थः । धर्माविरुद्धः स्वपत्न्यां पुत्रोत्पत्तिमात्रहेतुः ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान्बिद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

सारा०ब०—एवं वस्तुकारणभूता वस्तुसारभूताश्च राक्षसाद्याश्च विभूतयः काश्चिदुक्ताः; किन्त्वलमतिविस्तरेण । मदधीनं वस्तुमात्रमेव मद्भिभूतिरित्याह—ये चैवेति । सात्त्विकभावाः शमदमादयो देवाद्याश्च, राजसा हृषेदपादयोऽसुराद्याश्च । तामसाः शोकमोहादयो राक्षसाद्याश्च, तान् मत्त एवेति मदीयप्रकृतिगुणकार्यत्वात् । तेष्वहं न वर्त्तो, जीववत्तादधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः । ते तु मयि मदधीनाः सन्त एव वर्त्तन्ते ॥१२॥

गी०भू०—एवं काश्चाद्विभूतिरभिधाय समासेन सर्वास्ताः प्राह ये चैवेति । ये मिथो बिलक्षणस्वभावाः सात्त्विकादयो भावाः प्राणिनां शरीरेन्द्रियविषयात्मना तत्कारणत्वेन चावस्थितास्तान् सर्वान् तत्तच्छक्त्युपेतान्मत्ताएवोपपन्नान् बिद्धि । न त्वहं तेषु वर्त्तो नैवाहं तदधीनरित्यर्थः—ते मयि मदधीनरित्यर्थः ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

सारा०ब०—नन्वेवम्भूतं त्वां परमेश्वरं कथमयं जनो न जानातीत्यत आह—त्रिभिरिति । गुणमयैः शमदमादि-हर्षादि-शोकाद्यैर्भावैः स्वाभावीभूतैर्जगत् जगज्जात-जीववृन्दं मोहितं सत् मां निर्गुणत्वादेभ्यः परमव्ययं निर्विकारम् ॥१३॥

गी०भू०—अथ शक्तिद्वयविकृतं स्वस्य ध्येयस्वरूपं दर्शयन् तस्याज्ञाने तदासक्तिमेव हेतुमाह—त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोदितैर्गुणमयैर्ममायागुणकार्यैस्त्रिविधैः सात्त्विकादिभिर्भावैर्भवनधर्मिभिः क्षणपरिणामिभिस्तत्तात्कर्मिणुगुणशरीरेन्द्रियविषयात्मनावस्थितैर्मोहितमविवेकितां नीतं सत् सर्वमिदं जगत् सुरासुरमनुष्याद्यात्मनावस्थितं जीववृन्दं कर्त्तृ एभ्यः सात्त्विकादिभ्यो भावेभ्यः परं तैरस्पृष्टमनन्तवत्याणुगुणरत्नाकरं विज्ञानानन्दघनं सर्वेश्वरमव्ययमप्रच्युतस्वभावं मां कृष्णं नाभिजानाति प्रत्युतासूयति ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

सारा०ब०—ननु तर्हि त्रिगुणमयमोहात् कथमुत्तीर्णा भवन्ति ? तत्राह—दैवी विषयानन्देन दीव्यन्तीति देवा जीवास्तदीया तेषां मोहायत्रीत्यर्थः । गुणमयी श्लेषेण त्रिवेष्टनमहापाशरूपा । मम परमेश्वरस्य माया बहिरङ्गाशक्तिर्दुरत्यया दुरतिक्रमा । पाशपक्षे, छेत्तुम् उद्ग्रन्थयितुं वा केनाप्यशक्येत्यर्थः । किन्तु मद्वाचि विश्वसिहि इति स्ववक्तुः स्पृष्ट्वाह—मां श्यामसुन्दराकारमेव ॥१४॥

गी०भू०—ननु त्रिगुणायस्तन्मायाया नित्यत्वात्तद्वेतुकम्य मोहस्य विनिवृत्तिर्दुर्घटेति चेत्तत्राह—दैवीति । मम सर्वेश्वर-स्यावितर्क्यातिबिचित्रानन्तविश्वस्रष्टुरेषा माया दैवी । अलौ-किच्यत्यद्भुतेत्यर्थः, तादृक् विश्वसर्गोपकरणत्वात् । श्रुतिश्चैव-माह—“मायां तु प्रकृतिं बिद्यान्मायिनं तु महेश्वरमि”त्याद्या । गुणमयी सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका, श्लेषेण त्रिगुणिता रज्जुरिवाति-दृढतया जीवानां बन्धुहेतुः । अतो दुरत्यया तेषां दुरतिक्रमा, रज्जु-पक्षे च्छेत्तुमुद् प्रथितुं च तैरशक्येत्यर्थः । यद्यप्येतादृशी तथापि मद्भक्त्या तद्विनिवृत्तिः स्यादित्याह मामिति । मां सर्वेश्वरं मायानियन्तारं स्वप्रपन्नवात्सल्यनीरधि कृष्णं ये तादृशसत्प्रसङ्गात् प्रपद्यते शरणं गच्छन्ति ते एतामर्णवमिवापारां मायां गोष्पदोद-काञ्जलिमिवाश्रमेण तरन्ति । तां तीर्त्वा नन्दैकरसं प्रसादाभिमुखं स्वस्वामिनं मां प्राप्नुवन्तीति । मामेवेत्येवकारो मदन्येषां विधिरुद्रा-दीनां प्रपत्त्या तस्यास्तरणं नेत्याह श्रुतिश्चैवमाह तमेव विदित्वे-त्याद्या, मुचुकुन्दं प्रति देवाश्च—“वरं ऋणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्य-मद्य नः । एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णु रव्यय इति । घण्टा-कर्णं प्रति शिवश्च—“मुक्तप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः” इति ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

सारा०ब०—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते ? तत्र ये पण्डितास्ते मां प्रपद्यन्त एव; पण्डित-मानिन एव न मां प्रपद्यन्त इत्याह—न मामिति । दुष्कृतिनः दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते कुपण्डिता इत्यर्थः । ते च चतुर्विधाः—एके मूढाः पशुतुल्याः कर्मिणः; यदुक्तं—“ननु

दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम् । हित्वा शृण्वन्त्यसद्गथाः पुरीषमिव बिड्भुजः ॥” इति, “मुकुन्दं को वै न सेवेत विना नरेतरम्” इति च । अपरे नराधमाः कश्चित् कालं भक्तिमत्त्वेन प्राप्तनरत्वा अप्यन्ते फलप्राप्तौ न साधनोपयोग इति मत्वा स्वेच्छयैव भक्तित्यागिनः—स्वकर्त्ता कभक्तित्यागलक्षणमेव तेषाम-धमत्वमिति भावः । अपरे शास्त्राध्यापनादिमत्त्वेऽपि मायया-पहतं ज्ञानं येषां ते । वैकुण्ठबिराजिनी नारायणमूर्तिरेव सार्वकालिकी भक्तिप्राप्या, न तु कृष्णरामादिमूर्तिर्मानुषीति मन्यमाना इत्यर्थः, यद्वदयते,—“अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्” इति । ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि न मां प्रपद्यन्त इति भावः । अपरे आसुरं भावमाश्रिताः । असुराः जरासन्धादयः मद्भिप्रहं लक्ष्यीकृत्य शरैर्विद्धयन्ति । तथैव दृश्यत्वादिहेतुमत्-कुतर्कैर्मद्भिप्रहं वैकुण्ठस्थमपि खण्डयन्त्येव, न तु प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

गी०भू०—ननु चेत्त्वामेव प्रपन्ना विमुच्यन्ते तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते तत्राह न मामिति । दुष्टाश्च ते कृ-तिनः शास्त्रार्थकुशलाश्चेति दुष्कृतिनः कुपण्डितास्ते मां न प्रप-द्यन्ते । श्रुतिश्चैवमाह—“अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः । दंष्ट्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीय-माना यथान्धाः” इति । ते चतुर्विधाः—एके मायया मूढाः कर्म-जडा इन्द्रादिवन्मामपि विष्णुं कर्म्मार्ङ्गं जीववत् कर्म्माधीनं मन्यमानाः, अपरे मायया नराधमा विप्रादिकुलजन्मना नरोत्त-मतां प्राप्याप्यसत् काव्यार्थासत्तया पामरताभाजः । यदुक्तं—“नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम् । हित्वा शृण्वन्त्यसद्गथाः पुरीषमिव बिड्भुज इति । अन्ये माययापहतज्ञानाः सांख्यादयः ते हि सार्वज्ञसार्वेश्वर्यसर्वसृष्टृत्व-मुक्तिदत्त्वादि धर्मैः

श्रुतिसहस्रप्रसिद्धमपि मामीश्वरमपलपन्तः प्रकृतिमेव सर्वसृष्टीं
मोक्षदात्रीं च कल्पयन्ति । तत्र तादृशकुटिलकुयुक्तिशतान्युद्भाव-
यन्ती मायैव हेतुः । केचिन्माययैवासुरं भावमाश्रिता निर्विशे-
षचिन्मात्रवादिनः—असुरा यथा निखिलानन्दकरं मद्भिप्रहं शरैर्वि-
ध्यन्ति तथादृश्यत्वादहेतुभिस्ते नित्यचैतन्यात्मतया श्रुतिप्रसि-
द्धमपि तं खण्डयन्तीति तत्रापि तादृशबुद्धयुत्पादनी मायैव
हेतुरिति ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

सारा०ब०—तर्हि के त्वां भजन्त इत्यत आह—चतुर्विधा
इति । सुकृतं वर्णाश्रमाचारलक्षणो धर्मस्तद्वन्तः सन्तो मां
भजन्ते; तत्र आर्तो—रोगाद्यापद्ग्रस्तस्तन्निवृत्तिकामः, जिज्ञासुः
आत्मज्ञानार्थी व्याकरणादिशास्त्रज्ञानार्थी वा, अर्थार्थी क्षिति-
गजतुरगकामिनीकनकाद्यै हिकपारत्रिकभोगार्थीति,—एते त्रयः,
सकामा गृहस्थाः, ज्ञानी विशुद्धान्तःकरणः सन्न्यासीति चतुर्थो-
ऽयं निष्कामः, इत्येते प्रधानीभूत-भक्त्यधिकारिणश्चत्वारो
निरूपिताः । तत्रादिमेषु त्रिषु कर्ममिश्रा भक्तिः, अन्तमे चतुर्थे
ज्ञानमिश्रा, “सर्वद्वाराणि संयम्य” इत्यग्रिमग्रन्थे योगमिश्रापि
वक्ष्यते । ज्ञानकर्ममिश्रा केवला भक्त्या सा तु सप्तमाध्या-
यारम्भे एव “भक्त्यासक्तमनः पार्थ” इत्यनेन उक्ता । पुनश्चाष्ट-
मेऽप्यध्याये “अनन्यचेताः सततम्” इत्यनेन, नवमे “महात्मा-
नस्तु मां पार्थ” इति श्लोकद्वयेन “अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्”
इत्यनेन च निरूपयितव्येति । ‘प्रधानीभूता’ ‘केवला’ इति द्विविधैव
भक्तिर्मध्यमेऽस्मिन् अध्यायपटके भगवतोक्ता । या तु तृतीया
गुणीभूता भक्तिः कर्मिणि, ज्ञानिनि, योगिनि च कर्मादि-

फलसिद्धयर्थं दृश्यते, तस्याः प्राधान्याभावात् न भक्तित्वव्य-
पदेशः, किन्तु तत्र तत्र कर्मादीनामेव प्राधान्यात् । प्राधान्येन
व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायेन कर्मत्व-ज्ञानत्व-योगत्व-व्यपदेशः,
तद्वतामपि कर्मित्व-ज्ञानित्व-योगित्व-व्यपदेशः, न तु भक्तत्व-
व्यपदेशः । फलञ्च सकामकर्मणः स्वर्गोः निष्कामकर्मणो
ज्ञानयोगो ज्ञानयोगयोर्निर्व्याणमोक्ष इति । अथ द्विधाया भक्तेः
फलमुच्यते, तत्र प्रधानीभूतासु भक्तिषु मध्ये आर्त्तादिषु त्रिषु
याः कर्ममिश्रास्तिस्रः सकामा भक्तयस्तासां फलं तत्तत्काम-
प्राप्तिः, विषयसाद्गुण्यात् तदन्ते सुखैश्वर्यप्रधानसालोक्य-
मोक्षप्राप्तिश्च; न तु कर्मफलस्वर्गभोगान्त इव पातः, यद्वक्ष्यते,—
“यान्ति मद्याजिनो माम्” इति । चतुर्थ्या ज्ञानमिश्रायास्तत
उत्कृष्टायास्तु फलं शान्तरतिः सनकादिष्वेव । भक्तभगवत्कारु-
ण्याधिक्यवशात् कर्म्याश्चित् तस्याः फलं प्रेमोत्कर्षश्च श्रीशुका-
दिष्वेव । कर्ममिश्रा भक्त्यादि निष्कामा स्यात् तदा तस्याः
फलं ज्ञानमिश्रा भक्तिः, तस्याः फलमुक्तमेव । कचिच्च स्वभावा-
देव दासादिभक्तसङ्गोत्थ-वासना वशाद्वा ज्ञानकर्म्यादिमिश्रभक्ति-
मतामपि दास्यादिप्रेमा स्यात्, किन्तु ऐश्वर्यप्रधानमेवेति । अथ
ज्ञानकर्म्यादिमिश्रायाः शुद्धाया अनन्याकिञ्चनोत्तमादिपर्यायाः
भक्तेर्बहुप्रभेदाया दास्यसख्यादिप्रेमवत् पार्षदत्वमेव फलमित्या-
दिकं श्रीभागवतटीकायां बहुशः प्रतिपादितम् । अत्रापि प्रसङ्ग-
वशात् साध्य—भक्तिविवेकः संक्षिप्य दर्शितः ॥ १६ ॥

गी०भू०—तर्हि त्वां के प्रपद्यन्ते तत्राह चतुर्विधा इति । सु-
कृतिनः सुपण्डिताः स्ववर्णाश्रमोचितकर्मणा मदेकान्तिभावेन च
सम्पन्ना जना मां भजन्ते । ते च चतुर्विधाः—तत्रार्त्ताः शत्रुक्लेशाद्या-
पद्ग्रस्तस्तद्विनाशेच्छुर्गजेन्द्रादिः, जिज्ञासुर्विविक्तात्मस्वरूपज्ञाने-
च्छुः शौनकादिः, अर्थार्थी राज्यादिसम्पादच्छुर्ध्रुवादिः, ज्ञानी

शेषत्वेन स्वात्मानं शेषित्वेन परात्मानञ्च मां ज्ञातवान् शुकादिः ।
एष्वार्त्तादयः सकामाः ज्ञानी तु निष्कामः । आर्त्तार्थार्थिनोः
परत्र जिज्ञासुता-सम्पत्ताये तयोरन्तराले जिज्ञासोरुपन्यासः ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

सारा०ब०—चतुर्णां भक्त्यधिकारिणां मध्ये कः श्रेष्ठः
इत्यपेक्षायामाह—तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः । नित्ययुक्तो
नित्यं मयि युज्यत इति सः ज्ञानाभ्यासबशीकृत-चित्ताव्यान्म-
नस्यैकाग्रचित्ता इत्यर्थः । आर्त्ताद्यास्त्रयस्तु नैवभूता इति भावः ।
ननु सर्वोऽपि ज्ञानी ज्ञानवैयर्थ्यभयात् त्वां भजते एव ?
तत्राह—एका मुख्या प्रधानभूता भक्तिरेव, न तु अन्येषां
ज्ञानिनामिव ज्ञानमेव प्रधानीभूतं यस्य सः, यद्वा—एका भक्तिरेव
तथैवासक्तिमत्त्वात् यस्य स नाममात्रेणैव ज्ञानीति भावः ।
एवम्भूतस्य ज्ञानिनोऽहं श्यामसुन्दराकारोऽत्यर्थमतिशयेन प्रियः
साधनसाध्यदशयोः परिहातुमशक्यः । “ये यथा मां प्रपद्यन्ते”
इति न्यायेन ममापि स प्रियः ॥ १७ ॥

गी०भू०—चतुर्षु ज्ञानिनः श्रेष्ठ्य-माह तेषामिति । ज्ञानी विशि-
ष्यते श्रेष्ठो भवति, यदसौ नित्ययुक्त एकभक्तिश्च । आर्त्तिविनाशा-
दि कामनाविरहान्नित्यं मया योगवान् । आर्त्तादेस्तु यावत्कामितप्रा-
प्ति मद्योग एकस्मिन् मय्येव ज्ञानिनो भक्तिरार्त्तादेस्तु स्वकामिते
तत् प्रदातृत्वेन मयि चातो ज्ञानी ततः श्रेष्ठः । अतृप्यन्नाह—प्रियो
हीति । ज्ञानिनो ह्यहमत्यर्थं प्रियः प्रेमास्पदम्, सहि मत्प्रियतामुधा-
सिन्धुनिमग्नो नान्यत् किञ्चिदनुसन्धत्तो तस्य मत्प्रियतापरिमि-
तेति बोधयितुमत्यर्थशब्दः, सर्वज्ञोऽनन्तशक्तिश्चाहं यां वक्तुं
न शक्नोमीत्यर्थः । सच ज्ञानी ये यथा मामित्यादि न्यायेन तथैव

मम प्रियः, ममापि तत् प्रियता तद्वदपरिमितेत्यर्थः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

सारा०ब०—तर्हि किमार्त्ताद्यास्त्रयस्तव न प्रियास्तत्र न हि,
न हीत्याह—उदारा इति । ये मां भजन्ते मत्ताः किञ्चित्
कामितं मयापि दित्सितं गृह्णन्ति, ते भक्तवत्सलाय मह्यं बहु
प्रदायिनः प्रिया एवेति भावः । ज्ञानी त्वात्मैवेति, स हि
भजन्नथ च मत्तः किमपि स्वर्गापवर्गादिकं नाकाङ्क्षत इति,
अतस्तदधीनस्य मम स आत्मैवेति मम मतं मति, यतः स मां
श्यामसुन्दराकारमेवानुत्तमां सर्वोत्तमां गतिं प्राप्यास्थितः
निश्चितवान्; न तु मम निर्विशेषस्वरूपब्रह्मनिर्वाणमिति भावः ।
एवञ्च निष्कामप्रधानीभूतभक्तिमान् ज्ञानी भक्तवत्सलेन भगवता
स्वात्मत्वेनाभिमन्यते, केवलभक्तिमाननन्यस्तु आत्मनोऽप्याधि-
क्येन । यदुक्तं—“न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥” इति, “नाह-
मात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना” इति, “आत्मारामोऽप्य-
रीरमत्” इत्यादि ॥ १८ ॥

गी०भू०—नन्वार्त्तादयस्तव प्रिया न भवन्ति मैवमत्यर्थमिति विशे-
षणादित्याह उदारा इति । सर्वे एवैते आर्त्तादय उदारा वंदा-
न्याः । “उदारो दातृमहतोरि”त्यमरः । ये मां भजन्तो मया दित्-
सितं किञ्चित् स्वाभीष्टं मत्तो गृह्णन्ति ते भक्तवात्सल्यं मह्यं प्रय-
च्छन्तो मम बहु प्रदाः प्रिया एवेति भावः । ज्ञानी तु ममात्मैवेति
मतम् । हियस्मात् स ज्ञानी युक्तात्मा मदर्पितमना मत्तोऽन्यत्
किञ्चिदप्यनिच्छन्नतिप्रियेण मया विना लवमपि स्थातुमसमर्थो
मामेव सर्वोत्तमां गतिं प्राप्यमास्थितः निश्चितवान् अतस्तेन तादृ-

शेन बिना लवमपि स्थातुमसमर्थस्य ममात्मैव सः । न च ज्ञानि-
जीवस्य हरिः स्वेनाभेदमाहेति वाच्यम् । ज्ञानिभजत्वासिद्धे-
र्भजतां चातुर्विध्यासिद्धे र्मोक्षे भेदवाक्यव्याकोपाच्च । तस्मा-
दतिप्रियत्वादेव तत्रात्मेत्युक्तिर्ममात्मा भद्रसेन इतिवत् । आत्मैव
मन एव मतमित्यपरे ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

सारा०ब०—ननु मामेवानुत्तमां गतिमास्थित इति ब्रूषे
अतः स ज्ञानभक्तत्वामेव प्राप्नोति, किन्तु कियतः समयाद-
नन्तरं स ज्ञानी भक्त्यधिकारी भवतीत्यत आह—बहूनामिति ।
वासुदेवः सर्वमिति—सर्वत्र वासुदेवदर्शी ज्ञानवान् बहूनां
जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते । तादृश—साधुर्याद्विच्छेदसङ्गवशात्
मत्प्रपत्तिं प्राप्नोति, स च ज्ञानी भक्तो महात्मा सुस्थिरचित्तः
सुदुर्लभः—“मनुष्याणां सहस्रेषु” इति मनुकतेः । ऐकान्तिक-
भक्तस्तु किमुतेति, स तु अति सुदुर्लभ एवेति भावः ॥१९॥

गी०भू०—नन्वार्त्तादीनामन्ते का निष्ठेति चेत्तत्राह—बहूना-
मिति । आर्त्तादिस्त्रिविधो मद्भक्तः कृतमद्भक्तिमहिम्ना बहूनि जन्मा-
न्युत्तमान् विषयानन्दाननुभूय तेषु वितृष्णोऽन्ते जन्मनि मत्स्वरूप-
ज्ञसत्प्रसङ्गात् ज्ञानवान् प्राप्तमत्स्वरूपज्ञानः सन् मां प्रपद्यते, ततो
विन्दतीत्यर्थः । ज्ञानाकारमाह—वासुदेवोति । वसुदेवसुतः कृष्ण
एव सर्व-कृष्णायत्तास्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकं सर्वं वस्त्वित्यर्थः । यद्वि-
यदधीनस्वरूपस्थितिकं तत्तादात्म्यं व्यपदिश्यते, यथा प्राणा-
धीनस्वरूपस्थितिकत्वात् प्राणरूपं बागादि व्यपदिष्टं छान्दोग्ये-
“न वै बाचो न चक्षुर्वि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण
इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति” इति तत्राहुः-

सर्वं वस्तु वासुदेवेन व्याप्यमतः सर्वं वासुदेव इत्यर्थः । “सर्वं
समाप्नोषि ततोऽसि सर्वम्” इति पार्थो वक्ष्यतीति । स हि
निखिलस्पृहानिवृत्तिपूर्वकं मत्स्पृहो मदात्मात्युदारमना मन्नि-
वेदितात्मा ज्ञानिकोऽपि सुदुर्लभः । एष ज्ञानवान् ‘प्रियो हि
ज्ञानिनोऽत्यर्थम्’ इत्याद्युक्तलक्षणो बोध्यः ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्ह तज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

सारा०ब०—ननु आर्त्तादयः सकामा अपि भगवन्तं त्वां
भजन्तः कृतार्था इव इत्यवगतम्, ये तु आर्त्तादयः
आर्त्तिहानादिकामनया देवतान्तरं भजन्ते, तेषां का गतिरित्य-
पेक्षायामाह—कामैरिति चतुर्भिः । हतज्ञाना इति रोगाद्यार्त्ति-
हराः शीघ्रं यथा सूर्यादयस्तथा न विष्णुरिति नष्टबुद्धयः ।
प्रकृत्येति स्वया प्रकृत्या नियता वशीकृताः सन्तस्तेषां दुष्टा
प्रकृतिरेव मत्प्रपत्तौ पराङ्मुखीति भावः ॥२०॥

गी०भू०—तदित्थं कामनयापि मां भजन्तो मद्भक्तिमहिम्ना
ते विमुच्यन्त इत्युक्तम् । ये तु शीघ्रसुखकामा देवतान्तर-
भक्तास्ते संसरन्त्येवेत्याह—कामैरित्यादिभिश्चतुर्भिः । तैस्तैर्ार्त्ति-
विनाशादिबिषयकैः कामैर्हतज्ञाना यथादित्यादयः शीघ्रमेव रोग-
विनाशादिकरास्तथा न विष्णुरिति नष्टधिय इत्यर्थः । तं तम-
साधारणं स्वया प्रकृत्या वासनया नियता नियन्त्रितास्तेषां
प्रकृतिरेव तादृशी-या मत्प्रपत्तौ वैमुख्यं करोतीति भावः ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

सारा०ब०—ते ते देवाः पूजां प्राप्य प्रसन्नास्तेषां स्वस्व-

पूजकानां हितार्थं त्वद्भक्तौ श्रद्धामुत्पादयिष्यन्तीति मा बादीर्य-
तस्ते देवाः स्वभक्तावपि श्रद्धामुत्पादयितुमशक्ताः किं पुनर्महभक्ता-
वित्याह--यो य इति । यां यां तनुं सूर्य्यादिदेवरूपां मदीयां
मूर्तिविभूतिमर्चितुं पूजयितुम्, तामेव तत्तद्देवताविषयामेव,
न तु स्वविषयां श्रद्धामहमन्तर्याग्येव विदधामि, न तु सा
सा देवता ॥ २१ ॥

गी०भू०—सर्वान्तर्यामी महाविभूतिः सर्वहितेच्छुरहमेव
तत्तद्देवतासु श्रद्धामुत्पाद्य ताः पूजयित्वा तत्तदनुरूपाणि फलानि
प्रयच्छामि, न तु तासां तत्र तत्र शक्तिरस्तीत्याशयवानाह—य
इति द्वाभ्याम् । यो य आर्त्तादिभक्तो यां यामादित्यादिरूपां
मत्तानुं श्रद्धयार्चितुं बाञ्छति, तस्य तस्य तामेव तत्तद्देवता-
विषयामेव, न तु मद्विषयाम्, अचलां स्थिराम् । विदधाम्यु-
त्पादयाम्यहमेव, न तु सा सा देवता, श्रुतिश्च तत्तद्देवतानां
मत्तनुत्वमाह—“य आदित्ये तिष्ठत्यादित्यादन्तरो यमादित्यो न
वेद यस्यादित्यः शरीरम्” इत्याद्या ॥ २१ ॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—ईहते करोति, स तत्तद्देवताराधनात् कामान्
आराधनफलानि लभते । न च ते ते कामा अपि तैस्तैर्देवैः
पूर्णाः कर्त्तुं शक्यन्त इत्याह—मयैव विहितान् पूर्णीकृतान् ॥ २२ ॥

गी०भू०—स तयेति । ईहते करोति, ततो मत्तानुभूत-तत्तद्-
देवताराधनात् । कामान् फलानि तत्र तत्रोक्तानि । मयैवोक्त विहि-
तान् रचितान्—यद्यपि तस्य तस्याराधकस्य तथा ज्ञानं नास्ति
तथापि मत्तनुविषयेयं श्रद्धेत्यनुसन्धायाहं फलान्यर्पयामीति
भावः ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

सारा०ब०—किन्तु तेषां देवतान्तरभक्तानां फलं तत्तद्देवता-
राधनजन्यमन्तवत् नश्वरं कैश्चित्कालिकं भवति । ननु आराधने श्रमे
तुल्येऽपि देवतान्तरभक्तानां फलं नश्वरं करोषि, स्वभक्तानान्त्व
नश्वरं करोषीति त्वयि परमेश्वरेऽयमन्यायस्तत्र नायमन्याय इत्याह-
देवानिति । देवयजो देवपूजकाः देवानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति,
मत्पूजका अपि माम् । अयमर्थः—ये हि यत्पूजकास्तं तान्
प्राप्नुवन्त्येवेति न्याय एव । तत्र यदि देवा अपि नश्वरास्तदा
तद्भक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु, कथन्तरां वा तद्भजनफलं वा न
नश्यतु, अतएव, तद्भक्ता अल्पमेधस उक्ताः । भगवांस्तु
नित्यस्तद्भक्ता अपि नित्यास्तद्भक्तिर्भक्तिफलञ्च सर्वं नित्य-
मेवेति ॥ २३ ॥

गी०भू०—ननु देवाश्चेत् त्वत्तानवस्तर्हि देवभक्तानां तद्भक्तानां
च समानं फलं स्यादिति चेत्तत्राह—अन्तवदिति । तेषामल्पमेधसा-
मादित्यादिमात्रबुद्ध्या, न तु मत्तानुबुद्ध्याराधयतां तत्तत्फल-
मल्पमन्तवद्विनाशि च भवति, मत्तानुबुद्ध्याराधयतां तु फल-
मनन्तमविनाशि चेति भावः । यस्मादादित्यादिदेवयजिनस्तान्
स्वेज्यान् मितभोगान् मितायुषो यान्तीति, मद्भक्तास्तु मामेव नित्या-
परिमितस्वरूपगुणविभूतिमदाराधनफलमनन्तमविनाशि चेति
महदन्तरमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अव्ययं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

सारा०ब०—देवतान्तरभक्तानामल्पमेधसां वार्त्ता दूरे तावदा

स्ताम्, वेदादिसमस्तशास्त्रदर्शिनोऽपि मत्तत्त्वं न जानन्ति ।
 “अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
 जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचि-
 न्वन् ॥” इति ब्रह्मणापि मां प्रत्युक्तम् । अतो मद्भक्तान् विना
 मत्तत्त्व-ज्ञाने सर्वत्र बालपवुद्धय इत्याह—अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं
 निराकारं ब्रह्मैव मां मायिकाकारत्वेनैव व्यक्तिं बसुदेवगृहे जन्म
 प्राप्तं निर्व्वुद्धयो मन्यन्ते, मायिकाकारस्यैव दृश्यत्वादिति
 भावः ; यतो मम परं भावं मायातीतं स्वरूपजन्मकम्मेलीलादि-
 कमजानन्तः । भावं कीदृशम् ? अव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वोत्त-
 मकृष्टम् “भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु । क्रिया-लीला-
 पदार्थेषु” इति मेदिनी । भगवत्स्वरूप-गुणजन्मकर्मलीलाना-
 मनाद्यन्तत्वेन नित्यत्वं श्रीरूप-गोस्वामिचरणैर्भागवतामृतग्रन्थे
 प्रतिपादितम् । “मम परं भावं स्वरूपमव्ययं नित्यविशुद्धोर्ज्जित-
 सत्त्वमूर्त्तिम्” इति स्वामिचरणैश्चोक्तम् ॥ २४ ॥

गी०भू०—अथ का बार्त्ता मद्व्यदेवयाजिनामल्पमेधसामुप-
 निषन्निष्णातानामपि मद्भक्तिरिक्तानां मत्तत्त्वधीर्न स्यादित्याशये-
 नाह—अव्यक्तमिति । अवुद्धयो मत्तत्त्वयाथात्म्यवुद्धिशून्या जना
 अव्यक्तं स्वप्रकाशात्मविग्रहत्वादिन्द्रियाविषयं मां व्यक्तिमापन्नं
 तद्विषयां मन्यन्ते । देवक्यां बसुदेवात् सत्त्वोत्कृष्टेन कर्मणा
 सञ्जातमितरराजपुत्रतुल्यं मां बदन्ति, यतस्ते मर्दाभज्ञसत्प्रसङ्गा-
 भावान्मम भावं परमव्ययमनुत्तममजानन्तः—“भावः सत्ता स्व-
 भावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु । क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबुध-
 जन्तुषु” इति मेदिनीकारः, मद्भक्तिहीनास्ते मम स्वरूपगुणजन्म-
 लीलादिलक्षणभावं मायादितः परमतोऽव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वो-
 त्तमं न, किन्त्वन्यबन्मायिकमनित्यं साधारणञ्च गृह्णन्त इत्यर्थः ।
 स्वरूपं हरेर्विज्ञानानन्दैकरसं—“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्यादेः । सार्व-

ज्ञादिगुणगणस्तस्य स्वरूपानुबन्धी—“अनन्तकल्याणगुणात्मको-
 ऽसौ” इत्यादेः । अभिव्यक्तिमात्रं जन्म—“अजोऽपि सन्” इत्यादेः,
 परन्तु अव्यक्तस्यैव भजत्सु प्रसादेनैवाभिव्यक्तिशीलं—“न शक्यः
 स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते । यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं
 द्रष्टुमर्हति ॥” इत्यादेः ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

सारा०ब०—ननु यदि त्वं नित्यरूपगुणलीलोऽसि, तदा ते
 तथाभूता सार्वकालिकी स्थितिः कथं न दृश्यते ? तत्राह—
 नाहमिति । अहं सर्वस्य सर्वदेशकालवर्त्तिनो जनस्य न प्रकाशो
 न प्रकटः । यथागुणलीलापरिकरत्वेन सदैव विराजमानोऽपि
 कदाचिदेव केषुचिदेव ब्रह्माण्डेषु । किञ्च सूर्यो यथा सुमेरु-
 शैलावरणवशात् सर्वदा लोकदृश्यो न भवति, किन्तु कदाचिदेव
 तथैवाहमपि योगमायया समावृतः । न च ज्योतिश्चक्रवर्त्ता-
 मानानां प्राणिनां ज्योतिश्चक्रमध्ये सामस्येन सदैव विराज-
 मानोऽपि सूर्यः सर्वकालदेशवर्त्तिजनस्य न प्रकटः, किन्तु
 कदाचित्केषु च भारतादिषु खण्डेषु वर्त्तमानस्य जनस्यैव,
 तथैवाहमपि । स्वधामसु स्वरूपसूर्यो यथा सदैव दृश्यस्तथैव
 श्रीकृष्णधामनि मथुराद्वारकादौ स्थितानामिदानीन्तनानां जनानां
 तत्रस्थः कृष्णः कथं न दृश्यो भवति ? उच्यते—यदि ज्योतिश्च-
 क्रमध्ये सुमेरुभविष्यत्तादा तत्रापि तदावृतः सूर्यो दृश्यो
 नाभविष्यत् । तत्र तु मथुरादि-कृष्णद्युमणिधामनि सुमेरुस्थानीया
 योगमायैव सदा वर्त्तत इत्यतस्तदावृतः कृष्णार्कः सदा न
 दृश्यते किन्तु कदाचिदेवेति सर्वमनबध्यम् । अतो मूढो लोको
 मां श्यामसुन्दराकारं बसुदेवात्मजमव्ययं मायिकजन्मादिशून्यं

नाभिजानाति । अतएव कल्याणगुण-वारिधिं मामप्यन्त-
तस्त्यक्त्वा मन्निर्विशेषस्वरूपं ब्रह्मैवोपासत इति ॥ २५ ॥

गी०भू०—ननु भक्ता इवाभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षीकुर्वन्ति प्रसा-
दादेव भजत्स्वभिव्यक्तिरिति कथम् ? तत्राह-नाहमिति । भक्ता-
नामेवाहं नित्यविज्ञामसुखघनोऽनन्तकल्याणगुणकर्मा प्रकाशो-
ऽभिव्यक्तो, न तु सर्वेषामभक्तानामपि । यदहं योगमायया समा-
वृतो मद्विमुखव्यामोहकत्वयोगयुक्तया मायया समाच्छन्नपरिसर
इत्यर्थः, यदुक्तं—“मायाजबनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः” इति ।
मायामूढोऽयं लोकोऽति-मानुषदैवतप्रभावं विधिरुद्रादिबन्धित-
मपि मां नाभिजानाति । कीदृशम् ? अजं जन्मशून्यं यतो-
ऽव्ययमप्रच्युतस्वरूपसामर्थ्यसार्वज्ञ्यादिकमित्यर्थः ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥ २३ ॥

सारा०ब०—किञ्च मायायाः स्वाश्रयव्यामोहकत्वाभावाद्-
बहिरङ्गा माया, अन्तरङ्गा योगमाया च मम ज्ञानं नावृणो-
तीत्याह—वेदाहमिति । मान्तु कश्चन प्राकृतोऽप्राकृष्ट लोको
महारुद्रादिर्महासर्वज्ञोऽपि न कार्त्स्न्येन वेद, यथायोगं मायया
योगमायया च ज्ञानावरणादिति भावः ॥ २६ ॥

गी०भू०—ननु मायावृतत्वात्तव जीवबद्धज्ञतापत्तिरिति चेत्-
त्राह-वेदाहमिति । न हि मदधीनया मत्तेजसाभिभूतया दूरतो
जवनिकयैव मां सेवमानया मायया मम काचिद्विकृतिरित्यर्थः ।
मान्तु वेदेति मज्ज्ञानी कोटिष्वपि सुदुर्लभ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

सारा०ब०—त्वन्मायया जीवाः कदारभ्य मुह्यन्तीत्यपेक्षया-
माह—इच्छेति । सर्गे जगत्सृष्ट्यारम्भकाले सर्वभूतानि सर्वे
जीवाः सम्मोहयन्ति, केन ? प्राचीनकर्मोद्बुद्धौ यावच्छाद्वेषौ
इन्द्रियाणामनुकूले विषये इच्छाऽभिलाषः, प्रतिकूले द्वेषः, ताभ्यां
समुत्थः समुद्भूतो यो द्वन्द्वे मानापमानयोः शीतोष्णाद्योः
सुखदुःखयोः स्त्रीपुंसयोर्मोहः ‘अहं सम्मानितः सुखी’ अहम-
बमानितो दुःखी, ममेयं स्त्री, ममायं पुरुषः—इत्याद्याकारक
आविद्यको यो मोहस्तेन सम्मोहं स्त्रीपुत्रादिष्वत्यन्तासक्तिं प्राप्नु-
वन्ति, अतएवात्यन्तासक्तानां न मद्भक्तावधिकारः, यदुद्धवं प्रात
मयैव वक्ष्यते—“यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥” इति ॥ २७ ॥

गी०भू०—त्वज्ज्ञानी कुतः सुदुर्लभस्तत्राह—इच्छेति । सर्गे
स्वोत्पत्तिकाले एव सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति । केनेत्याह—द्वन्द्व-
मोहेनेति । मानापमानयोः सुखदुःखयोः स्त्रीपुरुषयोर्द्वन्द्वैर्यो
मोहः सत्कृतोऽहं सुखी स्यामसत्कृतस्तु दुःखी ममेयं पत्नी ममायं
पतिरित्येवमभिनिवेशलक्षणस्तेनेत्यर्थः । कीदृशेनेत्याह—इच्छेति—
पूर्वजन्मनि यत्र यत्र यावच्छाद्वेषावभूतां ताभ्यां संस्कारात्मना
स्थिताभ्यां समुत्तिष्ठति परजन्मनि तत्र तत्रोत्पद्यत इत्यर्थः । इच्छा
रागः, एवं सर्वेषां भूतानां समूढत्वान्मज्ज्ञानी सुदुर्लभः ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

सारा०ब०—तर्हि केषां भक्तावधिकार इत्यत आह—येषां
पुण्यकर्मणां पापं त्वन्तं गतमन्तकालं प्राप्तं नश्यदवस्थम्,
न तु सम्यक् नष्टमित्यर्थः । तेषां सत्त्वगुणोद्रेके सति तमो-
गुणहासः । तस्मिन् सति तत्कार्यो मोहोऽपि ह्रसति । मोहहासे

सति ते खल्वत्यासक्तिरहिता यादृच्छिकमद्भक्तसङ्गेन भजन्ते
मात्रम् । ये तु भजनाद्यभ्यासतः सन्यक् नष्टपापास्ते मोहेन
निःशेषेण मुक्ता दृढव्रताः प्राप्तनिष्ठाः सन्तो मां भजन्ते । न
चैवं पुण्यकर्मैव सर्वविधाया भक्तेः कारणमिति मन्तव्यम्,
“सन्न्यासादेर्न सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्या-स्वाध्याय-
सन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥” इति भगवदुक्तेः । केवल-
भक्तियोगस्य पुण्यादिकर्मश्रियं नैव कारणमिति बहुशः प्रति-
पादनात् ॥ २८ ॥

गी०भू०—ननु केषाञ्चित् त्वद्भक्तिः प्रतीयते सा न स्यात्
सर्वभूतानि सर्गे संमोहं यान्तीत्युक्तेरिति चेत्तत्राह-येषां
प्राणिनां यादृच्छिकमहत्तमदृष्टिपातात् पापमन्तगतं नाशं प्राप्तम-
भूत्—“विष्णोर्भूतानि भूतानां पावनाय चरन्ति हि” इति स्मृतेः ।
कीदृशानामित्याह-पुण्येति । पुण्यं मनोज्ञं कर्म महत्तमबीक्षण-
रूपं येषां—“पुण्यं तु चाव्वेपि” इत्यमरः । ते दृढव्रता महत्प्रसङ्ग-
प्राप्तनिष्ठा द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ता मत्तात्त्वज्ञाः सन्तो मां भजन्ते ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

सारा०ब०—तदेवमार्त्ताद्यास्त्रयः सकामा मां भजन्तः कृतार्था
भवन्तीति । देवतान्तरं भजन्तस्तु च्यवन्त इत्युक्त्वा स्वस्या-
भजनेऽप्यधिकारिणश्चोक्ता भगवता । इदानीमन्यः सकामः
चतुर्थोऽपि मद्भक्तोऽस्तीत्याह—जरेति । जरामरणयोर्मोक्षाय
नाशाय ये योगिनो यतन्ति यतन्ते, ते मोक्षकामा मां भजन्तीति
फलितोऽर्थः, ते तत्प्रसिद्धं ब्रह्म तथा कृत्स्नमात्मानं देहमधिकृत्य
भोक्तृतया वर्त्तमानमध्यात्मं जीवात्मानमाखिलं कर्म च नाना-
विधकर्मजन्यं जीवस्य संसारञ्च मद्भक्तिप्रभावादेव विदुर्जा-
नन्ति ॥ २९ ॥

गी०भू०—तदेवमार्त्तादयः सकामा मद्भक्ताः कामाननुभूयान्ते
मां प्रपद्य बिन्दन्ति मदन्यदेवभक्तास्तु संसरन्तीत्युक्तम् । अथ
तेभ्योऽन्योऽपि सकामो मद्भक्तोऽस्तीत्युच्यते—जरेति—ये जराम-
रणाभ्यां विमोक्षाय तन्मात्रकामाः सन्तो मामाश्रित्य मदर्चा
सेवित्वा यतन्ते—तत्प्रणामादि कुर्वन्ति, ते तत् प्रसिद्धं ब्रह्म
कृत्स्नं सपरिकरं बिदुरध्यात्मं चाखिलं कर्म च विदुः । ब्रह्मादि-
शब्दानामधिभूतादिशब्दानाञ्चार्थाः परस्मिन्नध्याये भगवतैव
व्याख्यास्यन्ते । मदर्चा-सेवया विज्ञेयं विज्ञाय मुक्तिं लभन्ते, न
तु मद्दृश्यताकरीं मत्प्रियतामित्यर्थः । स्मृतिश्चैवमाह—“सकृद्य-
दङ्ग प्रतिमान्तराहिता मनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम्”
इत्याद्या ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्मुक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंवादे ज्ञान-विज्ञान-योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।



सारा०ब०—मद्भक्तिप्रभावाद्येषामीदृशं मज्ज्ञानं स्यात्तेषा-
मन्तकालेऽपि तदेव ज्ञानं स्यात्, न त्वन्येषामिव कर्मोपस्थापिता
भाविदेहप्राप्तचनुरूपा मतिरित्याह—साधिभूतेति । अधिभूता-
दयोऽग्निमाध्याये व्याख्यास्यन्ते । भक्ता एव हरेस्तत्त्वविदो
मायां तरन्ति, ते चोक्ताः षड्विधा अत्रेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ ३० ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु सप्तमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी०भू०—न च तत्सेवया प्राप्तं तज्ज्ञानं कदाचिदपि भ्रंशे-
तेत्याह—साधीति । अधिभूतेनाधिदैवेनाधियज्ञेन च सहितं मां
ये बिदुः सत्प्रसङ्गाज्ज्ञानन्ति, ते प्रयाणकाले मृत्युसमयेऽपि मां
बिदुर्न तु तदन्यबद्धयथाः सन्तो मां विस्मरन्तीत्यर्थः ॥३०॥

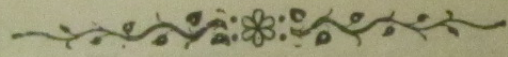
मां बिदुस्तत्त्वतो भक्ता मन्मायामुत्तरन्ति ते ।

ते पुनः पञ्चधेत्येष सप्तमस्य विनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये सप्तमोऽध्यायः ।



अष्टमोऽध्यायः



अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

सारा०ब०—पार्थप्रश्नोत्तरं योगं मिश्रां भक्तिं प्रसङ्गतः ।

शुद्धाश्च भक्तिं प्रोवाच द्वे गती अपि चाष्टमे ॥ (१)

पूर्वार्धाध्यायान्ते ब्रह्मादिसप्तपदार्थानां ज्ञानं भगवतोक्तम् ।
अत्र तेषां तत्त्वं जिज्ञासुः पृच्छति द्वाभ्याम्—अत्र देहे कोऽधियज्ञो
यज्ञाधिष्ठाता, स चास्मिन् देहे कथं ज्ञेय इत्युत्तरस्यानुषङ्गी ॥१-२॥

गी०भू०—उक्तान् पृष्टः क्रमाद्व्याख्यद्ब्रह्मादीन् हरिरष्टमे ।

योगमिश्राश्च शुद्धाश्च भक्तिमार्गद्वयं तथा ॥

गी०भू०—पूर्वार्धाध्यायान्ते मुमुक्षुणां ज्ञेयतयोद्दिष्टान् ब्रह्मादीन्
सप्तार्थान् विबोद्धुमर्जुनः पृच्छति—किं तद्ब्रह्मेति—किं पर-
मात्मचैतन्यं वा, किं जीवात्मचैतन्यं वा तद्ब्रह्मेत्यर्थः । किम-
ध्यात्ममिति—आत्मानं देहमधिकृत्येति निरुक्तेः, श्रोत्रादीन्द्रिय-
वृन्दं वा सूक्ष्मभूतवृन्दं वा तदिति । किं कर्मेति—लौकिकं
वैदिकं वा तदिति । आवयोस्तौल्यात् किमिति मां पृच्छसीति
शङ्कां निवर्त्तयितुं सम्बोधनं—हे पुरुषोत्तमेति, परेशत्वात्तव
सर्वं सुविदितं, न तु ममेति भावः । अधिभूतञ्च किमिति—भूता-
न्यधिकृत्येति निरुक्तेर्घट्यादिकार्यं वा स्थूलशरीरं वा तदिति ।
अधिदैवं किमिति—देवताविषयकमनुष्ठानं वा समष्टिबिराट् वा
तदिति ॥१॥

गी०भू०—अधियज्ञः क इति—यज्ञमधिगत इन्द्रादिर्बा
बिष्णुर्बा स इति, कथमिति तस्याधियज्ञभावः कथमित्यर्थः ।
एतत् सर्वं मत्सन्देहनिवारणं तवेषत्करमिति बोधयितुं सम्बो-
धनं—हे मधुसूदनेति । प्रयाणेति—तदा सर्वेन्द्रियव्यग्रतया
चित्तासमाधानासम्भवादिति भावः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

सारा०ब०—उत्तरमाह—अक्षरमिति । न क्षरतीत्यक्षरं नित्यं
यत् परमं तद्ब्रह्म—“एतद्वे तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति”
इति श्रुतेः । स्वभावः स्वमात्मानं देहाध्यासबशाद्भावयति जनय-
तीति स्वभावो जीवः, यद्वा स्वं भावयति परमात्मानं प्रापय-
तीति ‘स्वभावः’ शुद्धजीवोऽध्यात्ममुच्यते—अध्यात्म-शब्दबाच्य
इत्यर्थः । भूतैरेव भावानां मनुष्यादिदेहानामुद्भवं कसेतीति स

विसर्गो जीवस्य संसारः कर्मजन्यत्वात् कर्मसंज्ञः, कर्मशब्देन जीवस्य संसार उच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवान् क्रमेण सप्तानामुत्तरमाह—
अक्षरमिति । न क्षरतीति निरुक्तेरक्षरं यत् परमं देहादिबिम्बितं
जीवात्मचैतन्यं तन्मया ब्रह्मेत्युच्यते । तस्याक्षरशब्दत्वं ब्रह्मशब्द-
त्वञ्च—“अव्यक्तमक्षरे लीयतेऽक्षरं तमसि लीयते तम एकी-
भवति पश्मिन्निति विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इति च श्रुतेः । स्वभाव
इति—स्वस्य जीवात्मनः सम्बन्धी यो भावो भूतसूक्ष्मतद्भासना-
लक्षणपदार्थः । पञ्चाग्निविद्यायां पठितस्तदात्मनि संवध्यमान-
त्वान्मयाध्यात्ममुच्यते । भूतेति—तेषां सूक्ष्माणां भूतानां स्थूलैस्तैः
संपृक्तानां भावो मनुष्यादिलक्षणस्तदुद्भवकरस्तदुत्पादको यो
विसर्गः स कर्मसंज्ञितः—ज्योतिष्टोमादिकर्मणा स्वर्गमासाद्य
तस्मिन् देवदेहेन तत्कर्मोपभुज्यमाणसंक्रान्तधृतशेषबद्धोगोर्व-
रितो यः कर्मशेषो भुवि मनुष्यादि-देहलाभाय विसृष्टस्तन्मया
कर्मोच्यते । छान्दोग्ये—य पृथ्वी पृथिवी पुरुषयोषित्सु पञ्च-
स्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतांसि क्रमान् पञ्चाहुतयः पठ्यन्ते ।
तत्रायमर्थः—वैदिको जीव इहलोकेऽस्मयानि दध्यादीनि श्रद्धया
जुहोति । ता दध्यादिमयः पञ्चीकृतत्वात् पञ्चभूतरूपा आपः
श्रद्धया हुतत्वात् श्रद्धारूपाहुतित्वरूपेण तस्मिन् जीवे संवद्धा-
स्तिष्ठन्ति—अथ तस्मिन् मृते तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्ता-
द्युलोकाग्नौ जुह्वति । तद्वन्तं जीवं दिवं नयन्तीत्यर्थः । हुतास्ताः
सोमराजाख्य-दिव्यदेहतया परिणमन्ते, तेन देहेन स तत्र कर्म-
फलानि भुङ्क्ते । तद्भोगावसानेऽस्मयो जीववान् देहैस्तैर्देवैः
पर्जन्याग्नौ हुतो वृष्टिर्भवति । वृष्टिभूतास्ताः सजीवाः पृथिव्यग्नौ
तैर्हुता ब्रीह्याद्यन्नभावं लभन्ते । अन्नभूताः सजीवास्ताः पुरु-
षाग्नौ हुता रेतोभावं भजन्ते । रेतोभूताः संजीवास्ता योषिदग्नौ

तैर्हुता गर्भात्मना स्थिता मनुष्यभावं प्रयान्तीति तद्भावहेतु-
रनुशयशब्दवाच्यः कर्मशेषः कर्मेति । एवमेवोक्तं सूत्रकृता-
“तदन्तरप्रतिपत्तौ” इत्यादिभिः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

सारा०ब०—क्षरो नश्वरो भावः पदार्थो घटपटादिरधि-
भूतमधिभूतशब्दवाच्यः, पुरुषः समष्टिबिराडधिदैवतमधिदैवत-
शब्दवाच्यः—“अधिकृत्य वर्त्तमानानि सूर्यादिदैवतानि यत्र”
इति तन्निरुक्तेः । अत्र देहेऽधियज्ञो यज्ञादिकर्मप्रवर्त्तको-
ऽन्तर्याम्याहं मदंशकत्वादहमेवेत्येव-कारेण कथं ज्ञेय इत्यस्यो-
त्तरमन्तर्यामित्वेऽहमेव, मदभिन्नत्वे नैव ज्ञेयो न त्वध्यात्मादि-
रिव मद्भिन्नत्वेनेत्यर्थः । देहे देहभृतां वरेति त्वन्तु साक्षान्मत्-
सखत्वात् सर्वश्रेष्ठ एव भवसीति भावः ॥ ४ ॥

गी०भू०—अधीति । क्षरः प्रतिक्षणपरिणामी भावः स्थूलो
देहः स मयाधिभूतमित्युच्यते—भूतं प्राणिनमाधिकृत्य भवतीति
व्युत्पत्तेः । पुरुषः समष्टिबिराट् स मयाधिदैवमित्युच्यते—अधि-
कृत्य वर्त्तमानान्यादित्यादीनि दैवतान्यत्रेति व्युत्पत्तेः । अत्र
देहेऽधियज्ञो-यज्ञमधिकृत्य वर्त्तत इति व्युत्पत्तेस्तत्प्रवर्त्तकस्तत्फल-
प्रदश्चाहमेव । प्रत्याख्येयानि तु स्वयमेवोद्धारानि । एव कारेण स्व-
स्मात्तस्य भेदो निराकृतः । अनेन ‘कथम्’ इत्यस्याप्युत्तरमुक्तं—
प्रादेशमात्रबपुस्त्वेनान्तर्नियमयन्नहं यज्ञादिप्रवर्त्तक इत्यर्थः । तथा
च मदर्चासेवनादेतान् ब्रह्मादीन् सप्तार्थान् स्वरूपतोऽश्रमेण बिन्द-
तीति ; तत्र ब्रह्माधियज्ञौ प्राप्यतयाध्यात्मादीनि तु हेयतयेति ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—
अन्तकाले चेति । मामेव स्मरन्निति मत्स्मरणमेव मज्ज्ञानम्,
न तु घटपटादिरिबाहं केनापि तत्त्वतो ज्ञातुं शक्य इति भावः ।
स्मरणरूपज्ञानस्य प्रकारस्तु चतुर्दशश्लोके ब्रूयते ॥ ५ ॥

गी०भू०—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—अन्तेति—
अत्र स्मरणान्मकेन ज्ञानेन ज्ञेयो भवन्मद्भावोपलम्भनञ्च तत्फलं
प्रयच्छामीत्युक्तम् । तत्र मद्भावं मत्स्वभावमित्यर्थः । यथाहमप-
हृतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविंशष्टस्वभावस्तादृशः स मत्स्मर्त्ता
भवतीति ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

सारा०ब०—मामेव स्मरन्मां प्राप्नोतीतिबन्मदन्यमपि
स्मरन्मदन्यमेव प्राप्नोतीत्याह—यं यमिति । तस्य भावेन भावने-
नानुचिन्तनेन भावितो बासितस्तन्मयीभूतः ॥ ६ ॥

गी०भू०—न च मत्स्मर्त्तौव मद्भावं यातीति नियमः, किन्त्व-
न्यस्मर्त्ताप्यन्यभावं यातीत्याह—यं यमिति । भावं पदार्थम् ; तं
तमेव भावदेहत्यागोत्तरमेवैति—यथा भरतो देहान्ते मृगं चिन्त-
यन् मृगोऽभूत् । अन्तिमस्मृतिश्च पूर्वस्मृतविषयैव भवतीत्याह—
सदेति । तद्भावभावितस्तत्स्मृतिवासिताचक्षाः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्यस्व ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

सारा०ब०—मनः सङ्कल्पकात्मकम्, बुद्धिर्व्यवसायात्मिका ॥ ७ ॥

गी०भू०—यस्मात् पूर्वस्मृतिरेवान्तिमस्मृतिहेतुस्तस्मात् त्वं
सर्वेषु कालेषु प्रतिक्षणं मामनुस्मर युध्यस्व च लोकसंग्रहाय

युद्धादीनि स्वोचितानि कर्माणि कुरु । एवं मय्यर्पितमनो-
बुद्धिस्त्वं मामेवैष्यसि, न त्वन्यदित्यत्र सन्देहस्ते माभूत् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

सारा०ब०—तस्मात् स्मरणाभ्यासिन एवान्तकाले स्वतएव
मत्स्मरणं भवति, तेन च मां प्राप्नोतीत्यतश्चेतसो मत्स्मरणमेव
परमो योग इत्याह—अभ्यासयोग इति । अभ्यासो मत्स्मरणस्य
पुनः पुनरावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेन चेतसा, अतएव नान्यं
विषयं गन्तुं शीलं यस्य तेन, स्मरणाभ्यासेन चित्तस्य स्व-
भावविजयोऽपि भवतीति भावः ॥ ८ ॥

गी०भू०—सार्चर्वादि की स्मृतिरेवान्तिमस्मृतिकरीत्येवं द्रढयति—अ-
भ्यासेति । अभ्यासः स्मरणावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेनातएवानन्य-
गामिना, ततोऽन्यत्राचलता तदेकाग्रेण चेतसा दिव्यं पुरुषं परमं
सश्रीकं नारायणं बासुदेवमनुचिन्तयन् तमेव कीटभृङ्गन्यायेन
तत्तुलाः सन् याति लभते ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

श्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

सारा०ब०—योगाभ्यासं बिना मनसो विषयग्रामान्निवृत्ति-

दुर्घटा, यच्च बिना सातत्येन भगवत्स्मरणमपि दुर्घटमिति युक्तम् । केनचित् योगाभ्यासेन सहितैव भक्तिः क्रियत इति तां योगमिश्रां भक्तिमाह—कविमिति पञ्चभिः । कविं सर्वज्ञं सर्वज्ञोऽप्यन्यः सनकादिः सार्वकालिको न भवत्यत आह—पुराण-मनादि सर्वज्ञोऽनादिरप्यन्तर्गामी स भक्त्युपदेष्टा न भवत्यत आह—अनुशासितारम्, कृपया स्वभक्तिशिक्षकं कृष्णरामादि-स्वरूपमित्यर्थः । तादृशकृपालुरपि सुदुर्विज्ञेयतत्त्व एव इत्याह—अणोः सकाशादप्यणीयांसम् । तर्हि स किं जीव इव परमाणु-प्रमाणस्तत्राह—सर्वस्य धातारं सर्ववस्तुमात्रधारकत्वेन सर्व-व्यापकत्वात् परं महापरिमाणमपीत्यर्थः, अतएवाचिन्त्यरूपम् । पुरुषविधत्वेन मध्यमपरिमाणमपि तस्यानन्यप्रकाश्यत्वमाह—आदित्यवर्णमादित्यवत् स्वपरप्रकाशको वर्णः स्वरूपं यस्य, तथा तमसः प्रकृतेः परस्तात् वर्त्तमानं मायाशक्तिमन्तमपि मायातीतस्वरूपमित्यर्थः । प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेन निश्चलेन मनसा या सततस्मरणमयी भक्तिस्तया युक्तः । कथं मनसो नैश्चल्यम् ? अत आह—योगस्य योगाभ्यासस्य बलेन । योग-प्रकारं दर्शयति—भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे ॥ ६-१० ॥

गी०भू०—योगादृते चेतसोऽनन्यगामिता दुष्करेति योग-मिश्रां भक्तिमाह—कविमत्यादिभिः पञ्चभिः । कविं सर्वज्ञम्, अनुशासितारं रघुनाथादिरूपेण हितोपदेष्टारम् ; अणोरणीयांसं तेन चाणुमपि जीवमन्तः प्रविशतीति सिद्धम् ; आह चैवं श्रुतिः—“अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्” इति । अणीयसोऽपि तस्य व्याप्तिमाह—सर्वस्येति । कृत्स्नस्य जगतो धातारं धारकम्, ननु कथमेवं संगच्छते तत्राह—आचिन्त्यरूपमवितर्क्यस्वरूपं “एकमेव ब्रह्म पुरुषविधत्वेन मध्यमपरिमाणमणोरणीयांसम्” इत्युक्तेः, “परमाणुपरिमाणं सर्वस्य धातारम्” इत्युक्तेः, “परं महापरि-

माणं” चेति ; नात्र युक्तेरवकाशः । स्वप्रकाशतामाह—आदि-त्येति सूर्यवत् स्वपरप्रकाशकमित्यर्थः । मायागन्धास्पर्शमाह—तमस इति, तमसो मायायाः परस्तात् स्थितं—मायिनमपि माया-तीतमित्यर्थः । एतादृशं पुरुषं योऽनुक्षणं स्मरेत्, स तं परं पुरुष-मुपैति इति परेणान्वयः । यो जनो भक्त्या परमात्मप्रेमणा योगबलेन समाधिजनितसंस्कारनिचयेन च युक्तः प्रयाणकाले मरणसमयेऽचलेनैकाग्रेण मनसा तं पुरुषमनुस्मरेत् । योगप्रकार-माह—भ्रुवोरिति । भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य संस्थाप्य सम्यक् सावधानः सन् स तं पुरुषमुपैति ॥ ६-१० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सार०ब०—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य, इत्येतावन्मा-त्रोक्त्या योगो न ज्ञायते, तस्मात् तत्र योगे प्रकारः कः, किं जप्यम्, किं वा ध्येयम्, किं वा प्राप्यमित्यपि सन्देहेण ब्रूही-त्यपेक्षायामाह—यदिति त्रिभिः । यदेवाक्षरं ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्म यतयो विशन्ति, तत्पदं पद्यत गम्यते इति पदं प्राप्यम् सम्यक्तया गृह्यतेऽनेनेति संग्रहस्तदुपायस्तेन सह प्रवक्ष्ये शृणु ॥ ११ ॥

गी०भू०—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्यैतावता योगो नाव-गम्यते, तस्मात्तस्य प्रकारं तत्र जप्यं प्राप्यं ब्रूहीत्यपेक्षायामाह—यदक्षरमिति त्रिभिः । एकमेव ब्रह्म—द्विरूपं, वाचकं वाच्यञ्च त स्थितम् । तत्र वेदविदो यद्ब्रह्म अक्षरमोमिति वाचकं वदन्ति, वीतरागा विनष्टाविद्या यतयो यद्ब्रह्म तद्वाच्यभूतं विज्ञानैकरसं विशन्ति प्राप्नुवन्ति । तदुभयरूपं ब्रह्म ज्ञातुमिच्छन्तो नैष्ठिका

गुरुकुलबासादिलक्षणं ब्रह्मचर्यं चरन्ति । तत्पदं प्राप्यं संप्रहे-
मोपायेन सह प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण वक्ष्यामि-यथानायासेन त्वं तद्विद्यां
प्राप्नुयाः । “सम्यक् गृह्यते तत्त्वमनेन” इति निरुक्तेः संप्रह-
उपायः ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

मूढन्यायायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सारा०ब०—उक्तमर्थं वदन् योगे प्रकारमाह—सर्वाणि
चक्षुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य मनश्च
हृदये निरुध्य विषयान्तरेष्वसंकल्प्य मूढं भ्रुवोर्मध्ये एव
प्राणमाधाय योगधारणामानखशिखं-मन्मूर्तिभावनामाश्रितः
सन् ओमित्येकमेवाक्षरं ब्रह्मस्वरूपं व्याहरन्नुच्चारयन्, तद्वाच्यं
मामनुस्मरन्नुध्यायन् परमां गतिं मत्सालोक्यम् ॥१२-१३॥

गी०भू०—योगप्रकारमाह—सर्वेति । सर्वाणि बहिर्ज्ञान-
द्वाराणि श्रोत्रादीनि संयम्य शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य
दोषदर्शनाभ्यासेन तद्विमुखैस्तैस्तान् गृह्णन् श्रोत्रादिसंयमेऽपि
मनः प्रचरेदित्यत आह—हृदि स्थिते मयि अन्तर्ज्ञानद्वारं मनो
निरुध्य निवेश्य मनसापि तान् स्मरन् । अथ क्रियाद्वारं प्राणश्च
मूढन्यायायादौ हृत्पद्मे बशीकृत्य तस्माद्दूर्ध्वगतया सुषुम्नया
गुरूपदिष्टवर्त्मना भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि ब्रह्मरन्ध्रे
च संस्थाप्य आत्मनो मम योगधारणामापादशिखं मद्भावन-
मास्थितः कुर्वन् । ओमिति वाचकं ब्रह्म, तत्र व्याहरन् अन्त-
रुच्चारयन् ; तत् स्तौति-एकाक्षरमिति । एकं प्रधानञ्च तदक्षरम-

बिनाशि चेति तथा तद्वाच्यं मां परमात्मानमनुस्मरन् ध्यायन्
यो देहं त्यजन् प्रयाति, स परमां गतिं मत्सलोकतां याति ॥१२-१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तभ्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

सारा०ब०—तदेवं ‘आर्त्ताः’ इत्यादिना कर्ममिश्राम्, जरा-
मरणमोक्षाय’ इत्यनेनापि कर्ममिश्राम्, ‘कवि पुराणम्’ इत्यादि-
भिर्योगमिश्राञ्च सपरिकरां प्रधानीभूतां भक्तिमुक्त्वा सर्वश्रेष्ठां
निर्गुणां केवलां भक्तिमाह—अनन्यचेता इति । न विद्यते-
ऽन्यस्मिन् कर्मणि ज्ञानयोगे बानुष्ठेयत्वेन, तथा देवतान्तरे
वाराध्यत्वेन, तथा स्वर्गापवर्गादावपि प्राप्यत्वेन चेतो यस्य ।
सततं सदेति कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यनपेक्षतयैव नित्यशः प्रतिदिन-
मेव यो मां स्मरति, तस्य तेन भक्तेनाहं सुलभः सुखेन लभ्यः ।
योगज्ञानाभ्यासादिदुःखमिश्रणाभावादिति भावः । नित्ययुक्तस्य
नित्य-मद्योगाकाङ्क्षिण आशंसायां भूतबन्धेति भाविन्यपि
योग आशंसिते क्त-प्रत्ययः । योगिनो भक्तियोगवतः, यद्वा योग-
सम्बन्धो दास्यसख्यादिस्तद्वतः ॥ १४ ॥

गी०भू०—एवंमोक्षमात्रकाङ्क्षिणां योगमिश्रां भक्तिमुपदिश्य स्व-
ज्ञानिनां स्वमेवाकाङ्क्षतामेकभक्तिरित्युक्तां शुद्धां भक्तिं उप-
दिशति—अनन्येति-यो जनोऽनन्यचेता न मत्तोऽन्यस्मिन् कर्म-
योगादिके साधने स्वर्गमोक्षादिके साध्ये वा चेतो यस्य स मदे-
काभिलाषवान् सततं सर्वदा देशकालादिबिशुद्धिनैरपेक्षेण
नित्यशः प्रत्यहं मां यशोदास्तनन्धयं नृसिंहरघुनाथादिरूपेण
बहुधाविभूतं सर्वेश्वरमतिमात्रप्रियं स्मरत्यर्चनजपादिष्वनु-
सन्धत्ते, तस्याहं तत्प्रीतिज्ञः सुलभः सुखेन लभ्यः कर्मानुष्ठा-
नयोगाभ्यासादिदुःखसम्पर्काभावात् । तस्येति—“सम्बन्धसा-

मान्ये षष्ठी", "न लोकाव्यय" इत्यादिना कर्त्तारि तस्याः प्रति-
षेधात् । तादृशस्य तस्य वियोगमसहिष्णुरहमेव तमात्मानं दर्श-
यामि तत्साधनपरिपाकं तत्प्रतिकूलनिरासञ्च कुर्वन् । श्रुतिश्चैव-
माह—"यमेवैष बृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा बिबृणुते तनू-
स्वाम्" इति ; स्वयञ्च ब्रूयति—"ददमि बुद्धियोगं तं येन मामुप-
यान्ति ते" इत्यादिना । कीदृशस्येत्याह—नित्येति सर्वदा मद-
योगं बाञ्छतः—"आशंसायां भूतवच्च" इति सूत्रादाशंसिते योगे
भविष्यत्यपि क्तप्रत्ययः ; योगिनो महास्यसख्यादिसम्बन्ध-
वतः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

सारा०ब०—त्वां प्राप्तवतस्तस्य किं स्यादित्याह—मामिति । दुःखा-
लयं दुःखपूर्णं अशाश्वतम् अनित्यञ्च जन्म नाप्नुवन्ति, किन्तु सुख-
पूर्णं जन्म मज्जन्मतुल्यं प्राप्नुवन्ति, "शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यः सदा-
तनः सनातनः" इत्यमरः । यदा वसुदेवगृहे सुखपूर्णं नित्यभूतम्
अप्राकृतं मज्जन्म भवेत्तादेव तेषां मद्भक्तानामपि मात्रित्यसिद्धिनां
जन्म स्यान्नान्यदा इति भावः । परमामिति अन्ये भक्ताः
संसिद्धिं प्राप्नुवन्ति अनन्यचेतसस्तु परमां संसिद्धिं मल्लीला-
परिकरतामित्यर्थः । तेनोक्तलक्षणेभ्यः सर्वभक्तेभ्यो दृश्य-श्रैष्ठ्यं
द्योतितम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—तां लब्धवतः किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—
मामिति । मामुक्तलक्षणमुपेत्य प्राप्य पुनः प्रपञ्चे जन्म नाप्नु-
वन्ति नावर्त्तन्ति इत्यर्थः । कीदृशं जन्मेत्याह—दुःखालयं गर्भ-
बासादबहुक्लेशपूर्णम् ; अशाश्वतमनित्यं दृष्टनष्टप्रायम्—"शाश्व-
तस्तु ध्रुवो नित्यः" इत्यमरः । यतस्ते परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं

गतिं मामेव गता लब्धवन्तः—'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः
परमां गतिम्' इति ब्रूयति । कीदृशास्ते महात्मानोऽत्युदारमनसः
विज्ञानानन्दनिधिं भक्तप्रसादाभिमुखं भक्तायत्तसर्वस्वं मां विना-
न्यत् साष्टर्चादिकमगणयन्तो मदेकजीवातवो भवन्त्यतस्ते मामेव
संसिद्धिं गताः । अत्रानन्यचेतसोऽस्य स्वैकान्तिनः स्वनिष्ठेभ्यः
स्वभक्तेभ्यः श्रैष्ठ्यमुच्यते ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कोन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

सारा०ब०—सर्वे एव जीवा महासुकृतिनोऽपि जायन्ते
मद्भक्तास्तु तद्वन्न जायन्त इत्याह—आब्रह्मेति । ब्रह्मणो भुवनं
सत्यलोकस्तर्माभव्याप्य ॥ १६ ॥

गी०भू०—मद्विमुखास्तु कर्मविशेषैः स्वर्गादिलोकान् प्राप्ता
अपि तेभ्यः पतन्तीत्याह—आब्रह्मेति । अभिविधावाकारः, ब्रह्म
भुवनं व्याप्येत्यर्थः । ब्रह्मलोकेन सह सर्वे स्वर्गादयो लोकास्त-
त्तद्वर्त्तिनो जीवास्तत्तत्कर्मक्षये सति पुनरावर्त्तिनो भूमौ पुन-
र्जन्म लभन्ते । मामुपेत्येति पुनः कथनं दृढीकरणार्थम् । अत्रेदं
बोध्यं—पञ्चाग्निविद्यया महाहवमरणादिना ये ब्रह्मलोकं गता-
स्तेषां भोगान्ते पातः स्यात् ; ये तु सनिष्ठाः परेशभक्ताः स्वर्गा-
दिलोकान् क्रमेणानुभवन्तस्तत्र गतास्तेषां तु न तस्मात् पातः,
किन्तु तल्लोकविनाशो तत्पातिना सह परेशलोकप्राप्तिरेव—"ब्रह्मणा
सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रवि-
शन्ति परं पदम् ॥" इति स्मरणादिति ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सारा०ब०--ननु "अमृतं क्षेममभयं त्रिमुद्घोर्धोऽध्यायि मूर्धसु" इति (भा २ । ६ । १६) द्वितीतस्कन्धोक्त्या, केषाञ्चिन्मते ब्रह्मलोकस्य अभयत्वश्रवणात्, सन्न्यासिभिरपि जिगमिषितत्वात् तत्रत्यानां पातो न सम्भाव्यते ? मैवम्, तल्लोकस्वामिनो ब्रह्मणोऽपि पातः स्यात् किमुतान्येषाम् इति व्यञ्जयन्नाह--सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणोऽहर्दिनं यद्ये शास्त्राभिज्ञा बिदुर्जानन्ति, तेऽहोरात्रविदो जनाः रात्रिमपि तस्य युगसहस्रान्तां विदुः । तेन तादृशाहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणः परमायुरिति । एतदन्ते तस्यापि पातो न कस्यचिद्वैष्णवस्य, तस्य ब्रह्मणो मोक्षश्चेति व्यञ्चितम् ॥ १७ ॥

गी०भू०--स्वर्गादयः सत्यान्ताः सर्वे लोकाः कालपरिच्छिन्नत्वाद्बिन्श्यन्तीति भावेनाह-सहस्रेति । यद्ये ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्याहर्दिनं नृमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं विदुः--"चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति स्मृतेः । सहस्रं चतुर्युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत्, तस्य रात्रिश्च चतुर्युगसहस्रान्तां विदुस्त एव योगिनो जना अहोरात्रविदो भवन्ति ; न त्वन्ये चन्द्रार्कगतिविदो महर्लोकादिस्थितानामुपलक्षणमेतत् । अयमर्थः--नृणां वर्षं देवानामहोरात्रं तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिगणनया द्वादशभिर्वर्षसहस्रैश्चतुर्युगं चतुर्युगानां सहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनं रात्रिश्च तावत्येव तादृशैश्चाहोरात्रैः पक्षादिगणनया वर्षशतं तस्य परमायुरिति ; तदन्ते तल्लोकस्य तद्वर्तिनाश्च विनाशादावृत्तिः सिद्धेति ॥ १७ ॥

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सारा०ब०--ये तु ततोऽर्वाचीनास्त्रिलोकस्थास्तेषास्तु तस्या-

हन्यहन्यपि पात इत्याह-अव्यक्तादिति । "अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोराकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देन स्वापापरस्थः प्रजापतिरवोच्यते" इति मधुसूदनसरस्वतीपादाः ततश्च अव्यक्तात् स्वापापरस्थात् प्रजापतेः सकाशादव्यक्तयः शरीरविषयादिरूपा भोगभूमयो भवन्ति व्यवहारक्षमाः स्युः । राज्यागमे तस्य स्वापकाले प्रलीयन्ते तस्मिन्नेव तिरोभवन्ति ॥ १८ ॥

गी०भू०--ये तु तस्मादर्वाचीनास्त्रिलोकीवर्तिनस्तेषां ब्रह्मणो दिने पातः स्यादित्याह-अव्यक्तादिति । अहरागमे ब्रह्मणो जागरसमये अव्यक्तात् स्वापावस्थात् तस्मात् सर्वाः शरीरेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपा व्यक्तयः प्रभवन्तुत्पद्यन्ते । राज्यागमे तस्य स्वापसमये तत्रैव ब्रह्मण्यव्यक्तसंज्ञके स्वापावस्थे कारणे ताः प्रलीयन्ते तिरोभवन्ति । अत्राव्यक्त-शब्देन प्रधानं नाभिधेयं--दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोरुपक्रमात्, तदा विषयादीनां स्थितत्वाच्च ; किन्तु स्वापावस्थो ब्रह्मैव तस्यार्थः ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

सारा०ब०--एवमेव भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहः ॥ १९ ॥

गी०भू०--ये प्रलीनास्ते पुनर्न भविष्यन्तीति कृतहान्याकृताभ्यागमशङ्का स्यात्तां निरस्यन्नाह-भूतेति । भूतग्रामः स्थिरचरप्राणिसमूहोऽवशः कर्माधीनः सन् तथा चेदृशजन्ममृत्युप्रवाहसङ्कुले प्रपञ्चेऽस्मिन् बिबेकिनां वैराग्यं युक्तमित्युक्तम् ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

सारा०ब०--तस्मादुक्तलक्षणादव्यक्तात् प्रजापतेर्हिरण्यगर्भात्

सकाशात् परः श्रेष्ठः । हिरण्यगर्भस्यापि कारणभूतो योऽन्यः
खल्वव्यक्तो भावः सनातनोऽनादिः ॥ २० ॥

गी०भू०—तदेवं कर्मतन्त्राणां जन्मविनाशदर्शनेन 'आब्रह्म-
भुवनात्' इत्येतद्विवृतम् । अथ मामुपेत्यैतद्विवृणोति—परस्तस्मा-
दिति । तस्मादुक्तरूपादव्यक्ताद्ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादन्यो यो
भावः पदार्थः परः श्रेष्ठस्ततोऽत्यन्तबिलक्षणस्तस्योपास्य इत्यर्थः ।
अतिवैलक्षण्यमाह—अव्यक्त इति, आत्माविप्रहृत्वात् प्रत्यक् इत्यर्थः,
प्रसादितस्तु प्रत्यक्षोऽपि भवतीत्युक्तं प्राक् । सनातनोऽनादिः,
स खलु हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु सर्वेषु भूतेषु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

सारा०ब०—पूर्वश्लोकोक्तमव्यक्तशब्दं व्याचष्टे—अव्यक्त
इति । न क्षरतीत्यक्षरो नारायणः "एको नारायण आसीन्न
ब्रह्मा न च शङ्करः" इति श्रुतेः, मम परमं धाम ब्रह्मैवमद्धाम
मत्तेजोरूपम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—ये भावो मयेहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोच्यते, तं
वेदान्ताः परमां गतिमाहुः—“पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा
परमा गतिः” इत्यादौ । यं भावं प्राप्योपेत्य जनाः पुनर्न निवर्तन्ते
जन्म नाप्नुवन्ति, स भावोऽहमेवेत्याह—तदिति । तन्ममैव धाम
स्वरूपं परमं श्रीमत्-पृथीयं चैतन्यमात्मनः स्वरूपमिति बद्ब-
गन्तव्या ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—स च मंदंशः परमः पुरुषः, न विद्यतेऽन्यत्

कर्मज्ञानयोगकामनादिकं यस्यां तयैव । अतएव पूर्वं मयोक्तम्
—‘अनन्यचेताः सततम्’ इति भावः ॥ २२ ॥

गी०भू०—तत्प्राप्तौ भक्तेः सूपायत्वमाह—पुरुषः स इति । स
मल्लक्षणः पुरुषोऽनन्यया तदेकान्तया 'अनन्यचेताः सततम्' इति
पूर्वोदितया भक्त्यैव लभ्यो लब्धुं शक्यो—योगभक्त्या तु
दुःशक्या तत्प्राप्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमाह—यस्येति । सर्वमिदं
जगत् येन ततं व्याप्तम् ; श्रुतिश्चैवमाह—“एको बशी सर्वगः
कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति बृक्ष इव स्तब्धो
दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्” इत्याद्या ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

सारा०ब०—ननु 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'
इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तास्त्वां प्राप्ता न पुनरावर्तन्ते इत्युक्तं, न
तत्र त्वत्प्राप्तौ कश्चिन्मार्गनियम इत्युक्तः, त्वद्भक्तानाञ्च गुणा-
तीतत्वात्तन्मार्गोऽपि गुणातीत एवावसीयते, न तु सार्वत्रिको-
ऽर्चिरादिः, यस्तु मार्गो योगिनो ज्ञानिनः कर्मिणश्चास्ति, तमहं
जिज्ञासे इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति । प्राणोत्क्रमणानन्तरं तत्र काले
कालोपलक्षिते मार्गे प्रयाता अनावृत्तिमावृत्तिश्च यान्ति तं कालं
मार्गं वक्ष्यामि इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

गी०भू०—स्वभक्तानामनावृत्तिः स्वविमुखानां त्वावृत्तिरुक्ता,
सा सा च केन पथा गतानां भवेदित्यपेक्षायामाह—यत्रेति ।
योगिनो भक्ताः काम्यकर्मिणश्च । अत्र 'काल'शब्देन कालाभि-
मानिनो देवताक्ता, अग्निधूमयोः कालत्वाभावात् 'काल'शब्दे-
नोक्तिस्तु भूयसा महदादिशब्दानां रात्र्यादिशब्दानाञ्च काल-
वाचित्वात् तथा चार्चिरादिभिर्धूमादिभिश्च देवैः पालितः पन्थाः

अन्द्रलोकं प्राप्य भोगक्षये सति तस्मात् पुनर्निवर्त्तन्त इति ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

सारा०ब०—उक्तौ मार्गावुपसंहरति—शुक्लकृष्णे इति । शाश्वते अनादी, संसारस्यानादित्वात्, एकया शुक्लयाऽनावृत्ति मोक्ष-मन्यया कृष्णयाऽऽवर्त्तते पुनः पुनरत्र जायते ॥ २६ ॥

गी०भू०—उक्तौ पन्थानावुपसंहरति—शुक्लेति । अर्चिरादि-गतिः शुक्ला प्रकाशमयत्वात् धूमादिका गतिः कृष्णा प्रकाश-शून्यत्वात् । गतिः पस्थाः एते गती ज्ञानकर्म्मधिकारिणो जगतः शाश्वते अनादी सम्मते तस्यानादित्वात् । स्फुटमन्यत् ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

सारा०ब०—एतन्मार्गद्वयज्ञानं विवेकोत्पादकमतस्तद्वन्तं स्तौति नैते इति । योगयुक्तः समाहितचित्तो भव ॥ २७ ॥

गी०भू०—एतयोः पथोर्बोधो विवेकहेतुर्भवतीति तं स्तौति-नैत इति । सृती पन्थानौ जानन् अर्चिरादिर्मोक्षाय धूमादि-संसारायेति स्मरन् कश्चिदपि योगी मद्भक्तो न मुह्यति—धूमादि-प्रापकं कर्म्म कर्त्तव्यत्वेन न निश्चिनोतीत्यर्थः । योगयुक्तः समाधि-निष्ठो भवपुनरावृत्ताये ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अभ्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

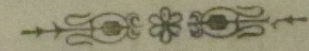
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णाञ्जुनसंवादे तारकब्रह्म-योगो नामाष्टमोऽध्यायः ।



सारा०ब०—एतदध्यायोक्तार्थज्ञानफलमाह—वेदेष्विति । तत् सर्वमत्येति, अतिक्रम्य च योगी भक्तमान्, ततोऽपि श्रेष्ठं स्थानमाद्यमप्राकृतं नित्यं प्राप्नोति ॥ २८ ॥

भक्तानां सर्वतः श्रेष्ठं पूर्वोक्तं तेष्वपि स्फुटम् ।
अनन्यभक्तस्येत्यर्थोऽत्राध्याये व्यञ्जितोऽभवत् ॥ (२)
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
श्रीगीतास्वष्टमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)



गी०भू०—सप्तमाष्टमाध्यायद्वय-ज्ञानप्रकारमाह—वेदेष्विति । वेदेषु ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषणादिविधिना सम्यगधीतेषु सर्व-ज्ञोपसंहारेण सम्यगनुष्ठितेषु, तपःसु शास्त्रोक्तेन विधिना सम्यक्-चरितेषु, दानेषु देशकालपात्रपरीक्षया श्रद्धया च सम्यग्दर्शेषु यत् पुण्यफलं स्वर्गराज्यादिलक्षणं प्रदिष्टमुक्तम् । तत् सर्वं अभ्येत्यतिक्रमति । किं कृत्वेत्याह—इदमिति । इदमध्यायद्वयोक्तं भगवतो मम मद्भक्तेः माहात्म्यं सत्प्रसङ्गेन विदित्वा तद्वेदन-सुखातिरिक्तं तत् सर्वं तृणाय मन्यत इत्यर्थः । ततो योगी मद्भक्तिमान् भूत्वाद्यमनादिपरममायिकं मत्स्थानमुपैति ॥२८॥

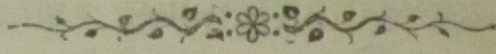
कृष्णांशः पुरुषो योगभक्त्या लभ्योऽर्चिरादिभिः ।

कृष्णस्त्वनन्यभक्त्यैवेत्यष्टमस्य विनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्येऽष्टमोऽध्यायः ।



नवमोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच--

इदं तु ते गुह्यतं प्रवयाद्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१॥

सारा०ब०--आराध्यत्वे प्रभोर्दामैरैश्वर्यं यदपेक्षितम् ।

तत्तु शुद्धभक्तेरुत्कर्षश्चोच्यते नवमे स्फुटम् ॥ (१)

कर्मज्ञानयोगादिभ्यः सकाशात् भक्तेरेव उत्कर्षः । सा च भक्तिः 'प्रधानीभूता' 'केबला' चेति सप्तमाष्टमयोरुक्तम् । तत्रापि केबलाया अतिप्रवलाया ज्ञानबदन्तःकरणशुद्ध्याद्यनपेक्षितया भक्तेः स्पष्टतया एव सर्वोत्कर्षः । तस्यामपेक्षितमैश्वर्यञ्च वक्तुं नवमोऽयमध्याय आरभ्यते । सर्वशास्त्रसार--भूतस्य गीता-शास्त्रस्यापि मध्यममध्यायाष्टकमेव (मध्यममध्यायषट्कमेव) सारम्, तस्यापि मध्यमौ नवमदशमावेव सारावित्यतोऽत्र निरूपयिष्यमाणमर्थं स्तौति-इदन्तिवति त्रिभिः । द्वितीयतृतीयाध्यायादिषु यदुक्तं मोक्षोपयोगिज्ञानं 'गुह्यम्', सप्तमाष्टमयोर्मत्प्राप्त्युपयोगि-ज्ञानम्-ज्ञायतेऽनेन भगवत्तत्त्वमिति ज्ञानं भक्ति-तत्त्वम्' गुह्यतरं, अत्र तु केवलशुद्धभक्तिलक्षणं ज्ञानं 'गुह्यतमं' प्रकर्षेणैव तुभ्यं वक्ष्यामि । अत्र तु ज्ञान-शब्देन भक्तिरवश्यं व्याख्येया, न तु प्रथमषट्कोक्तं प्रसिद्धं ज्ञानम्, परश्लोकेऽव्ययमनश्चरमिति विशेषणदानाद्गुणातीतत्वलाभाद्गुणातीता भक्तिरेव, न तु ज्ञानम्, तस्य सार्त्तिकत्वात् । 'अश्रद्धाः पुरुषा धर्मस्यास्य' इत्यग्निमश्लोके धर्मशब्देनापि भक्तिरेवोच्यते । अनसूयवेऽमत्सरायेत्यन्योऽपीदममत्सरायैवोपादिशेदिति विधि-

व्यञ्जितः । विज्ञानसहितं मदपरोक्षानुभवपर्यन्तमित्यर्थः । अशु-
भात् संसाराद्भक्तिप्रतिबन्धकादन्तरायाद्वा ॥ १ ॥

गी०भू०--भक्त्युद्दीप्तिकरं स्वस्य पारमैश्वर्यमद्भुतम् ।
स्वभक्तेश्च महोत्कर्षं नवमे हरिरुचिवान् ॥

गी०भू०--विज्ञानानन्दघनोऽसंख्येयकल्याणगुणरत्नालयः स-
र्वेश्वरोऽहं शुद्धभक्तिसुलभ इति सप्तमादिभ्यामभिधायेदानीं
भक्तेरुद्दीपकं निजैश्वर्यं तस्याः प्रभावं चाभिधास्यन्नादौ तां
स्तौति-इदमिति त्रिभिः । इदं ज्ञानं मत्कीर्त्तिनादिलक्षणभक्ति-
रूपम्-परत्र 'धर्मस्यास्य' इत्युक्तेः कीर्त्तिनादेश्चिच्छक्तिवृत्तित्वात्,
'ज्ञायतेऽनेन' इति निरुक्तेश्च, तत् किल गुह्यतमम् । द्वितीयादा-
वुपदिष्टं मदैश्वर्यज्ञानं गुह्यतरं, नवमादावुपदेश्यं तु केवलभक्ति-
लक्षणमिदं ज्ञानं गुह्यतममित्यर्थः । तच्च विज्ञानसहितं मदनु-
भवावसानं ते वक्ष्यामि । कीदृशायेत्याह-अनसूयव इति । मद्-
गुणेषु दोषारोप-रहिताय दुर्गमस्य स्वरहस्यस्यानुकम्पयोपदेशरि-
मयि निजैश्वर्यप्रख्यापनेनात्मानं प्रशंससीति दोषदृष्टिशून्याये-
त्यर्थः । तेनान्योऽप्येतदनसूयं प्रति ब्रूयादिति दशितम् । यज-
ज्ञात्वा त्वमशुभात् संसारान्मोक्षसे ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

सारा०ब०--किञ्च, इहं ज्ञानं राजविद्या, विद्या उपासना
विविधा एव भक्तयः, तासां राजा राजदन्तादित्वात् परानि-
पातः । गुह्यानां राजेति भक्तिमात्रमेवातिगुह्यं तस्य बहुविधस्या-
पि राजेत्यतिगुह्यतमं पवित्रमिदमिति सर्वपापप्रायश्चित्तात्त्वात् ।
त्वं-पदार्थज्ञानाच्च सकाशादपि पावित्र्यकरम् । अनेकजन्मसहस्र-

सञ्चितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारण-
स्याज्ञानस्य च सद्य एबोच्छेदकम्, अतः सर्वोत्तमं पावन-
मिदमेवेति मधुसूदनसरस्वतीपादाः । प्रत्यक्ष एबावगमोऽनुभवो
यस्य तत् । “भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक
एककालः । प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायो-
ऽनुधासम् ॥” इत्येकादशोक्तेः प्रतिपदमेव भजनानुरूपभगवद-
नुभवलाभात् । धर्म्यं धर्म्मादनपेतं सर्वधर्म्माकरणेऽपि सर्व-
धर्म्मसिद्धेः “यथा तरोर्मूलनिषेचनेन, तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजो-
पशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हण-
मच्युतेज्या ॥” इति नारदोक्तेः । कर्त्ता सुसुखमिति कर्म्मज्ञाना-
दाविव नात्र कोऽपि कायवाङ्मानस-क्लेशातिशयः, श्रवण-
कीर्त्तनादिभक्तेः श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारमात्रत्वादव्ययं कर्म्मज्ञाना-
दिबन्धनं नश्वरं निर्गुणत्वात् ॥ २ ॥

गी०भू०—राजविद्येति । विद्यानां शाण्डिल्यवैश्वानरदह-
रादिशब्दपूर्वार्वाणां राजा राजविद्या, गुह्यानां जीवात्मयाथात्म्या-
दिरहस्यानां राजा राजगुह्यमिदं भक्तिरूपं ज्ञानम्—“राजदन्ता-
दित्वादुपसर्जनस्य परानिपातः ।” तथात्वं प्रातिपादयितुं विशि-
नष्टि-उत्तमं पवित्रं लिङ्गदेहपर्यन्तसर्वपापप्रशमनात्, यदुक्तं
पादो—“अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् । क्रमेणैव
प्रलीयन्ते बिष्णुर्भाक्तरतात्मनाम् ॥” इति । क्रमोऽत्र पणेशतक-
वेधबद्बोध्यः । प्रत्यक्षावगमम्—अवगम्यत इत्यवगमो विषयः, स
यस्मिन् प्रत्यक्षेऽस्ति—श्रवणादिकेऽभ्यस्यमाने तस्मिन्तद्विषयः पुरु-
षोत्तमोऽहमाविर्भवामि, एवमाह सूत्रकारः—“प्रकाशश्च कर्म्मण्य-
भ्यासात्” इति । धर्म्यं धर्म्मादनपेतं गुरुशुश्रूषादिधर्म्मैर्नित्यं
पुण्यमाणम्, श्रुतिश्च—“आचार्यवान् पुरुषो वेद” इत्याद्या ।
कर्त्ता सुसुखं सुखसाध्यम्—श्रोत्रादिव्यापारमात्रत्वात् तुलसी-

पात्राम्बुचुलुकमात्रोपकरणत्वाच्च । अव्ययमविनाशि-मोक्षेऽपि
तस्यानुवृत्तेः । एवं वक्ष्यति—‘भक्त्या मामभिजानाति’ इत्यादिना,
कर्म्मयोगादिकं तु नेदृशमतोऽस्य राजविद्यात्वम्, तत्राहुः—राज्ञां
विद्या, राज्ञां गुह्यमिति राज्ञामिबोदारचेतसां कारुणिकाना-
मिव दिवमपि तुच्छीकुर्वतामियं विद्या, न तु शीघ्रं पुत्रादि-
लिप्सया देवानभ्यर्चतां दीनचेतसां कर्म्मिणाम्, राजानो हि
महारत्नादिसम्पदप्यनिह्वानाः स्वमन्त्रं यथातियत्नान्निह्वयते
तथान्यां विद्यामनिह्वाना मद्भक्ता एतामतियत्नान्निह्ववीरन्निति,
समानमन्यत् ॥ २ ॥

अश्रद्धाणाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

सारा०व०—नन्वेवमस्य धर्म्मस्यातिसुकरत्वे सति को नाम
संसारी स्यात् ? तत्राह—अश्रद्धाणाः । अस्येति कर्म्मणि षष्ठी
आर्षी । इमं धर्म्ममश्रद्धाणां शास्त्रवाक्यैः प्रतिपादितं भक्तेः
सर्वोत्कर्षं स्तुत्यर्थवादमेव मन्यमाना आस्तिक्येन न स्वीकुर्वन्ति
ये, त उपायान्तरैर्मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्यु-
व्याप्ते संसारवर्त्मनि नितरामतिशयेन वर्त्तन्ते ॥ ३ ॥

गी०भू०—नन्वेवं सुकरे धर्म्मं स्थिते न कोऽपि संसरेदिति
चेत्तत्राह—अश्रद्धाणा इति । धर्म्मस्येति कर्म्मणि षष्ठी । इमं
मद्भक्तिलक्षणं धर्म्मं श्रुत्यादिप्रसिद्धप्रभावमप्यश्रद्धाणा दृढविश्वा-
सेन तमगृह्णन्तः स्तुतिमात्रमेवैतदिति ये मन्यन्ते, ते मत्प्राप्तये
साधनान्तराण्यनुतिष्ठन्तोऽपि भक्त्यबहेलनान्मामप्राप्य मृत्युयुक्ते
संसारवर्त्मनि नितरां वर्त्तन्ते ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

सारा०ब०—महास्यभक्तावेतन्मात्रं मदैश्वर्यज्ञानं मद्भक्तैर-
पेक्षितव्यमित्याह सप्तभिः । अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्तिः स्वरूपं
यस्त तेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत् तत् व्याप्तम् ।
अतएव मत्स्थानि मयि कारणभूते पूर्णचैतन्यस्वरूपे स्थितानि
सर्वाणि भूतानि चराचराणि सन्ति । एवमपि घटादिषु स्व-
कार्येषु मृदादिबन्धेषु भूतेषु नाहमवस्थितोऽसङ्गत्वात् ॥ ४ ॥

गी०भू०—अथ स्वभक्त्युद्दीपकमद्भुत-स्वैश्वर्यमाह-मयेति ।
अव्यक्ता इन्द्रियाप्राह्या मूर्तिः स्वरूपं यस्य तेन मया सर्वमिदं
जगत्तत् धर्तुं नियन्तुं च व्याप्तम् । अतएव सर्वाणि चरा-
चराणि भूतानि व्यापके धारके नियामके च मयि स्थितानि
भवन्तीति तेषां स्थितिमेदधीना, तेषु सर्वेषु भूतेष्वहं न चाव-
स्थितो मम स्थितिस्तदधीना नेत्यर्थः । इह निर्खलजगदन्तर्या-
मिणा स्वांशेनान्तः प्रविश्य नियच्छामि दधामि चेत्युक्तम्, आह
चैवं श्रुतिः—“यः पृथिव्यां तिष्ठत्” इत्यादिना, इहापि वक्ष्यति—
‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्’ इत्यादि ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—तत एव मयि स्थितान्यपि भूतानि न मत्स्थानि
ममासङ्गत्वादेवेति भावः । ननु तर्हि तब जगद्व्यापकत्वं जगदा-
श्रयत्वञ्च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याह—पश्य मे योगमैश्वरम् असा-
धारणं योगैश्वर्यमवटित-घटना-चातुर्यमयम् । अन्गदप्या-
श्रय्यं पश्येत्याह-भूतानि विभर्त्ति धारयति इति भूतभृत्,
भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः । एवम्भूतोऽपि
ममात्मा भूतस्थो न भवति ममेति भगवति देहिदेह-विभागा-
भावात् ‘राहोः शिरः’ इतिवत् अभेदेऽपि षष्ठी । अयं भावः-

यथा जीवो देहं दधत् पालयन्नपि तस्मिन्नासक्त्या देहस्थ एव
भवति, एवमहं भूतानि दधत् पालयन्नपि मायिकसर्वभूत-
शरीरोऽपि त तत्रस्थो निःसङ्गत्वादिति ॥ ५ ॥

गी०भू०—नन्वतिगुरुं भारं बहतस्ते महान् खेदः स्यादिति
चेत्तत्राह-न चेति । घटादाबुदकादीनीव भारभूतानि च भूतानि
संसृष्टानि मयि न सन्ति । तर्हि मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युक्ति-
विरुद्धेतेति चेत्तत्राह-पश्येति । ममश्वरं मदसाधारणं योगं पश्य
जानीहि—“युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु” इति निरुक्तेर्योगोऽवि-
चिन्त्यशक्तिबपुः सत्यसङ्कल्पता-लक्षणो धर्मस्तमित्यर्थः । एतदेव
बिस्फुटयति-भूतभृदिति भूतभृत् भूतानां धारकः पालकश्चाहं
भूतस्थो भूतसंपृक्तो नैव भवामि, यतो ममात्मा मन एव भूत-
भावनः सत्यसङ्कल्पता-लक्षणेनैश्वरेण योगेनैवाहं भूतानां धारणं
पालनञ्च करोमि, न तु स्वमूर्त्तिव्यापारेणेत्यर्थः । श्रुतिश्चैवमाह—
“एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ
तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ विधृते
तिष्ठतः” इत्यादिना । यद्यपि स्वरूपान्न मनो भिन्नं, तथापि
सत्ता सतीत्यादिबद्धिशेषाद्वास्तवं भेदकार्यमादायैव तथोक्तं
बोध्यम् ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

सारा०ब०—असङ्गे मयि भूतानि स्थितान्यपि न स्थितानि
तेष्वपि अहं स्थितोऽपि न स्थित इत्यत्र दृष्टान्तमाह-यथेति ।
यथैवासङ्गस्वभावे आकाशे स्थितो नित्यं बातीति वायुः सर्वदा
चलनस्वभावः, अतएव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान्
परिमाणतः यथा स्वाकाशस्य असङ्गत्वात् तत्र स्थितोऽपि न

स्थितः, आकाशोऽपि बायौ स्थितोऽपि न स्थितोऽसङ्गत्वात्
एव, तथैव असङ्गस्वभावे मयि सर्वाणि भूतानि आकाशा-
दीनि महान्ति सर्वत्रगानि स्थितानि नापि स्थितानि इत्यु-
पधारय विमृश्य निश्चिनु । ननु तर्हि “पश्य मे योगमैश्वरम्”
इति भगवदुक्तं योगैश्वर्यस्यातर्क्यत्वं कथं सिद्धमभूत् दृष्टान्त-
लाभात् ? उच्यते— आकाशस्य जडत्वादेवासङ्गत्वम्, चेतनस्य
तु असङ्गत्वं जगदधिष्ठानाधिष्ठातृत्वे परमेश्वरं विना नान्य-
त्रास्तीत्यतर्क्यत्वं सिद्धमेव, तदप्याकाशदृष्टान्तो लोकबुद्धि-
प्रवेशार्थ एव ज्ञेयः ॥ ६ ॥

गी०भू०—चराचराणां सर्वेषां भूतानां मत्संकल्पायत्ता
स्थितिर्वृत्तिश्चेत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा निरालम्बे मह-
त्याकाशे निरालम्बो महान् बायुः स्थितः सर्वत्र गच्छति, तस्य
तस्य च निरालम्बतया स्थितिर्मत्सङ्कल्पादेव प्रवृत्तिश्चेत्यन्तर्या-
मिब्राह्मणान्—“यद्भीषा वातः पवते” इति श्रुत्यन्तराद्युपधार-
येति, तथा सर्वाणि स्थिरचराणि भूतानि मत्स्थानि तैरसंसृष्टे
मयि स्थितानि मयैव सङ्कल्पमात्रेण धृतानि नियमितानि चेत्यु-
पधारय, अन्यथा आकाशादीनि बिभ्रंशोरन्निति ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कीन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सारा०ब०—ननु अधुना दृश्यमानानि एतानि भूतानि त्वयि
स्थितानि इत्यबगम्यते महाप्रलये क यास्यन्तीत्यपेक्षायामाह-
सर्वेति । मामिकां मदीयां मम त्रिगुणात्मिकायां मायाशक्तौ
लीयन्त इत्यर्थः । पुनः कल्पक्षये प्रलयान्ते सृष्टिकाले तानि
विशेषेण सृजामि ॥ ७ ॥

गी०भू०—स्वसंकल्पादेव भूतानां स्थितिरुक्ता । अथ तस्मा-

देव तेषां सर्गप्रलयाबाह-सर्वेति । हे कौन्तेय, कल्पक्षये चतु-
र्मुखावसानकाले सर्वाणि भूतानि मत्सङ्कल्पादेव मामिकां
प्रकृतिं यान्ति । प्रकृतिशक्तिके मयि विलीयन्ते कल्पादौ पुनस्ता-
न्यहमेव ‘बहु स्याम्’ इति सङ्कल्पमात्रेण वैविध्येन सृजामि ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

सारा०ब०—ननु असङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसी-
त्यपेक्षायामाह—प्रकृतिमिति । स्वां स्वीयाम् अवष्टभ्य अधिष्ठाय
प्रकृतेर्वशान् स्वीयस्वभाववशात् प्राचीनकर्मनिमिच्छादिति
यावत् अवशं कर्मादि-परतन्त्रम् ॥ ८ ॥

गी०भू०—प्रकृतिमिति । स्वामात्मीयां त्रिगुणां प्रकृतिमवष्ट-
भ्याधिष्ठाय सङ्कल्पमात्रेण महदाद्यात्मना परिणमय्येमं चतुर्विधं
भूतग्रामं विसृजामि पुनःपुनः काले काले । कीदृशमित्याह-
प्रकृतेः प्राचीनकर्मवासनाया बशात् प्रभावादवशं परतन्त्रं तथा
चाचिन्त्यशक्तेरसङ्गस्वभावस्य मम सङ्कल्पमात्रेण तत्तात् कुर्वतो
न तत्संसर्गान्धो, न च कोऽपि खेदलेश इति ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

सारा०ब०—नन्वेवञ्च नाना-कर्माणि कुर्वेतस्तब जीवबन्धः
कथं न स्यादत आह—न चेति । तानि सृष्ट्यादीनि । कर्मा-
सक्तर्हि बन्धहेतुः, स चाप्तकामत्वान्मम नास्ति उदासीनव-
दिति । अन्य उदासीनो यथा विवदमानानां दुःख-शोकादि-
संसृष्टो न भवति, तथैवाहमित्यर्थः ॥ ९ ॥

गी०भू०—ननु विषमाणि सृष्टिपालनलक्षणानि कर्माणि

वैषम्यादिना त्वां बध्नीयुरिति चेत्तत्राह-न चेति । तानि विषम-
सृष्ट्यादीनि कर्माणि न मयि वैषम्यादि प्रसञ्जयन्ति । तत्र हेतु-
गर्भविशेषणम्-उदासीनवदिति । जीवानां देवमानवतिर्यग्गादि-
भावे तत्तादभ्युदयतारतम्ये च तेषां पूर्वार्जितानि कर्माण्येव
कारणानि, अहं तु तेषु विषमेषु कर्मस्वौदासीन्येन स्थितोऽसक्त
इति न मयि वैषम्याद-दोषगन्धः । एवमाह सूत्रकारः-“वैषम्य-
नैर्घृण्ये न” इत्यादिना । उदासीनत्वे कर्त्तृत्वं न सिद्ध्येदत्त
उक्तम्-उदासीनवदिति ॥६॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

सारा०ब०-ननु सृष्ट्यादिकर्त्तुस्तवेदमौदासीन्यं न प्रत्येभि
इत्यत आह-मयेति । अध्यक्षेण मम निमित्तभूतेन प्रकृतिः
सचराचरं जगत् सूयते प्रकृतिरेव जगत् जनयति, मम अत्रा-
ध्यक्षता-मात्रम् ;—यथा कस्यचित् अम्बरीषादेरिव भूपतेः
प्रकृतिभिरेव राज्यकृत्यं निर्वह्यते, अत्रोदासीनस्य भूपतेः सत्ता-
मात्रमिति यथा तस्य राजसिंहासने सत्तामात्रेण विना प्रकृतिभिः
किमपि न शक्यते कर्त्तुम्, तथैव ममाधिष्ठानलक्षणमध्यक्षत्वं
विना प्रकृतिरपि जडा किमपि कर्त्तुं न शक्नोतीति भावः । अनेन
मदधिष्ठानेन हेतुनेदं जगत् विपरिवर्तते पुनः पुनर्जायते ॥१०॥

गी०भू०-तत् प्रतिपादयति-मयेति । सत्यसङ्कल्पेन प्रकृत्य-
ध्यक्षेण मया सर्वेश्वरेण जीवपूर्वपूर्वकर्मानुगुणतया बीक्षता
प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते जनयति विषमगुणा सती-अनेन
जीवपूर्वकर्मानुगुणेन मदीक्षणेन हेतुना तज्जगद्विपरिवर्तते
पुनः पुनरुद्भवति । हे कौन्तेय ! श्रुतिश्चैवमाह-“विकारजननीम-
ज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता

पुनः । सूयते पुरुषार्थश्च तेनैवाधिष्ठिता जगत् ॥” इति सन्निधि-
मात्रेणाधिष्ठातृत्वात् कर्त्तृत्वमुदासनिश्च न विरुद्धम् । ‘यथा सन्नि-
धिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते’ इत्यादि स्मरणाच्चैतदेवं मद-
धिष्ठातृमात्रं खलु प्रकृतेरपेक्ष्यम् । माद्विना किमपि कर्त्तुं न सा
प्रभवेत्-न ह्यसति राज्ञः सिंहासनाधिष्ठातृत्वे तदमात्याः कार्यं
प्रभवः ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

सारा०ब०-ननु च, सत्यमनन्तकोटीब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदा-
नन्दविग्रहः कारणार्णवशायी महापुरुषः स्वप्रकृत्या जगत् सृजतीति
यः प्रसिद्धः, स एव हि भवान् ; किन्तु बसुदेवसूनोस्तवेयं
मानुषी तनुरित्येतदंशेनैव केचित्तब निकर्षं बदन्तीत्यत आह-
अवजानन्तीति । मम मानुष्यास्तनोरस्याः परं भावं कारणार्ण-
वशायिमहापुरुषादिभ्योऽप्युत्कृष्टं स्वरूपमजानन्त एव ते ।
कीदृशम् ? भूतं सत्यं यद्ब्रह्म, तच्च तन्महेश्वरश्चेति, तन्महेश्वरपदं
सत्यान्तरव्यावर्त्तिकमत्र ज्ञेयम्--“युक्ते दमादावृते भूतम्”
इत्यमरः । “तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुह-
भावनासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि”
इति श्रुतेः ; “नराकृति परब्रह्म” इति स्मृतेश्च, ममास्याः
मानुष्यास्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वं मदभिज्ञभक्तैरुच्यत एव, तथा
सर्वब्रह्माण्डव्यापित्वञ्च बाल्ये मन्मात्रा श्रीयशोदया दृष्टमेव ;
यद्वा, मानुषीं तनुमेव विशिनष्टि-परमुत्कृष्टं भावं सत्तां
विशुद्धं सत्त्वं सच्चिदानन्दस्वरूपमित्यर्थः । ‘भावः सत्ता स्व-
भावाभिप्रायः’ इत्यमरः । परं भावमपि विशिनष्टि-मम
भूतमहेश्वरं मम सृज्यानि भूतानि ये ब्रह्माद्यास्तेषामपि महान्त-

मीश्वरम् । तस्माज्जीवस्येव मम परमेश्वरस्य तनुर्न भिन्ना ; तनुरेवाहम्, अहमेव तनुः, साक्षाद्ब्रह्मैव—“शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः” इति मदभिज्ञशुकोक्तेरिति भवादृशैस्तु विश्वस्यतामिति भावः ॥११॥

गी०भू०—नन्वीदृशमहिमानं त्वां किमिति केचिन्नाद्रियन्ते ? तत्राह—अवजानन्तीति । भूतमहेश्वरं निखिलजगदेकस्वामिनं सत्यसङ्कल्पं सर्वज्ञं महाकारुणिकञ्च मां मूढास्तेऽवजानन्ति । अत्र प्रकारं दर्शयन् बिशिनष्टि-मानुषीर्माति मानुषसन्निवेशिनी मानुषचेष्टाबहुलां तनुं श्रीमूर्तिमाश्रितं तादात्म्यसम्बन्धेन नित्यं प्राप्तं मामितरराजकुमारतुल्यः कश्चिदुग्रपुण्यो मनुष्योऽयमिति बुद्ध्यावमन्यन्त इत्यर्थः । मानुषी तनुः खलु पाञ्चभौतिक्येव, न च भगवत्तनुस्तादृक्—“सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय” इति “तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दाब्रह्मम्” इति श्रवणात्, तथात्वे तदवज्ञा-तृणां मौढ्यान्ध्ययोगाद्ब्रह्मादिबन्धत्वायोगाच्च । एवंबुद्धिस्तेषां कुतो यया ते मूढा भण्यन्ते ? तत्राह—परमिति, परमसाधारणं भावं स्वभावमजानन्तः मानुषाकृतेस्तस्य ज्ञानानन्दात्मत्व-सर्व-शत्व-मोक्षदत्त्वादिसवभावानां भिन्नानादित्यर्थः । एवञ्च सति तनुमा-श्रितमित्युक्तिविशेषविभातं भेदकार्यमादाय बोध्या । यत्तु बसु-देवसूनोर्द्वारकाधिपतेः सूतकागृहाबभूव तमेव स्वरूपं नैजं चतु-र्भुजत्वात्ततो ब्रजं गच्छतः स्वरूपन्तु मानुषं द्विभुजत्वादत उक्तम्—“बभूव प्राकृतः शिशुः” इतिवत्, अस्ति तन्निरवधानम्,—‘मानुषीं तनुमाश्रितम्’ इति तदुक्तेः, ‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन’ इति पार्थप्राथनया चतुर्भुजं तं प्राति ‘दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्’ इत्यादि पार्थवाक्याच्च तस्मान्मानुष्यसन्निवेशत्वमेव तत्तानोर्मनुष्यत्व-मित्युक्तम्—“यत्रावतीर्णं कृष्णारुयं परं ब्रह्म नराकृति” इति श्री-बैष्णवे, “गूढं परं ब्रह्म मनुष्यालिङ्गम्” इति श्रीभागवते च । मनुष्यचेष्टाप्राचुर्याच्च तस्यास्तत्त्वम् । यथा मनुष्योऽपि राजा देव-

वत् सिंहवच्च विचेष्टनान्नृदेवो नृसिंहश्च व्यपदिश्यते, तस्माद्-द्विभुजश्चतुर्भुजश्च स मनुष्यभावेनोक्तहेतुद्वयाद्व्यपदिश्यः न खलु भुजभूम्ना परेशत्वम्—कार्त्तवीर्यादौ व्यभिचारात्, विभुचैतन्य-त्वं जगज्जन्मादिहेतुत्वं वा परशत्वम्, तच्च द्विभुजेऽपि तस्मिन्न-स्येव तच्छ्रुतम् न च द्विभुजत्वं सादि—“सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं बैद्यं ताम्बरम् । द्विभुजं मौजमुद्राढ्यं बलमालिनमीश्वरम्” इति तस्यानादिसिद्धत्वश्रवणात् प्राकृतः शिशुरित्यत्र—प्रकृत्या स्वरूपे-णैव व्यक्तः शिशुरित्येवार्थः । तस्माद्बैद्यमणौ नानारूपाणि इव तस्मिन् द्विभुजत्वादीनि युगपत् सिद्धान्येव यथारुच्युपास्या-नीति शान्तोदितत्व-नित्योदितत्व-कल्पना दूरोत्सारिता ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

सारा०ब०—ननु ये मानुषीं मायामयीं तनुमाश्रितोऽय-मीश्वर इति मत्वा त्वामवजानन्ति, तेषां का गतिस्तत्राह—मोघाशा इति । यदि भक्ता अपि स्युस्तदपि मोघाशा भवन्ति, मत्सा-लोक्यादिमभिवाञ्छितं न प्राप्नुवन्ति । यदि ते कस्मिणस्तदा मोघकर्माणः कर्मफलं सर्वदिकं न लभन्ते ; यदि ते ज्ञानिन-स्तर्हि मोघज्ञाना ज्ञानफलं मोक्षं न विदन्ति, तर्हि ते किं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—राक्षसीमिति । ते राक्षसीं प्रकृतिं राक्षसानां स्वभावं श्रिताः प्राप्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

गी०भू०—ननु पाञ्चभौतिक-मानुषतनुमानुग्रपुण्यः पुरुतेजाः कोऽप्ययमिति भावेन त्वामवजानतां का गतिः स्यात्तत्राह—मोघेति । यदि ते ईश्वरभक्ता अपि स्युस्तदापि मोघाशा निष्फल-मोक्षवाञ्छाः स्युः, यदि तेऽग्निहोत्रादिकर्मनिष्ठास्तदा मोघ-कर्माणः परिश्रमरूपाग्निहोत्रादिकाः स्युः, यदि ते ज्ञानाय वेदा-

न्तादिशास्त्रपरिशीलिनस्तदा मोघज्ञाना निष्फलतद्बोधाः स्युः ।
 एवं कुतः ? यतस्ते विचेतसः नित्यसिद्धमनुष्यसन्निवेशि-साक्षात्-
 परब्रह्ममद्वयज्ञानितपापप्रतिषद्धबिवेकज्ञाना इत्यर्थः । अतएव-
 मुक्तं बृहद्वैष्णवे-“यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।
 स सर्वस्माद्बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः । मुखं तस्याव-
 लोक्यापि सचेत् स्नानमाचरेत्” इति । तर्हि ते किं फलं लभन्ते ?
 तत्राह-राक्षसीं हिंसादिप्रचुरां तामसीं आसुरीं कामगर्वादि-
 प्रचुरां राक्षसीं मोहिनीं बिबेकबिलोपिनीं प्रकृतिस्वभावं श्रिता
 नरके निवासार्हास्तिष्ठन्ति ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

सारा०ब०—तस्माद् ये महात्मानो यादृच्छिक-मद्भक्तिकृपया
 महात्मत्वं प्राप्तास्ते तु मानुषा अपि दैवीं प्रकृतिं देवानां
 स्वभावं प्राप्ताः सन्तो मां मानुषाकारमेव भजन्ते । न विद्यतेऽन्यत्र
 ज्ञानकर्मान्यकामनादौ मनो येषां ते । मां भूतादि ‘मया तत-
 मिदं सर्वम्’, इत्यादि मदैश्वर्यज्ञानेन भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्य-
 न्तानां कारणम् । अव्ययं सच्चिदानन्दविग्रहत्वादनश्वरं ज्ञावेति
 ममाराध्यत्वे मद्भक्तैरेतावन्मात्रं मज्ज्ञानमपेक्षितव्यम् । इयमेव
 त्वं-पदार्थज्ञानकर्माद्यनपेक्षा भक्तिरनन्या सर्वश्रेष्ठा राजविद्या
 राजगुह्यमिति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

गी०भू०—तर्हि के त्वामाद्रियन्ते ? तत्राह-महात्मान इति ।
 ये नराकृतपरब्रह्ममत्तात्त्वबित्सत्प्रसङ्गेन तादृशमन्निष्ठया विस्ती-
 र्णागाधमनसो मदीयेऽपि सहस्रशीर्षाद्याकारेऽरुचयस्ते मनुष्या
 अपि दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः सन्तो नराकृतिं मां मध्यभूतादिवि-
 धिरुद्रादि-सर्वकारणमव्ययं नित्यञ्च ज्ञात्वा निश्चित्य भजन्ति

सेवन्ते, अनन्यमनसो नराकार एव मयि निखातचित्ताः ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सारा०ब०—भजन्तीत्युक्तं तद्भजनमेव किमित्यत आह-
 सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्धाद्यपेक्षा
 कर्त्तव्येत्यर्थः, -“न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा । नोच्छि-
 ष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक ॥” इति स्मृतेः । यतन्तो
 यतमानाः—यथा कुटुम्बपालनार्थं दीनाः गृहस्थाः धनिकद्वारादौ
 धनार्थं यतन्ते तथैव मद्भक्ताः कीर्त्तनादिभक्तिप्राप्त्यर्थं साधु-
 सभादौ यतन्ते, प्राप्य च, भक्तिमधीयमानं शास्त्रं पठतः
 इव पुनः पुनरभ्यस्यन्ति च । एतावन्ति नामग्रहणानि एतावत्यः
 प्रणतयः एतावत्यः परिचर्याश्चावश्यकर्त्तव्याः इत्येवं दृढानि
 व्रतानि नियमाः येषां ते, यद्वा, दृढानि अपतितानि एकादश्यादि-
 व्रतानि नियमा येषां ते । नमस्यन्तश्च इति चकारः श्रवण-
 पादसेवनाद्यनुक्तसर्वभक्तिसंग्रहार्थः । नित्ययुक्ता भाविनं मन्त्रि-
 त्यसंयोगमाकाङ्क्षन्तः आशंसायां भूतवच्चेति वर्त्तमानेऽपि
 भूतकालिकः क्त-प्रत्ययः । अत्र मां कीर्त्तयन्त एव मामुपासत
 इति मत्कीर्त्तनादिकमेव मदुपासनमिति वाक्यार्थः । अतो
 मामिति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् ॥ १४ ॥

गी०भू०—भक्तिप्रकारमाह-सततमिति द्वयेन । सततं
 सर्वदा देशकालादिबिशुद्धिनैरपेक्षेण मां कीर्त्तयन्तः सुधा-मधु-
 राणि मम कल्याणगुणकर्मानुबन्धीनि गोविन्द-गोवर्द्धनोद्धरण-
 दीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते, नमस्यन्तश्च मदर्चना-
 निकेतेषु गत्वा धूलिपङ्कातेषु भूतलेषु दण्डवत् प्रणिपतन्तो भक्त्या
 प्रीतिभरेण । कीर्त्तयन्तो मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव

मधुपासनमिति वाक्यार्थः । अतो मामिति न पौनरुक्त्यम् । 'च' शब्दोऽनुक्तानां श्रवणाच्च नबन्दनादीनां समुच्चायकः । यतन्तः समानाशयैः साधुभिः साद्धं मत्स्वरूपगुणादियाथात्म्यनिर्णयाय यतमानाः, दृढव्रता दृढान्यस्खलितान्येकादशीजन्माष्टम्युपोषणादीनि व्रतानि येषां ते, नित्ययुक्ता भाविनं मन्त्रित्यसंयोगं बाढ्यन्तः "आशंसायां भूतवच्च" इति सूत्राद्वर्त्तमानेऽपि भूतकालिक- 'क्त'प्रत्ययः ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

सारा०ब०—तदेवं अत्राध्याये पूर्वाध्याये च अनन्यभक्त एव महात्म-शब्दवाच्यः, आर्त्तादिसर्वभक्तेभ्यः श्रेष्ठ इति दर्शितम् । अथान्येऽपि अनुक्तपूर्वा ये त्रिविधा भक्ताः पूर्वतो न्यूनाः अहंग्रहोपासकाः प्रतीकोपासका विश्व-रूपोपासकास्तान् दर्शयति । ज्ञानयज्ञेनेति अन्ये न महात्मनः पूर्वोक्तसाधनानुष्ठानासमर्था इत्यर्थः, ज्ञानयज्ञेन "तं वा अहमस्मि भगवो देवता अहं वै त्वमसि" इत्यादि-श्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वात् यज्ञस्तेन, चकार एवार्थे, अपि-शब्दः साधनान्तरत्यागार्थः, एकत्वेन उपास्योपासकयोरभेदचिन्तनरूपेण । ततोऽपि न्यूना अन्ये पृथक्त्वेन भेदचिन्तनरूपेण "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" इत्यादि श्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनेन ज्ञानयज्ञेन । "अन्ये ततोऽपि मन्दा बहुधा बहुभिः प्रकारैर्विश्वतोमुखं विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते" इति मधुसूदनसरस्वतीपादानां व्याख्या । अत्र 'नादेवो देवमर्चयेत्' इति तान्त्रिकदृष्ट्या गोपालोऽहम् इति भावनाबत्त्वे या गोपालोपासना, सा अहंग्रहोपासना । तथा यः परमेश्वरो विष्णुः स

हि सूर्य एव नान्यः ; स हि इन्द्र एव नान्यः, स हि सोम एव नान्यः' इत्येवं भेदेन एकस्या एव भगवद्विभूतेर्या उपासना सा 'प्रतीकोपासना' । विष्णुः सर्वः इति समस्त-विभूत्युपासना विश्वरूपोपासनेति ज्ञानयज्ञस्य त्रैविध्यम्, यद्वा, एकत्वेन पृथक्त्वेन इत्येक एव 'अहंग्रहोपासना'—'गोपालोऽहं' 'गोपालस्य दासोऽहम्' इत्युभयभावनामयी समुद्रगामिनी नदीव समुद्रभिन्नाऽभिन्ना चेति । तदा च ज्ञानयज्ञस्य द्वैविध्यम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—एवं केवलस्वरूपनिष्ठान् कीर्त्तनादिशुद्धभक्तिप्रधानान्महात्मशब्दितानभिधाय गुणीभूत-तत्कीर्त्तनादिज्ञानप्रधानान् भक्तानाह-ज्ञानेति । पूर्वतोऽन्ये केचन भक्ताः पूर्वोक्तेन कीर्त्तनादिज्ञानयज्ञेन च यजन्तो मामुपासते । तत्र प्रकारमाह—बहुधा बहुप्रकारेण पृथक्त्वेन प्रपञ्चाकारेण प्रधानमहदाद्यात्मना विश्वतोमुखमिन्द्रादिदेवतात्मना चावस्थितं मामेकत्वेनोपासते । अयमत्र निष्कर्षः—सूक्ष्मचिदचिच्छक्तिमान् सत्यसङ्कल्पः कृष्णो "बहुस्याम" इति स्वीयेन सङ्कल्पेन स्थूलचिदचिच्छक्तिमानेक एव ब्रह्मादिस्तम्बान्तबिचित्रजगद्रूपतयावतिष्ठत इत्यनुसन्धिना तादृशस्य मम कीर्त्तनादिना च मामुपासत इति ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोँकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसंचाहमर्जुन ॥१६॥

सारा०ब०—बहुधोपासते कथं त्वामेव इत्याशङ्क्य आत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः । क्रतुः श्रोतोऽग्निष्टोमादिः, यज्ञः स्मार्त्तो वैश्वदेवादिः, औषधम् औषधि-प्रभवमन्नम्, पिता व्यष्टि-समष्टिसर्वजगदुत्पादनात्, माता जगतोऽस्य स्वकुक्षि—मध्य एव धारणात्, धाता जगतोऽस्य पोषणात्, पितामहः जगत्स्रष्टुः ब्रह्मणोऽपि जनकत्वात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शोधकं वस्तु, गतिः फलं, भर्त्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, साक्षी शुभाशुभद्रष्टा, निवासः आस्पदं, शरणं विपद्भयह्नाता, सुहृत् निरुपाधिहितकारी, प्रभवाद्याः सृष्टिसंहार-स्थितयः क्रियाश्चाहं, निधानं निधिः पद्मशङ्खादिः, बीजं कारणम्, अव्ययम् अविनाशि, न तु ब्रीह्यादिवन्नश्वरम्, आदित्यो भूत्वा निदाघे तपामि, प्रावृषि वर्षम् उत्सृजामि, कदाचिच्चैव ग्रहरूपेण वर्षं निगृह्णामि च । अमृतं मोक्षः, मृत्युः संसारः, सदसत् स्थूलसूक्ष्मः, --एतत् सर्वम् अहमेव इति मत्वा विश्वतोमुखं मामुपासते इति पूर्वोक्तान्वयः ॥ १६-१६ ॥

गी०भू०—अहमेव जगद्रूपतयावस्थित इत्येतत् प्रदर्शयति-अहमिति चतुर्भिः । क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिः श्रोतो, यज्ञो वैश्वदेवादिः स्मार्त्तः, स्वधा पितृर्थे श्राद्धादिः, औषधं भेषजमौषधिप्रभव-मन्नं वा, मन्त्रो “याज्यापुरो नु” वाक्यादिर्येनोद्दिश्य हविर्दे-वेभ्यो दीयते, आज्यं घृतहोमादिसाधनम्, अग्निर्होमादिकारण-माहवनीयादिः, हुतं होमो हविःप्रेक्षेपः, एतत् सर्वमात्मनाहमेवा-स्थितः । पिताहर्मात-अस्य स्थिरचरस्य जगतस्तत्र तत्र पितृत्वेन मातृत्वेन पितामहत्वेन चाहमेव स्थितः, धाता धारकत्वेन पोषकत्वेन

च तत्र तत्र स्थितो राजादिश्चाहमेव-चिदचिच्छक्तिमतस्तदन्तर्या-मिणो मत्तोषामनतिरेकात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शुद्धिकरं गङ्गादिबारि, ज्ञेये ब्रह्मणि ज्ञानहेतुरोङ्कारः सर्ववेदबीजभूतः, ऋगादिस्त्रिविधो वेदश्चशब्दादथर्व च ग्राह्यम्-तेषु नियताक्षरः पादा ऋक्, सैव गीतिविशिष्टा साम, सामपदं तु गीतिमात्र-स्यैव वाचकमित्यन्यत्, गीतिशून्यममिताक्षरं यजुः, एतत्त्रिविधं कर्मोपयोगिमन्त्रजातमहमेवेत्यर्थः । गतिः साध्यसाधनभूता ‘गम्यते इयमनया च’ इति निरुक्तेः, भर्त्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, साक्षी शुभाशुभद्रष्टा, निवासः भोगस्थानं-‘निवसत्यत्र’ इति निरुक्तेः, शरणं प्रपन्नार्चिहृत-‘शीर्ष्यते दुःखमस्मिन्’ इति निरुक्तेः, सुहृन्निमिच्छाहितकृत्, प्रभवादयः स्वर्गप्रलयस्थितयः क्रिया, निधानं निधिर्महापद्मादौर्नवविधः, बीजं कारणमव्ययमविनाशि, न तु ब्रीह्यादिवाद्ब्रह्मनाशि । तपामीति - सूर्यरूपेणाहमेव निदाघे जग-त्तपामि, प्रावृषि वर्षं जलं विसृजामि मेघरूपेण, कदाचिदवग्रह-रूपेण वर्षं निगृह्णामि आकर्षामि, अमृतं मोक्षः, मृत्युः संसारः, सत् स्थूलम्, असत् सूक्ष्मम्, एतत् सर्वमहमेव तथा चैवं बहु-विधनामरूपावस्थ निखिलजगद्रूपतया स्थित एक एव शक्तिमान् बामुदेव इत्येकत्वानुसन्धिना ज्ञानयज्ञेन चैके यजन्तो मामु-पासते ॥१६-१६॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गंति प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

सारा०ब०—एवं त्रिविधोपासनाबन्तोऽपि भक्ता एव मामेव परमेश्वरं जानन्तो मुच्यन्ते । ये तु कर्मिणस्तु न मुच्यन्ते एव इत्याह द्वाभ्यां—त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामलक्षणास्तिस्रो

विद्या अधीयन्ते जानन्ति वा त्रैविद्या वेदत्रयोक्तकर्मपरा इत्यर्थः । यज्ञैर्मामिष्ट्वा इन्द्रादयो ममैव रूपाणीत्यजानन्तोऽपि वस्तुत इन्द्रादिरूपेण मामेव इष्ट्वा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपास्ते पुण्यं प्राप्प ॥ २० ॥

गी०भू०—एवं स्वभक्तानां वृत्तिर्माभिधाय तेषामेव विशेषं बोधयितुं स्वाविमुखानां वृत्तिमाह-त्रैविद्येति द्वाभ्याम् । तिसृणां विद्यानां समाहारस्त्रिविद्यं, तद्व्येऽधीयते विदन्ति च ते त्रैविद्याः-“तदधीते तद्वेद” इति सूत्रादण्-ऋग्यजुःसामोक्तकर्मपरा इत्यर्थः । त्रयीविहितैर्ज्योतिष्टोमादिभिर्यज्ञैर्मामिष्ट्वा-इन्द्रादयो ममैव रूपाण्यविद्वन्तोऽपि वस्तुतस्तत्ताद्रूपेणावस्थितं मामेवारा-ध्येत्यर्थः । सोमपा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तः, पूतपापा बिनष्टस्वर्गादि-प्राप्तिविरोधिकल्मषाः सन्तो ये स्वर्गंति प्रार्थयन्ते ते पुण्यमि-त्यादि बिस्फुटार्थः । मयैव दत्तामिति शेषः ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

शारा०ब०—गतागतं पुनः पुनर्मृत्युजन्मनी ॥ २१ ॥

गी०भू०—ततश्च, ते तस्मात् ते स्वर्गप्रार्थकाः प्रार्थितं तं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तत्प्रापके पुण्ये क्षीणे साति मर्त्यलोकं विशन्ति पञ्चाग्निविद्योक्तरीत्या भुवि ब्राह्मणादिजन्मानि लभन्ते पुनरप्ये-वमेव त्रयीविहितं धर्ममनुतिष्ठन्तः कामकामाः स्वर्गभोगेच्छां गतागतं लभन्ते संसरन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

शारा०ब०—मदनन्यभक्तानां सुखन्तु न कर्मप्राप्यं किन्तु

महत्तमेव इत्याह—अनन्या इति । नित्यमेव सदैवाभियुक्तानां पण्डितानामिति तदन्ये नित्यमपण्डिता इति भावः ; यद्वा नित्यसंयोगस्पृहावतां योगध्यानादिलाभः क्षेमं तत्पालनञ्च तैरनपेक्षितमप्यहमेव वहामि, अत्र करोमीत्यप्रयुज्य वहामीति-प्रयोगात् तेषां शरीरपोषणभारो मयैवोह्यते, यथा स्व-कलत्र-पुत्रादिपोषणभारो गृहस्थेनेति भावः । न चान्येषामिव तेषामपि योगक्षेमं कर्म प्राप्यमेवेत्यत आत्मारामस्य सर्वत्रोदामी-नस्य परमेश्वरस्य तव किं तद्वहनेनेति वाच्यम्—“भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्क-र्म्यम्” इति श्रुतेर्मदनन्यभक्तानां निष्कामत्वेन नैष्कर्म्यात् तेषु दृष्टं सुखं महत्तमेव तत्र मम सर्वत्रोदासीनस्यापि स्व-भक्तवात्सल्यमेव हेतुर्ज्ञेयः । न चैवं त्वयि स्वेष्टदेवे स्वनिर्व्वाह-भारं ददानास्ते भक्ताः प्रेमशून्या इति वाच्यम् ; तैर्मयि स्व-भारस्य सर्वथैवानर्पणात् मयैव स्वेच्छया ग्रहणात् । न च सङ्कल्पमात्रेण विश्वसृष्ट्यादिकर्त्तुं ममायं भारो ज्ञेयः, यद्वा भक्तजनासक्तस्य मम स्वभोग्यकान्ताभारवहनमिव तदीय-योग-क्षेमवहनमिति सुखप्रदमिति ॥ २२ ॥

गी०भू०—अथ स्वभक्तानां विशेषं निरूपयति—अनन्या इति । ये जना अनन्या सदेकप्रयोजना मां चिन्तयन्तो ध्यायन्तः परितः कल्याणगुणरत्नाश्रयतया विचित्राद्भुतलीलापीयूषाश्रय-तया दिव्यविभूत्याश्रयतया चोपासते भजन्ति तेषां नित्यं सर्व-दैव मय्यभियुक्तानां बिस्मृतदेहयात्राणामहमेव योगक्षेममन्नाद्या-हरणं तत्संरक्षणञ्च वहामि । अत्र करोमीत्यनुक्त्वा वहामीत्यु-क्तिस्तु तत्पोषणभारो मयैव बोद्धव्यो गृहस्थस्येव कुटुम्बपोषण-भार इति व्यनक्ति । एवमाह सूत्रकारः—“स्वामिनः फलश्रुते-स्त्यात्रेयः” इति । अत्राहु-तेषां नित्यं मया सार्द्धमभियोगं

बाञ्छतां योगं मत्प्राप्तित्तर्कं तेमञ्च मत्तोऽपुनरावृत्तिलक्षण-
महमेव बहामि, तेषां मत्प्रापणभारो ममैव, न त्वर्चिरादेर्देवगण-
स्येति । एवमेवाभिधास्यति द्वादशे—‘ये तु सर्व्वणि कर्म्मणि’
इत्यादिद्वयेन । सूत्रकारोऽप्येवमाह—‘बशेषञ्च दर्शयति’ इति ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२६॥

सारा०ब०—ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया
स्वस्यैवोपासना त्रिविधोक्ता, तत्र बहुधाः विश्वतोमुखमिति
तृतीयाया उपासनाया ज्ञापनार्थम् “अहं क्रतुरहं यज्ञः” इत्यादिना
स्वस्य विश्वरूपत्वं दर्शितम्, अतः कर्म्मयोगेन कर्म्मज्ञभूते-
न्द्रादियाजकास्तथा प्राधान्येनैव देवतान्तरभक्ता अपि त्वद्भक्ता
एव । कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते ? यदुक्तं—त्वया “गतागतं
कामकामा लभन्ते” इति, “अन्तवत्तु फलं तेषाम्” इति च
तत्राह—येऽपीति । सत्यां मामेव यजन्तीति किन्त्वविधि-
पूर्वकं—मत्प्रापकं विधिं विनैव यजन्त्यपुनरावर्त्तन्ते ॥२३॥

गी०भू०—नन्विन्द्रादियाजिनोऽपि वस्तुतस्त्वद्याजिन एव
तेषां कुतो गतागतमिति चेत्तत्राह—येऽपीति । ये जना अन्यदेव-
ताभक्ताः केबलेष्विन्द्रादिषु भक्तिमन्तः श्रद्धया अत एव फलप्रदा
इति दृढविश्वासेनोपेताः सन्तो यजन्ते यज्ञैस्तानर्चयन्ति, तेऽपि
मामेव यजन्ति इति सत्यमेतत्, किन्त्वविधिपूर्वकं ते यजन्ति-
येन विधिना गतागतनिवर्त्तका मत्प्राप्तिः स्यात् तं विधिं विनैव ।
अतस्तत्तो लभन्ते ॥२३॥

अहं हि सर्व्वज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

सारा०ब०—अविधिपूर्वकत्वमेवाह—अहमिति । देवतान्तर-
रूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुः स्वामी फलदाता चाहमेवेति । मान्तु
तत्त्वेन न जानन्ति—यथा सूर्यस्याहमुपासकः सूर्य एव मयि
प्रसीदतु, सूर्य एव मदभीष्टं फलं ददातु—सूर्य एव परमेश्वर
इति तेषां बुद्धिर्न तु परमेश्वरो नारायण एव सूर्यः स एव
तादृशश्रद्धोत्पादकः, स एव मह्यं सूर्योपासनाफलप्रद इति
बुद्धिरतस्तत्त्वतो मदभिज्ञानाभावात्तो च्यवन्ते भगवान्नारायण एव
सूर्यादिरूपेणाराध्यत इति भावनया विश्वतोमुखं मामुपासी-
नाम्तु मुच्यन्त एव । तस्मान्मद्विभूतिषु पूजा सूर्यादिषु मद्विभू-
तिज्ञानपूर्विकैव कर्त्तव्या न त्वन्यथेति द्योतितम् ॥ २४ ॥

गी०भू०—अविधिपूर्वकतां दर्शयति—अहं हीति । अहमेवे-
न्द्रादिरूपेण सर्व्वेषां यज्ञानां भोक्ता प्रभुः स्वामी पालकः फल-
दश्चेत्येवं तत्त्वेन मां नाभिजानन्ति, अतस्ते च्यवन्ति संसरन्ति ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृ न्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

सारा०ब०—ननु च तत्तद्देवतापूजापद्धतौ यो यो विधि-
रुक्तस्तेनैव विधिना सा सा देवता पूज्यत एव । यथा विष्णु-
पूजापद्धतौ य एव विधिस्तेनैव वैष्णवा विष्णुं पूजयन्त्यतो
देवतान्तरभक्तानां को दोषः इति चेत् ? सत्यं, तां तां देवतां
तद्भक्ताः प्राप्नुवन्त्येव इत्ययं न्याय एव इत्याह—यान्तीति । तेन त-
त्तद्देवतानामपि नश्वरत्वात् तत्तद्देवताभक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु ।
अहन्त्वनश्वरो नित्यो मद्भक्ता अप्यनश्वराः इति ते नित्या
एवेति द्योतितम्—भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः इति, “एको
नारायण एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्कर” इति, परार्द्धान्ते सोऽ-
बुध्यत गोप रूपो मे पुरस्तादाभिर्वभूव इति, न च्यवन्ते च

मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि इत्यादि-श्रुतिभ्यः ॥ २५ ॥

गी०भू०—वस्तुतो मम तत्तद्देवतादिरूपतया स्थितत्वेऽपि तद्रूपतया मज्ज्ञानाभावादेव ते मां नाप्रुबन्तीत्याह—यान्तीति । अत्राप्यपर्याये व्रत-शब्दः पूजाभिधायी परब्रज्या-शब्दात् । देव-व्रता देवपूजकाः सात्त्विकदर्शपूर्णमास्यादिकर्मभिरिन्द्रादीन् यजन्तस्तानेव यान्ति, पितृव्रता राजसाः श्राद्धादिकर्मभिः पितृन् यजन्तस्तानेव यान्ति, भूतेज्यास्तामसास्तत्तद्वलिभिर्यक्षरक्षोविना-यकान् पूजयन्तस्तान्येव भूतानि यान्ति । मद्याजिनस्तु निर्गुणाः सुलभैर्द्रव्यैर्ममर्चयन्तो मामेव यान्ति । अपिरवधारणे । अय-मर्थः—इन्द्रादीनां वयमुपासकास्त एवास्माकमीश्वराः पूजाभिः प्रसीदन्तः फलान्यभीष्टानि दद्युरिति मदन्यदेवसेवकानां भावना, सर्वशक्तिः सर्वेश्वरो वासुदेवस्तद्देवतादिरूपेणावस्थितोऽस्म-त्स्वामी सुलभोपचारैः कर्मभिराराधितः सर्वाण्यस्मदभीष्टानि दद्यादिति मत्सेवकानां भावना । ततश्च समानान्येव कर्माण्य-नुतिष्ठन्तोऽपि देवादिसेविनो मद्भावना-वैमुख्यात्तान्निजेष्टानेवाचि-रायुषोऽल्पविभूतिनासाद्य तैः सह परिमितान् भोगान् भुक्त्वा तद्विनाशे विनश्यन्ति । मत्सेविनस्तु मामनादिनिधनं सत्य-सङ्कल्पमनन्तविभूतिं विज्ञानानन्दमयं भक्तवत्सलं सर्वेश्वरं प्राप्य मत्ताः पुनर्न निवर्त्तन्ते—मया साकमनन्तानि सुखानि अनुभवन्ते मद्भाम्नि दिव्ये बिलसन्तीति ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

सारा०ब०—वरं देवतान्तरभक्तवायासाधिक्यं, न तु मद्भक्ता-वित्याह—पत्रमिति । अत्र भक्त्येति करणं,—तृतीयायां भक्त्यु-पहृतमिति पोतरुक्त्यं स्यात्, अतः सहार्थे तृतीया, भक्त्या

सहिता मद्भक्ता इत्यर्थः । तेन मद्भक्तभिन्नो जनस्तात्कालिक्या भक्त्या यत् प्रयच्छति, तत् तेनोपहृतमपि पत्रपुष्पादिकं नैवा-श्नामीति द्योतितम् । ततश्च मद्भक्त एव पत्रादिकं यद्दाति तत् तस्याहमश्नामि यथोचितमुपयुञ्जे । कीदृशम् ? भक्त्या उपहृतं न तु कस्यचिदनुरोधादिना दत्तामित्यर्थः । किञ्च मद्भक्तस्याप्यपवित्रशरीरत्वे सति नाश्नामीत्याह—प्रयतात्मनः शुद्धशरीरस्येति रजस्वलादयो, व्यावृत्ताः, यद्वा प्रयतात्मनः शुद्धान्तःकरणस्य, मद्भक्तं विना नान्यः शुद्धान्तःकरण इति । “धौतात्मापुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति” इति परीक्षितुक्तेर्मत्-पादसेवात्यागासामर्थ्यमेव शुद्धचित्तात्त्वचिह्नम्, अतः काचित् काम-क्रोधादिसत्त्वेऽपि उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवत्तास्याकिञ्चित्करत्वं ज्ञेयम् ॥ २६

गी०भू०—एवमक्षयानन्तफलत्वान्मद्भक्तिः कार्येत्युक्त्वा सुखसाध्यत्वाच्च सा कार्येत्याह—पत्रमिति । पत्रं वा पुष्पं बान्यद्वा, यत्सुलभं वस्तु यो भक्त्या प्रीतिभरेण मे सर्वेश्वराय प्रयच्छति, तस्य भक्त्युपहृतं प्रीत्यर्पितं तत्तदनन्तविभूतिः पूर्णकामोऽप्यहम-श्नामि यथोचितमुपयुञ्जे, तत्प्रीत्युदितक्षुत्तृष्णः सन् तद्भक्त्यावे-शात्तत् सर्वमश्नोति वा । तस्य कीदृशस्येत्याह—प्रयतात्मनो विशुद्धमनसो निष्कामस्येत्यर्थः । तथा च निष्कामेण मदनुरक्ते-नार्पितं तदश्नामि, तद्विपरीतेनार्पितं तु नाश्नामीत्युक्तम्, ‘भक्त्या’ इत्युक्त्वापि पुनर्भक्त्युपहृतमित्युक्तिर्भक्तिरेव मत्तोषिका, न तु द्विजत्व-तपस्वित्वादिति सूचयति । इह ‘सततम्’, ‘अनन्यः’ ‘पत्रम्’ इत्यादिभिस्त्रिभिर्भक्ता कीर्त्तनादिरूप-विशुद्धभक्तिरर्पि-तैव क्रियेत, न तु कृत्वापितेति । “इति पुंसार्वपिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नबलक्षणा । क्रियेत भगवत्यद्वा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्” इति प्रह्लादवाक्यात् ; अतस्तथात्र नोक्तेः ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

सारा०ब०—ननु च “आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी” इत्या-
रभ्य एतावतीषु त्वदुक्तासु भक्तिषु मध्ये खल्वहं कां भक्ति
करवै इत्यपेक्षायां, भा० अज्जु न ! साम्प्रतं तावत्ताव कर्मज्ञाना-
दीनां त्यक्तुमशक्यत्वात् सर्वोत्कृष्टायां केवलायामनन्यभक्तौ
नाधिकारो नापि निष्कृष्टायां सकामभक्तौ, तस्मात्त्वं निष्कामां
कर्मज्ञानमिश्रां प्रधानीभूतामेव भक्तिं कुर्वित्याह—यत् करोषीति
द्वाभ्याम् । लौकिकं वैदिकं वा यत् कर्म त्वं करोषि, यदश्नासि
व्यवहारतो भोजनपानादिकं यत् करोषि, यत्तपस्यसि तपः करोषि,
तत् सर्वं मय्येवार्पणं यस्य तद् यथा स्यात्, तथा कुरु । न चायं
निष्कामकर्मयोग एव न तु भक्तियोग इति वाच्यम् । निष्काम
कर्मिभिः शास्त्रविहितं कर्मैव भगवत्पर्य्यते, न तु व्यवहारिकं
किमपि कृतम्, तथैव सर्वत्र दृष्टेः । भक्तैस्तु स्वात्मनः
प्राणेन्द्रियव्यापारमात्रमेव स्वेष्टदेवे भगवत्यर्प्यते । यदुक्तं भक्ति-
प्रकरण एव—“कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना बानु-
सृतस्वभावात् । करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायैति
समर्पयेत्तात् ॥” इति । ननु च जुहोषीति हवनमिदमर्चन-
भक्त्यङ्गभूतं बिष्णुहेश्यकमेव, तपस्यतीति तपोऽप्येतदेकादश्या-
दिव्रतरूपमेव अत इयमनन्यैव भक्तिः किमिति नोच्यते ?
सत्यम् अनन्या भक्तिर्हि कृत्वापि न भगवत्यर्प्यते किन्तु भगवत्य-
पितैव क्रियते, यदुक्तं श्रीप्रल्हदेन—“श्रवणं कीर्त्तनं बिष्णोः
स्मरणम्” इत्यत्र “इति पुंसां पिता बिष्णो भक्तिश्चैव बलक्षणा
क्रियेत” इत्यस्य व्याख्या च श्रीस्वामिचरणानां—“भगवति बिष्णौ
भक्तिः क्रियते, सा चापितैव सती यदि क्रियते न तु कृता
सती पश्चादप्येत इत्यतः पद्यमिदं न केवलायां पर्य्यवसेदिति ॥२७॥

गी०भू०—सततम् इत्यादिभिर्निरपेक्षाणां भक्तिर्मया त्वां
प्रत्युक्ता, त्वया तु परिनिष्ठितेन कीर्त्तनादिकां भक्तिं कुर्वन्तापि
लोकसंग्रहाय निखिलकर्मार्पणान्ममापि भक्तिः कार्य्येति भावे-
नाह—यदिति । यत्त्वं देहयात्रा-साधकं लौकिकं कर्म करोषि,
यच्च देहधारणार्थं अन्नादिकमश्नासि, तथा यज्जुहोषि वैदिकमग्नि-
होत्रादिहोममनुतिष्ठसि, यच्च सत्पात्रेभ्यः अन्नहिरण्यादिकं ददासि,
प्रत्येकमज्ञातदुरितक्षतये चान्द्रायणद्याचरसि, तत् सर्वं मदर्पणं
यथा स्यात्तथा कुरुष्व—तेन मन्निर्मितस्यास्य लोकस्य संग्रहात्त्वाय
मत्प्रसादो भूयान् भावीति । न चेयं सर्वकर्मार्पणरूपा भक्तिः
संनिष्ठानामिति वाच्यम्—तैर्वैदिकानामेव तत्रार्प्यमाणात् ; किन्तु
परिनिष्ठितानामेवेयम्—तैः यत् करोषि इत्यादि स्वामिनिर्देशेन
सर्वकर्मणां तत्रार्पणात् । ते हि स्वामिनो लोकसंग्रहं प्रयास-
मपनिनीषवस्तथा तान्याचरन्तस्तं प्रसादयन्तीति ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

सारा०ब०—शुभाशुभफलैरनन्तैः कर्मरूपैर्वन्धनैर्विमोक्ष्यसे ।
“भक्तिरभ्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमे-
तदेव नैष्कर्म्यम्” इति श्रुतेः । संन्यासः कर्मफलत्यागः स एव
योगः तेन युक्त आत्मा मनो यस्य सः । न केवलं युक्त एव
भविष्यास, अपि तु विमुक्तो मुक्तेष्वपि विशिष्टः सन् मामु-
पैष्यसि साक्षात् परिचरितुं मन्त्रिकटमेष्यसि,—“मुक्तानामपि
सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि
गहामुने ॥” इति स्मृतेः । “मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्ति-
योगम्” इतिशुकोक्तेः, मुक्तेः सकाशादपि साक्षान्मत्प्रेमसेवया
उत्कर्षोऽयमेवेति भावः ॥ २८ ॥

गी०भू०—ईदृशभक्तेः फलमाह-शुभेति । एवं मन्निदेश-
कृतायां सर्वकर्मपारिणलक्षणायां भक्तौ सत्यां कर्मरूपैर्वन्ध-
नैस्त्वं मोक्षयसे । कीदृशैरित्याह-शुभेतीष्टानिष्टफलैस्तत्प्राप्तिप्रतीपैः
प्राचीनैरित्यर्थः । कीदृशस्त्वमित्याह, संन्यासेति मयि कर्मपारिण
संन्यासः, स एव चित्तविशोधकत्वाद्योगस्तद्युक्त आत्मा मनो
यस्य सः । न केवलं मुक्त एव कर्मभिर्भेनिष्यस्यपि तु विमुक्तः
सन् मामुपैष्यासि-मुक्तेषु विशिष्टः सन् मां साक्षात् सेवितुं
मदन्तिकं प्राप्स्यसि ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सारा०ब०—ननु भक्तानेव विमुक्तीकृत्य स्वं प्रापयसि, न
त्वभक्तानिति चेत्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वैषम्यमस्ति ?
नेत्याह-समोऽहमिति । ते भक्ता मयि वर्तन्ते, अहमपि तेषु
वर्त्ता इति व्याख्याने भगवत्येव सर्वं जगद्वर्त्तत एव, भगवानपि
सर्वजगत्सु वर्त्तत एव इति नास्ति विशेषः, तस्मात् “ये यथा
मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” इति न्यायेन, मयि ते
आसक्ता भक्ता वर्तन्ते यथा तथाहमपि तेष्वसक्त इति
व्याख्येयम् । अत्र कल्पवृक्षादिदृष्टान्तस्त्वेकांशेनैव ज्ञेयः, न हि
कल्पवृक्षफलाकाङ्क्षया तदाश्रिता आसज्जन्ति नापि कल्पवृक्षः
स्वाश्रितेष्वसक्तः नापि स आश्रितस्य वैरिणो द्वेष्टि, भगवांस्तु
स्वभक्तवैरिणं स्वहस्तेनैव हिनस्ति; यदुक्तं प्रल्हादाय-“यदा
द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्” इति । केचित्तु तु-कार्म्य
भिन्नोपक्रमाथत्वमाख्याय भक्तबात्सल्यलक्षणं तु वैषम्यं मयि
विद्यत एवेति, तच्च भगवतो भूषणं न तु दूषणमिति व्याचक्षते ।
तथा हि भगवतो भक्तबात्सल्यमेव प्रसिद्धं न तु ज्ञानि-

बात्सल्यं योगिबात्सल्यं वा—यथा ह्यन्यो जनः स्व-दासेष्वेव
वत्सलो, नान्यदासेषु तथैव भगवानपि स्वभक्तेष्वेव वत्सलो
न रुद्रभक्तेषु, नापि देवीभक्तेष्विति ॥ २८ ॥

गी०भू०—ननु भक्तानेव विमोचयान्तिकं नयसि, नाभक्ता-
निति तवापि किं सर्वेश्वरस्य रागद्वेषकृतं वैषम्यमस्ति ? तत्राह-
समोऽहमिति । देवमनुष्यतिर्य्यक्स्थावरादिषु जात्याकृतिस्वभावै-
र्विषयेषु सर्वेषु भूतेषु तत्तात्कर्मणुगुण्येन सृष्टिपालनकृत् सर्व-
ेश्वरोऽहं समः पर्जन्य इव नानाविधेषु तत्ताद्वोजेषु, न तेषु-मे
कोऽपि द्वेष्यः प्रियो वेत्यर्थः । भक्तानामभक्तेभ्यो विशेषं बोध-
यितुमिह तु-शब्दः । ये तु मां भजन्ति श्रवणादिभक्तिभिरनुकूल-
यन्ति, ते भक्त्यानुरक्त्या मयि वर्तन्ते, तेष्वहं च सर्वेश्वरो-
ऽपि भक्त्या वर्त्ते-“मणिसुवर्ण”-न्यायेन भगवतोऽपि भक्तेषु
भक्तिरस्ति-“भगवान् भक्तभक्तिमान्” इत्यादि-श्रीशुकबाक्या-
दिति प्रेम्णा मिथो वर्त्तनविशेषो दर्शितः । अन्यथा त्वविशेषा-
पत्तिः । तस्य प्रतिज्ञा त्वीदृश्येवावगम्यते-“ये यथा माम्” इत्या-
दिना । कल्पद्रुमदृष्टान्तोऽप्यत्रांशिक एव-तत्र मिथः प्रीत्यप्रतीतेः
पक्षपाताप्रतीतिश्च ; तथाच सर्वत्राविषमेऽपि मयि स्वाश्रितबात्-
सल्यलक्षणं वैषम्यमस्तीत्युक्तम् । एवमाह सूत्रकारः-“उपपद्यते
चाभ्युपलभ्यते च” इति । ननु भक्तेरपि कर्मत्वानुसारेण तेषु
तद्वात्सल्यान्न तल्लक्षणे तदिति चेन्मैत्रमेतत्-स्वरूपशक्तिवृत्तोर्भक्तेः
कर्मन्यत्वात् । श्रुतिश्च, “सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति”
इति । न च स्वरूपप्रयुक्तत्वाद्वृषणमेतदिति वाच्यम्-गुणश्रेष्ठ-
त्वेन स्तूयमानत्वात् ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

सारा०ब०—स्वभक्तेष्वासक्तिर्मम स्वाभाविक्येव भवति सा दुराचारेऽपि भक्ते नापयाति तमप्युत्कृष्टमेव करोमीत्याह—अपि चेदिति । सुदुराचारः परहिंसा-परदार-परद्रव्यादिग्रहण-परायणोऽपि मां भजते चेत्, कीदृग्भजनवानित्यत आह—अनन्य-भाक् मत्तोऽन्यदेवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्मज्ञानादिकं, मत्काम-नातोऽन्यां राज्यादिकामनां न भजते स साधुः । नन्वेतादृशे कदाचारे दृष्टे सति कथं साधुत्वम् ? तत्राह—मन्तव्यो मननीयः साधुत्वेनैव स ज्ञेय इति यावत्; मन्तव्यमिति विधिवाक्यं अन्यथा प्रत्यवायः स्यात्; अत्र मदाज्ञैव प्रमाणमिति भावः । ननु त्वां भजत इत्येतदंशेन साधुः परदारादिग्रहणांशेनासाधुश्च स मन्तव्यस्तत्राह—एवेति । सर्वेणाप्यंशेन साधुरेव मन्तव्यः कदापि तस्यासाधुत्वं न द्रष्टव्यमिति भावः । सम्यगव्यवसितं निश्चयो यस्य सः । दुस्त्यजेन स्वपापेन नरकं तिर्यग् योनीर्वा यामि ऐकान्तिकं श्रीकृष्णभजनन्तु नैव जिहासामीति स शोभनमध्यवसायं कृतवानित्यर्थः ॥ ३० ॥

गी०भू०—मम शुद्धभक्तिवश्यता-लक्षणः स्वभावो दुस्त्यज एव ; यदहं जुगुप्सितकर्मण्यपि भक्तेऽनुरज्यंस्तमुत्कर्षयामीति पूर्वार्थं पुष्पेनाह—अपि चेदिति । अनन्यभाक् जनश्चेत् सुदुरा-चारोऽतिविगर्हितकर्मपि सन् मां भजते—मत्कीर्त्तनादिभिर्मां सेवते, तदापि स साधुरेव मन्तव्यः ; मत्तोऽन्यां देवतां न भज-त्याश्रयतीति मदेकान्ती मामेव स्वामिनं परमपुमर्थञ्च जानन्नि-त्यर्थः । उभयथा वर्त्तमानोऽपि साधुत्वेन स पूज्य इति बोध-यितुमेव-कारः । तस्य तथात्वेन मनने 'मन्तव्य' इति स्वनिदेश-रूपो विधिश्च दर्शितः—इतरथा प्रत्यवायादिति भावः । उभय-थापि वर्त्तमानस्य साधुत्वमेवेत्यत्रोक्तः हेतुः पुष्पेनाह—सम्य-गिति-यदसौ सम्यगव्यवसितो मदेकान्तनिष्ठारूप-श्रेष्ठनिश्चयवा-

नित्यर्थः । एवमुक्तं नारसिंहे—“भगवति च हरावनन्यचेता भृश-मलिनोऽपि विराजते मनुष्यः । न हि शशकलुषच्छब्दः कदाचि-त्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्र” इति ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सारा०ब०—ननु तादृशस्याधर्मिणः कथं भजनं त्वं गृह्णासि कामक्रोधादिदूषितान्तःकरणेन निवेदितमन्नपानादिकं कथमश्ना-सीत्यत आह—क्षिप्रं शीघ्रमेव स धर्मात्मा भवति । अत्र क्षिप्रं भावी स धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं गमिष्यति इति अप्रयुज्य भवति गच्छति इति वर्त्तमानप्रयोगात् अधर्मकरणानन्तरमेव मामनुमृत्य कृतानुतापः क्षिप्रमेव धर्मात्मा भवति । हन्त हन्त ! मत्तुल्यः कोऽपि भक्तलोकं कलङ्कयन्नधमो नास्ति, तद्विड्मा-मिति शश्वत् पुनः पुनरपि शान्तिं निर्व्वेदं नितरां गच्छति, यद्वा, कियतः समयादनन्तरं तस्य भावि धर्मात्मत्वं तदानीमपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तत एव । तन्मनसि भक्तेः प्रवेशात् यथा पोते महौ-षधे सति तदानीं कियत्कालपर्यन्तं नश्यदवस्थो उग्रदाहो वा वि-षदाहो वर्त्तमानोऽपि न गण्यत इति ध्वनिः । ततश्च तस्य भक्तस्य दुराचारत्वगमकाः कामक्रोधाद्या उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवदकिञ्चित्करा एव ज्ञेया इत्यनुध्वनिः । अतएव शश्वत् सर्वदैव शान्तिं काम-क्रोधाद्यचुपशमं नितरां गच्छति अतिशयेन प्राप्नोतीति दुरा-चारत्वदशायामपि स शुद्धान्तःकरण एवोच्यत इति भावः । ननु यदि स धर्मात्मा स्यात्तदा नास्ति कोऽपि विवादः, किन्तु कश्चिद्दुराचारभक्तो जन्मपर्यन्तमपि दुराचारत्वं न जहाति तस्य का बार्त्तित्यतो भक्तवत्सलो भगवान् सप्रौढि सकोपमिवाह—कौन्तेयेति । मे भक्तो न प्रणश्यति, तदपि

प्राणनाशो अधःपातं न याति । कुतर्ककर्कशवादिनो नैतन्मन्ये-
रन्निति शोकशङ्काव्याकुलमञ्जुनं प्रोत्साहयति—हे कोन्तेय,
पटहकाहलादि--महाघोषपूर्वकं बिबदमानानां सभां गत्वा बाहु-
मुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु । कथम् ? मे मम
परमेश्वरस्य भक्तो दुराचारोऽपि न प्रणश्यत्यापि तु कृतार्थ
एव भवति ततश्च ते तत्प्रोद्विजृम्भितविध्वंसितकुतर्काः सन्तो
निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् इति स्वामिचरणाः । ननु
कथं भगवान् स्वयमप्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातुमर्जुनमेवातिदिदेश-
यथैवाग्रे “मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे” इति
वक्ष्यते तथैवात्रापि “कोन्तेय ! प्रतिजानेऽहं न मे भक्तः प्रणश्यति”
इति कथं नोक्तम् ? उच्यते--भगवता तदानीमेव विचारितं
भक्तवत्सलेन मया स्वभक्तापकर्षलेशमप्यसहिष्णुना स्वप्रतिज्ञां
खण्डयित्वापि स्वापकर्षमङ्गीकृत्यापि भक्तप्रतिज्ञैव रक्षिता बहुत्र ;
यथा तत्रैव भीष्मयुद्धे स्वप्रयिज्ञामप्यपाकृत्य भीष्मप्रतिज्ञैव
रक्षिष्यते । बहिर्मुखा वादिनो वैतण्डिका मत्प्रतिज्ञां श्रुत्वा
हसिष्यन्ति, अञ्जुनप्रतिज्ञा तु पाषाणरेखेवेति ते प्रतियन्ति ।
अतोऽञ्जुनमेव प्रतिज्ञां कारयामीत्यत्रैतादृशदुराचारस्याप्यनन्य-
भक्तिश्रवणादनन्यभक्ताभिधायकवाक्येषु सर्वत्र न विद्यते-
न्यत्स्त्रीपुत्राद्यालकतिविधर्मशोकमोहकामक्रोधादिकं यत्रेति कुप-
ण्डितव्वाख्या न ग्राह्येति ॥ ३१ ॥

गी०भू०—ननु “नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्” इति दुराचारिणस्त-
द्वैमुख्यश्रवणात् कथं तस्य साधुत्वमिति चेत्तत्राह—क्षिप्रमिति ।
स्वाभाविकदुराचारिबिषयमिदं श्रवणं, मदेकान्ती तु मनसि धृते-
नातिपूतेन सर्वेश्वरेण मयागन्तुकं दुराचारं विनिर्धूय क्षिप्रमेव
धर्ममात्मा सदाचारनिष्ठमना भवति ; शश्वत् पुनःपुनरनुत्पन्न

मत्स्मृतिप्रतिकूलात्तस्माच्छान्तिं निवृत्तिं नितरां गच्छति । नन्व-
कृतप्रायश्चित्तमेवं स्मार्त्ताः साधुं न मन्येरन्निति चेत्तत्र भक्तानु-
रक्तिबिबशः सकोपमिबाह-कौन्तेयेति । त्वं तेषां सभां गतः
प्रतिजानीहि—मे ममैकान्ती भक्तः प्रमादात् सुदुराचारोऽपि न
प्रणश्यति—मत्तो भ्रष्टः सन् दुर्गतिं नाप्नोति—अपि तु तादृशेन
मया पूतो मत्प्राप्तिरोग्यश्चकास्ति—“स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । बिकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
दुनोति सर्वं हृदि सन्निबिष्टः ॥” इत्यादि स्मृतिभ्यः । स्मार्त्तैस्तु
मदेकान्तितोऽन्यत्र विधायकैर्भाव्यं—स्मार्त्तं प्रायश्चित्तमपेक्ष्य
यदुक्तं, मत्स्मृतिरूपं तत्ता प्रबलमिति सुकुलीनैरेव, न तु दुष्कु-
लीनैराहर्त्तव्यमिति बोधयितुं कौन्तेयेति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्थुः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२

सारा०ब०—एवं कर्मणा दुराचारणामागन्तुकान् दोषान्
मद्भक्तिर्न गणयतीति किं चित्रम् ? यतो जात्यैव दुराचाराणां
स्वभाविकानपि दोषान् मद्भक्तिर्न गणयतीत्याह—मामिति ।
पापयोनयोऽन्त्यजा स्लेच्छा अपि ; यदुक्तम्—“किरातहृणान्ध-
पुलिन्दपुक्कशा, आभीरकङ्का यवनाः खशादयः । येऽन्ये च
पापास्तदुपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥”
“अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सन्नुराग्या, ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥”
किं पुनः स्त्रीवैश्याद्या अशुद्धचलीकादिमन्तः ? ॥ ३२ ॥

गी०भू०—महाघोषपूर्वकं बिबदमानानां सभां गत्वा बाहु-
मुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु—सर्वेश्वरोऽहं मदे-
कान्तिनां आगन्तुकदोषान् विधुनोमीति किं चित्रम् ? यदति-

पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्विधूताविद्या विमुच्यन्ते इत्याह-मां
हीति । ये पापयोनयोऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्युस्तेऽपि मद्भ-
क्तप्रसङ्गेन मां सर्वेशं बसुदेवसुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य परां
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापि यान्ति हि निश्चितमेतत् । एवमाह
श्रीमान् शुकः-“किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवनाः
खशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभ-
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धचलीकादिमन्तस्ते-
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

सारा०ब०-ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०-किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं
यान्तीति किं पुनर्वाच्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-
त्त्वमपि राजपिरिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्वरम-
सुखमीषत्सुखं विनाशिन्यल्पसुखेऽस्मिँल्लोके राज्यस्पृहां बिहाय
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्नुहीति त्वरात्र व्यज्यते । अत्रास्य
लोकमनित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरासात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

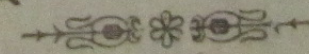
सारा०ब०-भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति-मन्मना इति ।
एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंवादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।
सारा०ब०-पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्वशोधनम् ।
भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीक्ष्यते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सन्तम् ॥

गी०भू०-अथ परिनिष्ठितस्याञ्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-
शन्नुपसंहरति-मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-
लक्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि-
गुणवति बसुदेवसूनौ स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्ध्यनवच्छिन्न-
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-
स्यातिमात्रप्रियस्य समर्चने निरतो भव ; तादृशं मामतिप्रेमणा
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि
निवेद्य मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शात् सर्वाघनाशिनी ।
गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।



दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्बिधूताविद्या विमुच्यन्त इत्याह-मां
हीति । ये पापयोनयोऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्पृष्टेऽपि मद्भ-
क्तप्रसङ्गेन मां सर्व्वेशं वसुदेवसुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य परां
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापि यान्ति हि निश्चितमेतत् । एवमाह
श्रीमान् शुकः-“किरातहृणान्धपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवना
स्तशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रम-
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धचलीकादिमन्तस्ते-
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

सारा०ब०-ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुला-
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०-किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं
यान्तीति किं पुनर्ब्राह्मण्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-
त्त्वमपि राजर्षिरिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्वरम-
सुखमीषत्सुखं विनाशिन्यल्पसुखेऽस्मिन्लोके राज्यस्पृहां विहाय
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्नुहीति त्वरात्र व्यज्यते । अत्रास्व
लोकस्थानित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरासात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

सारा०ब०-भजनप्रकारं दर्मयन्नुपसंहरति-मन्मना इति ।
एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या भीष्म-
पर्व्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंबादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।
सारा०ब०-पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्व्वशोधनम् ।

भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीक्ष्यते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

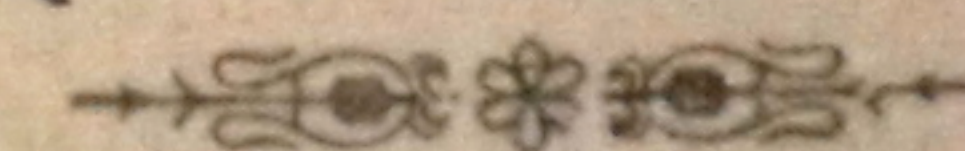
गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सत्ताम् ॥

गी०भू०-अथ परिनिष्ठितस्याञ्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-
शन्नुपसंहरति-मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-
लक्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि-
गुणवति वसुदेवसूनौ स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्धयानवच्छिन्न-
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-
स्यातिमात्रप्रियस्य ममर्चने निरतो भव ; तादृशं मामतिप्रेम्णा
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि
निवेश मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शात् सर्व्वघनाशिनी ।

गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।



दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

सारा०ब०—ऐश्वर्यं ज्ञापयित्वा चे भक्तिं यत् सप्तमादिषु ।

सरहस्यं तदेवोक्तं दशमे सविभूतिकम् ॥ (१)

आराध्यत्वज्ञानकारणमैश्वर्यं यदेव पूर्वत्र सप्तमादिपूक्तम्, तदेव सविशेषं भाक्तमतमानन्दार्थं प्रपञ्चयिष्यन् “परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्” इति न्यायेन किञ्चिद्बुद्धिबलमपि त्वया प्रकाशितम्, तथैतद्बुद्धिबलमपि सत्त्वाधिक्येन प्रकाशयितव्यमिति भावः । शृण्वति शृण्वन्तमपि तं वक्ष्यमाणोऽर्थे सम्यगवधारणार्थमेव । परमं पूर्वोक्तादप्युत्कृष्टम् । ते त्वामतिविस्मिता कर्तुः—“क्रियार्थोपपदस्य च” इति चतुर्थी, यतः, प्रीयमाणाय प्रेमबते ॥१॥

गी०भू०—सप्तमादौ निजैश्वर्यं भक्तिहेतु यदीरितम् ।

विभूतिकथनेनोत्र दशमे तत् प्रपुण्यते ॥

गी०भू०—पूर्वपूर्वत्र स्वैश्वर्यनिरूपणसंभिन्ना सपरिकरा स्वभक्तिरुपदिष्टा । इदानीं तस्या उत्पत्तये विबुद्धये च स्वासाधारणीः प्राक् संक्षिप्योक्ताः स्वविभूतीविस्तरेण वर्णयिष्यन् भगवानुवाच—भूय इति । हे महाबाहो ! भूय एव पुनरपि मे परमं वचः शृणु—शृण्वन्तं प्रति शृण्वत्युक्तिरुपदेश्येऽर्थे समबधानाय । परमं श्रीमत् महिष्यविभूतिविषयकं यद्वचस्ते तुभ्यमहं हितकाम्यया वक्ष्यामि—“क्रियार्थोपपद” इत्यादि-सूत्राच्चतुर्थी, विज्ञमपि त्वां विस्मितं कर्तुं मित्यर्थः । हितकाम्यया मद्भक्त्युत्पात्त-तद्विबुद्धिरूप-त्वत्कल्याणवाञ्छया । ते कीदृशायेत्याह—प्रीयमाणायैति पीयूषपानादिव मद्भाक्यात् प्रीतिं बिन्दते ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिहिं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

सारा०ब०—एतच्च केवलं मदनुग्रहातिशयेनैव वेद्यं नान्यथेत्याह—न मे इति । मम प्रभवं प्रकृष्टं सर्वविशेषज्ञं भवं देवक्या जन्म देवगणा न जानन्ति, ते विषयाविष्टत्वात् जानन्तु, ऋषयस्तु जानीयुस्तत्राह—न महर्षयोऽपि । तत्र हेतुः—अहमादिः कारणं सर्वशः सर्वैरेव प्रकारैः, न हि पितुर्जन्मतत्त्वं पुत्रा जानन्तीति भावः । “न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः” इत्यग्रिमानुवादादत्र प्रभव-शब्दस्यान्यार्थता न कल्प्या ॥२॥

गी०भू०—एतच्च मद्भक्तानुकम्पां विना दुर्विज्ञानमिति भाववानाह—न मे इति । सुरगणा ब्रह्मादयः महर्षयश्च सनकादयः मे प्रभवं प्रभुत्वेन भवमनादिदिव्यस्वरूपगुणविभूतिमत्तायावर्त्तनमिति यावत् न विदुर्न जानन्ति । कुत इत्याह—अहमादिरिति । यदहं तेषामादिः पूर्वकारणं सर्वेशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकतया बुद्ध्यादि-दातृतया चेत्यर्थः । देवत्वादिकमैश्वर्यादिकञ्च मयैव तेभ्यस्तत्तदाराधनतुष्टेन दत्तमतः स्वपूर्वसिद्धं मां मदैश्वर्यञ्च तेन विदुः ; श्रुतिश्चैवमाह—“को वा वेद क इह प्राबोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिरर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आवभूवेति नैतद्देवा आप्रबन्पूर्वमशत्” इति चैवमाद्या ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

अपमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

सारा०ब०—तनु परब्रह्मणः सर्वदेशकालापरिच्छिन्नस्य तवैतद्देहस्यैव जन्म देवा ऋषयश्च जानन्त्येव, तत्र स्वतर्जन्या स्ववक्तुः स्पृष्ट्वाह—यो मामिति । यो मामजं वेत्ति, किं परमेष्ठिनं न अनादिं सत्यं तर्हि अनादित्वादजमजन्यं परमात्मानं त्वां वेत्त्येव, तत्राह—चेति । अतर्जन्यं बभूवेव तन्मयश्च मामनादिमेव यो वेत्ति

इत्यर्थः । मामिति-पदेन वसुदेवजन्यत्वं बुध्यते—“जन्म कर्म च मे दिव्यम्” इति मदुक्तेः, मम जन्मवत्त्वं परमात्मत्वात् सदैवाजत्वं च इत्युभयमपि मे परमं सत्यं अचिन्त्यशक्तिसिद्धमेव । यदुक्तं—“अजोऽपि सन्नव्ययात्मा सम्भवामि” इति, तथा चोद्धव-वाक्यं—“कर्मण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते” इत्याद्यनन्तरं खिद्यति धीर्बि-
दामिह” इति, अत्र श्रीभागवतामृतकारिका च—“तत्तान्न वास्तवं चेत् स्याद्विदां बुद्धिभ्रमस्तदा । न स्यादेवेत्यतोऽचिन्त्या शक्तिर्नानासु कारणम् ॥ तस्मात् यथा मम बाल्ये दामोदरत्व-
लीलायामैकदैव किङ्किण्या बन्धनात् परिच्छिन्नत्वं दाम्ना स्वा-
बन्धादपरिच्छिन्नत्वं चातर्क्यमेव, तथैव समाजत्व-जन्मवत्त्वे चातर्क्ये एव । दुर्वोधमैश्वर्यञ्चाह—लोकमहेश्वरं तव सारथिमपि सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं यो वेद, स एव मर्त्येषु मध्ये असंमूढः, सर्वपापैर्भक्तिबिरोधिभिः । यस्तु अजत्वानादित्व-
सर्वेश्वरत्वान्येव वास्तवानि स्युर्जन्मवत्त्वादीनि तु अनुकरण-
मात्रसिद्धानीति व्याचष्टे, स संमूढ एव सर्वपापैर्न प्रमुच्यत इत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—इदं तादृशमद्विषयकं ज्ञानं कस्यचिदेव भवतीति भावेनाह—यो मामिति । मर्त्येषु यतमानेष्वपि सहस्रेषु मध्ये यो यादृच्छिक-मत्तात्वावित् सत्प्रसङ्गी कश्चिज्जनो मामनादिमजं लोक-
महेश्वरं च वेत्ति, सोऽसंमूढः सर्वपापैः प्रमुच्यत इति सम्बन्धः । अत्र ‘अजम्’ इत्यनेन प्रधानाद्विद्वर्गात् संसारिवर्गाच्च भेदः । आद्यस्य स्वपरिणामेनान्तस्य देहजन्मना च जन्मित्वात् ; ‘अना-
दिम्’ इत्यनेन विशेषिते तु मुक्तचिद्वर्गाच्च भेदस्तस्याजत्वमादिमदेव देहसम्बन्धेन जन्मित्वस्य पूर्ववृत्तित्वात्, ‘लोकमहेश्वरम्’ इत्य-
नेन नित्यमुक्तचिद्वर्गात् प्रकृतिकालाभ्याञ्च भेदस्तषामनाद्यजत्वे सत्यपि लोकमहेश्वरत्वाभावात् । पुन ‘अनादिम्’ इत्यनेन विशेष-

षिते विधि-रुद्राभ्याञ्च भेदस्तयोर्लोकमहेश्वरतायाः सादित्वान् सर्वेश्वरेणैव तयोः सेत्यन्यत्र बिस्तरः । इत्थञ्च सर्वदा हेयसम्ब-
न्धाभावान्नित्यसिद्धसर्वेश्वर्याच्च सर्वेतरबिलक्षणं यो वेत्ति, स मद्भक्त्युत्पत्तिप्रतीपैर्निखिलैः कर्मभिर्बिमुक्तो मद्भक्तिं बिन्दति ; असंमूढोऽन्यसजातीयतया मज्ज्ञानं संमोहस्तेन बिबज्जितः—न च देवकयां जातस्य ते कथमजत्वं तस्यामजत्वमबिहायैव जात-
त्वात् ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां सत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

सारा०ब०—न च शास्त्रज्ञाः स्वबुद्ध्यादिभिः सत्तत्त्वं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, यतो बुद्ध्यादीनां सत्त्वादिबन्मायागुणजन्यत्वान्मत्त एव जातानामपि गुणातीते मयि नास्ति स्वतः प्रवेशयोग्यते-
त्याह—बुद्धिः सूक्ष्मार्थनिश्चयसामर्थ्यम्, ज्ञानमात्मानात्मबिवेकः, असंमोहो वैयग्र्याभावः—एते त्रयो भावा मत्तात्त्वज्ञानहेतुत्वेन सम्भा-
व्यमाना इव, न तु हेतवः । प्रसङ्गादन्यानपि भावान् लोकेषु दृष्टान् न स्वत एवोद्भूतानाह—क्षमा सहिष्णुत्वम्, सत्यं यथार्थभाषणं, दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः, शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः—एते सात्त्विकाः । सुखं सात्त्विकम्, दुःखं तामसम्, भवाभावौ जन्ममृत्युदुःखविशेषौ, भयं तामसमभयं ज्ञानोत्थं सात्त्विकम्, राजसाद्युत्थं राजसम्, समतात्मौपम्येन सर्वत्र सुखदुःखादि-दर्शनमहिंसा-समते सात्त्विक्यौ, तुष्टिः सन्तुष्टिः, सा निरुपाधिः सात्त्विकी, सोपाधिस्तु राजसी, तपो-दानेऽपि सोपाधिनिरुपाधित्वाभ्यां सात्त्विक-राजसे, यशोऽयशस्यपि तथा । मत्ता इति—एते मन्मायातो भवन्तोऽपि

शक्तिशक्तिमतोरैक्यात् मत्त एव ॥४-२॥

गी०भू०—अथात्मनः सर्वोदित्वं सर्वेश्वरत्वञ्च प्रपञ्चयति-
बुद्धिरिति द्वाभ्याम् । 'बुद्धिः' सूक्ष्मार्थविवेचनसामर्थ्यं ; 'ज्ञानं'
चिदचिद्वस्तुविवेचनम्, 'असंमोहः' व्यग्रत्वाभावः, 'क्षमा' सहि-
ष्णुता, 'सत्यं' यथावद्वार्थविवरणं परहितभाषणम्, 'दम' अनर्थ-
विषयाच्छ्रोत्रादेर्नियमनम्, 'शमः' तस्मान्मनसः, 'सुखम्' आनु-
कूल्येन वेद्यम्, दुःखं तु प्रातिकूल्येन वेद्यम्, 'भवः' जन्म ;
'अभावः' मृत्युः, 'भयम्' आगामिदुःखकारणवीक्षणाद्विवासः,
तन्निवृत्तिः 'अभयम्', 'अहिमा' परपीडनाजनकता, 'समता'
रागद्वेषशून्यता, 'तुष्टिः' अदृष्टलब्धेन सन्तोषः, 'तपः' वेदोक्त-
कायक्लेशः, 'दानं' स्वभोग्यस्य सत्पात्रेऽर्पणम्, 'यशः' साद्-
गुण्यरूपातिः, तद्विपरीतम् 'अयशः', एवमादयो भावा भूतानां
देवमानवादीनां मत्तो मत्सङ्कल्पादेव भवन्तीत्यहमेव तेषां हेतु-
रित्यर्थः । पृथग्विधा भिन्नलक्षणा ॥४-२॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानवा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सारा०ब०—बुद्धिज्ञानासम्मोहान् स्वतत्त्वज्ञानेऽसमर्थानुक्त्वा
तत्त्वतोऽपि तत्रासमर्थानाह-महर्षयः सप्त मरीच्यादयस्तेभ्योऽपि
पूर्वेऽन्ये चत्वारः सनकादयो, मनवश्चतुर्दश स्वायम्भुवादयो
मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनः सकाशाद्भ्यो जन्म येषां ते । मानसा
मन आदिभ्य उत्पन्ना जाता अभूवन्निःश्वर्यः-येषां मरीच्यादीनां
सनकादीनाञ्चेमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्त्तमानाः प्रजाः पुत्रपौत्रा-
दिरूपाः शिष्य प्रशिष्यरूपाश्च ॥ ६ ॥

गी०भू०—इतश्चैतदेवमित्याह-महर्षय इति । सप्त भृग्वा-
दयस्तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकादय एकादशैते महर्ष-

यस्तथा मनश्चतुर्दश स्वायम्भुवादय एवं पञ्चविंशतिरन्ते मानसा
हिरण्यगर्भात्मनो मम मनःप्रभृत्येभ्यो जाता मद्भावा मच्चिन्तन-
परास्तत्प्रभावेनोपलब्ध-मज्-ज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः-येषां भृग्वा-
दीनां पञ्चविंशतेरिमा ब्राह्मणक्षत्रियादयः प्रजा जन्मना विद्यया
च सन्ततिरूपा भवन्ति ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

सारा०ब०—किन्तु भक्त्याहमेकया प्राह्यः इति मदुक्ते-
र्मदनन्यभक्त एव मत्प्रसादान्मद्भावाचि दृढमास्तिवयं दधानो मत्तत्त्वं
वेत्तीत्याह--एतां संक्षेपेणैव वक्ष्यमाणां विभूतिं योगं भक्तियोगञ्च
यस्तत्त्वतो वेत्ति, मत्प्रभोः श्रीकृष्णस्य वाक्यत्वादिदमेव परमं
तत्त्वमिति दृढतरास्तिवयवानेव यो वेत्ति सः । अविकल्पेन
निश्चलेन योगेन मत्तत्त्वज्ञानलक्षणेन युज्यते युक्तो भवेदत्र नास्ति
कोऽपि सन्देहः ॥ ७ ॥

गी०भू०—उक्तार्थज्ञानफलमाह-एतामिति । एतां विधि-
रुद्रादिदेवतासनकादिमहर्षिस्वायम्भुवादिमनुप्रमुखः कृत्स्नप्रपञ्चो
मदधीनस्थिति-प्रवृत्ति-ज्ञानैश्वर्यशक्तिको भवतीत्येवं पारमैश्वर्य-
लक्षणां विभूतिं, योगमनाद्यजत्वादिभिः कल्याणगुणरत्नैर्मम
सम्बन्धश्च यो वेत्ति सर्वेश्वरेण सर्वज्ञेन बासुदेवेनोपदिष्टमिदं
तत्त्विकं भवतीति दृढविश्वासेन यो गृह्णाति स अविकल्पेन
स्थिरेण योगेन मद्भाक्लक्षणेन युज्यते सम्पन्नो भवति-एतादृशतया
मज्ज्ञानं मद्भक्तेरुत्पादकं विबुद्धिश्चेति भावः ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

सारा०ब०—तत्र महैश्वर्यलक्षणां विभूतिमाह-अहं सर्वस्य प्राकृताप्राकृतवस्तुमात्रस्य प्रभवः उत्पत्ति-प्रादुर्भावयोः हेतुः । मत्त एवान्तर्यामिस्वरूपात् सर्वं जगत् प्रवर्त्तते चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतरात्मकात् सर्वं भक्तिज्ञानतपःकर्मैदिकं साधनं तत्तात् साध्यञ्च प्रवृत्तं भवति । ऐकान्तिक-भक्तिलक्षणं योग-माह--इति मत्त्वा आस्तिक्यतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः । भावो दास्यसख्यादिस्तदयुक्ताः ॥ ८ ॥

गी०भू०—अथ चतुःश्लोक्या परमैकान्तिनां भक्तिं ब्रुवन् तस्या जनकं पोषकं चात्मयाथात्म्यं तावदाह-अहमिति । स्वयं भगवान् कृष्णोऽहं सर्वस्यास्य विधिरुद्रप्रमुखस्य प्रपञ्चस्य प्रभवो हेतुः, एवमेवाथर्वसु पठ्यते-“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च गापयति स्म कृष्णः” इति, “अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय” इत्युपक्रम्य नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्याः” इत्यादि-एष नारायणः कृष्णो बोध्यः-“ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः” इत्याद्युत्तरपाठात् । तदाहुः-“एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्नी समौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यत्र छान्दोगैः क्रियमाणाष्टकादिसंज्ञका स्तुति-स्तोमः स्तोममुच्यते” इत्याद्युपक्रम्य प्रधानादिसृष्टिमभिधायाथ पुनरेव “नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत तस्य ध्यानान्तःस्थस्य तल्ललाटात्प्रक्ष्यः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत विभ्रच्छ्रियं सत्यं ब्रह्मचर्यं तपोवैराग्यम्” इति, तत्र “चतुर्मुखो जायते” इत्यादि च, ऋजु च-“यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधसम्” इत्यादि, मोक्षधर्मे च-“प्रजापतिं च रुद्र-

आप्यहमेव सृजामि वै । तौ हि मां न विजानीतो मम माया-विमोहितौ ॥” इति, बाराहे च-“नारायणः परोदेवस्तस्माज्जा-तश्चतुर्मुखः । तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः ॥” इति । एवञ्च मदितरनिखिलोपादाननिमित्ताभूतोऽहमित्युक्तम्, यन्मत्सम्भूतं, तत् सर्वं मत्ताः प्रवर्त्तते मदधीनप्रवृत्तिकमिति, मदन्यनिखिलनियन्ता चाहमित्युक्तम् । इति मत्त्वा ममेदृशत्वं सद्गुरुमुखान्निश्चित्य भावेन प्रेम्णा समन्विताः सन्तो बुधा मां भजन्ते ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्ति परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

सारा०ब०—एतादृशा अनन्यभक्ता एव मत्प्रसादात्तत्त्वबुद्धि-योगः पूर्वोक्तलक्षणं दुर्बोधमपि मत्तत्त्वज्ञानं प्राप्नुवन्तीत्याह-मच्चित्ता मद्गुणलीलामाधुर्यास्वादेष्वेव लुब्धमनसो ; मद्गतप्राणाः मां विना प्राणान् धर्तुमसमर्था-अज्ञगतप्राणा नरा इतिवत् ; बोधयन्तः भक्तिस्वरूपप्रकारादिकं सोहार्देन ज्ञापयन्तः, मां महामधुररूपगुणलीलामहोदधिं कथयन्तो मद्-रूपादिव्याख्यानेनोत्कीर्त्तनादिकं कुर्वन्तइत्येवं सर्वभक्ति-ध्वतिश्चेष्टयात् स्मरणश्रवणकीर्त्तनान्युक्तानि । तुष्यन्ति च रमन्ति चेति भक्त्यैव सन्तोषश्च रमणश्चेति रहस्यम्, यद्वा साधन-दशायामपि भाग्यवशात् भजने निर्विघ्ने सम्पद्यमाने सति तुष्यन्ति, तदैव भाविष्यीयसाध्यदशामनुस्मृत्य रमन्ति च मनसा स्वप्रभुणा सह रमन्ति चेति रागानुगा भक्तिर्वीतिता ॥ ९ ॥

गी०भू०—भक्तेः प्रकारमाह-मच्चित्ता इति । मच्चित्ता मत्सृ-तिपरा मद्गतप्राणा मां विना प्राणान् धर्तुमक्षमाः मीना इव विनाम्भः परस्परं मद्गुणलावण्यादि बोधयन्तस्तथा मां स्व-

भक्तवात्सल्यनीरधिमतिविचित्रचरितं कथयन्तश्चेत्येवं स्मरण-
श्रवणकीर्त्तनलक्षणैर्भजनैः सुधापानैरिव तुष्यन्ति, तथैव तेष्वेव
रमन्ते च युवतिस्मितकटाक्षादिष्विव युवानः ॥१६॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

सारा०ब०—ननु तुष्यन्ति च रमन्ति च इति त्वदुक्त्या
त्वद्भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं, किन्तु तेषां
त्वत्साक्षात्प्राप्तौ कः प्रकारः ? स च कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य
इत्यपेक्षायामाह—तेषामिति । सततयुक्तानां नित्यमेव मत्संयोगा-
काङ्क्षणां तं बुद्धियोगं ददामि तेषां हृद्बृत्तिष्वहमेव उद्भावया-
मीति, स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुमशक्यः
किन्तु मदेक-देयस्तदेकग्राह्य इति भावः । मामुपयान्ति मामुप-
लभन्ते साक्षान्मानिकटं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

गी०भू०—ननु स्वरूपेण गुणैर्विभूतिभिश्चानन्तं त्वां कथं
गुरूपदेशमात्रेण ते प्रहीतुं क्षमेरन्निति चेत्तत्राह—तेषामिति । सत-
तयुक्तानां नित्यं मद्योगं बाञ्छतां प्रीतिपूर्वकं मम याथा-
त्म्यज्ञानजेन रुचिभरेण भजताम्, तं बुद्धियोगमहं स्वभक्ति-
सुखरसिको ददाम्यर्पयामि—येन ते मामुपयान्ति तद्बुद्धिं तथाह-
मुद्भावयामि यथानन्तगुणविभूतिं मां गृहीत्वोपास्य च प्राप्नु-
वन्तीति ॥१०॥

तपामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

सारा०ब०—ननु च विद्यादिवृत्तिं विना कथं त्वदधिगमः
तस्मात्तैरपि तदर्थं यतनीयमेव ? तत्र न हि न हीत्याह—तेषामेव

न त्वन्येषां योगिनाम् अनुकम्पार्थं—मदनुकम्पा येन प्रकारेण
स्यात्तदर्थमित्यर्थः । तैर्मदनुकम्पाप्राप्तौ कापि चिन्ता न कार्य्या
यतस्तेषां मदनुकम्पा-प्राप्त्यर्थमहमेव यतमानो वर्त्त एवेति भावः ।
आत्मभावस्थः तेषां बुद्धिवृत्तौ स्थितः । ज्ञानं मदेदप्रकाशयत्वान्न
सात्त्विकं निर्गुणत्वेऽपि भक्त्युत्थज्ञानतोऽपि विलक्षणं यत्तदेव
दीपस्तेन । अहमेव नाशयामीति तैः कथं तदर्थं प्रयतनीयम् ?
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम्” इति मदुक्तेस्तेषां
व्यवहारिकः पारमार्थिकश्च सर्वोऽपि भारो मया बोद्धमङ्गीकृत
एवेति भावः ।

श्रीमद्गीता सर्वसारभूता भूतापतापहृत् ।

चतुःश्लोकीयमाख्याता ख्याता सर्वनिशर्मकृत् ॥११॥

गी०भू०—ननु चिरन्तनस्याविद्या-तिमिरस्य सत्त्वात्तेषां हृदि
कथं तत्प्रकाशः स्यादिति चेत्तत्राह—तेषामेवेति । तेषामेव मां
विना प्राणान् धर्त्तुमसमर्थानां मदेकान्तिनामेव, न तु सनिष्ठा-
नामनुकम्पार्थं मत्कृपा-पात्रत्वार्थम् । अहमेवात्मभावस्थोऽरविन्द-
कोपे भृङ्ग इव तद्भावे स्थितो दिव्यस्वरूप गुणांस्तत्र प्रकाशयन्त-
द्विषयकज्ञानरूपेण भास्वता दीपेन ज्ञानविरोध्यनादिकर्मरूपा-
ज्ञानजं मदन्यविषयस्प्रहारूपं तमो नाशयामि । तेषामेकान्तभावेन
प्रसादितोऽहं योगक्षेमबद्बुद्धिवृत्तेरुद्भावनं तद्वृत्तितमोविनाशञ्च
करोमीति तत्सर्वनिर्वाहभारो ममैवेति न तैः कुत्राप्यर्थे प्रयति-
तव्यमित्युक्तम् । नवमादि-द्वये गीतागर्भेऽस्मिन् यत् प्रकीर्त्तितं,
तदेव गीताशास्त्रार्थसारं बोध्यं विचक्षणैः ॥११॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सारा०व०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन् स्तुति-
पूर्वकमाह—परमिति । परं सर्वोत्कृष्टं धाम श्यामसुन्दरं वपुरेव
परं ब्रह्म, —“गृहदेहद्विप्रभावा धामानि” इत्यमरः । तद्धामैव
भवान् भवति । जीवस्येव तव देह-देहि-विभागो नास्तीति
भावः । धाम कीदृशम् ? परं पवित्रं द्रष्टृणामविद्यामालिन्य-
हरम्, अतएव ऋषयोऽपि त्वां शाश्वतं पुरुषमाहुः पुरुषा-
कारस्यास्य नित्यत्वं वदन्ति ॥ १२-१३ ॥

गी०भू०—संक्षेपेण श्रुतां विभूतिं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन्-
वर्जुन उवाच—परमिति । भवानेव—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”
इति श्रूयमाणं परं ब्रह्म, भवानेव—“तस्मिन्नेवाश्रिताः सर्वे तदु-
नात्येति कश्चन” इति श्रूयमाणं परं धाम निखिलाश्रयभूतं वस्तु,
भवानेव—“परमं पवित्रं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः सर्व-
पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तरति” इत्यादि श्रूयमाणं स्मर्त्तुं रखिल-
पापहरं वस्तु इत्यहं वेद्मि । तथा सर्वे तदनुकम्पिता ऋषयस्तेषु
प्रधानभूता नारदादयश्च “तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं
रसेत्तं भजेत्तं यजेत्” इति, “ओं तत् सत्” इति “जन्मजराभ्यां
भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयम्” इति श्रुत्यर्थविदस्त्वां “दिव्यं पुरुष-
मादिदेवमजं विभुम्” आहुस्तत्तत्कथा-सम्वादिषु पुराणेष्वितिहासेषु
च स्वयञ्च ब्रवीषीति—“अजोऽपि सन्नव्ययात्मा” इति, ‘यो माम-
जमनादिञ्च’ इति, ‘अहं सर्वस्य प्रभवः’ इत्यादिभिः ॥ १२-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

सारा०व०—नात्र मम कोऽप्यविश्वास इत्याह—सर्वमिति ।
किञ्च, ते ऋषयः परं ब्रह्मधामानं त्वाम् अजं आहुरेव, न
तु ते व्यक्तिं जन्म विदुः—परब्रह्मरूपस्य तव अजत्वं जन्मवत्त्वञ्च
किं प्रकारमिति तु न विदुरित्यर्थः । अतएव “न मे विदुः
सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः” इति यत्त्वयोक्तं तत् सर्वं ऋतं
सत्यमेव मन्ये । हे केशव,—को ब्रह्मा ईशो रुद्रश्च तावपि
वयसे स्वतत्त्वाज्ञानेन वध्नासि किं पुनर्देवानवाद्याः त्वां न
विदन्तीति वाच्यम् इति भावः ॥ १४ ॥

गी०भू०—सर्वमिति । एतत् सर्वमहमृतं सत्यमेव, न तु
प्रशंसाभावं मन्ये । हे केशवेति—“केशो विधिरुद्रो, वयसे स्व-
तत्त्वापरिज्ञानेन निबध्नासि प्रजापतिञ्च रुद्रञ्च” इत्यादि त्व-
दुक्तेः—हे सर्वेश्वर, हे भगवन्निरवधिकातिशयपदैश्वर्यनिधे, ते
व्यक्तिं परब्रह्मत्वादिगुणां श्रीमूर्तिं देवदानवाश्च न विदुः यत्तो-
ऽन्यस्वजातीयत्वबुद्ध्या त्वामवजानन्ति द्रुहन्ति चेति भावः ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मानात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

सारा०व०—तस्मात्त्वं स्वयमेवात्मानं वेत्थ इति एव-कारेण
तवाजत्व-जन्मवत्त्वादीनां दुर्घटानामपि वास्तवत्वमेव त्वद्वक्तो
वेत्ति तच्च केन प्रकारेणेति तु सोऽपि न वेत्तीत्यर्थः । तदप्या-
त्मना स्वेनैव वेत्थ न साधनान्तरेण । अतएव त्वं पुरुषेषु
महत्स्वप्रादिष्वपि मध्य उत्तमः, न केवलमुत्तम एव, यतो भूत-
भावनः, भूता भुतभावनरूपा ये तदादयः परमेष्ठ्यन्तास्तेषामीशः
न केवलमीश एव, यतो देवैस्तैरेव देवः क्रीडा यस्येति त्वत्कीडो-
पकरणभूता एव ते इत्यर्थः । तदप्यपारकारुण्यबशाद्जगद-
वर्तिनामस्मादृशानामपि त्वमेव पतिर्भवसीति चतुर्णां सम्बोधन-

पदानामर्थः ; यद्वा पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति-हे भूतभावन सर्वभूतपितः, पितापि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह-हे भूतेश, भूतेशोऽपि कश्चिन्नाराध्यस्तत्राह-हे देव-देव देवाराध्योऽपि कश्चिन्न पालय-तीति, तत्राह-हे जगत्पते ॥ १५ ॥

गी०भू०—स्वयमेव त्वमात्मना स्वेनैव ज्ञानेनात्मानं संवेत्थ-इदमित्थमिति जानासि, ये देवेषु दानवेषु च त्वद्भक्तास्ते तादृशीं त्वन्मूर्तिं वस्तुभूतां जानन्त्येव तस्यास्तथात्वे कथं तां न जानन्ती-त्येवकारात् । हे पुरुषोत्तम सर्वपुरुषेश्वर ! पुरुषोत्तमत्वं विवृण्वन् सम्बोधयति-हे भूतभावन सर्वप्राणिजनक ! भूतभावनोऽपि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह-हे भूतेश सर्वप्राणिनियन्तः ! भूतेशोऽपि कश्चिन्न पूज्यस्तत्राह-हे देवदेव सर्वाराध्यानामपि देवानामा-राध्य ! देवदेवोऽपि कश्चिन्न रक्षकस्तत्राह-हे जगत्पते हिताहितोप-देशेन जीविकार्पणेन च विश्वपालक । इदृशस्य ते तत्त्वं सुसिद्ध-मिति ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यारमविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

सारा०ब०—तव तत्त्वं दुर्गमस्तव विभूतिष्वेव मम जिज्ञासा जायत इति द्योतयन्नाह-वक्तुमिति । दिव्या उत्कृष्टाया आत्म-विभूतयस्तावद्बक्तुमर्हसीत्यन्वयः । नन्वशेषेण मद्विभूतयः सर्वा बक्तुमशक्या एव तत्राह-याभिरिति ॥ १६ ॥

गी०भू०—त्वत्स्वरूपयाथात्म्यं खलु कथं तथा दुर्गमेवातस्त्व-द्विभूतिष्वेव मज्जिज्ञासोपजायत इति सूचयन्नाह-वक्तुमिति । दिव्या उत्कृष्टास्तदसाधारणीयात्मनो विभूतीरशेषेण बक्तुमर्हसि-‘द्वितीयार्थे प्रथमा’, याभिर्विशिष्टस्त्वमिमान् लोकान् व्याप्य नियम्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं दिव्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

सारा०ब०—योगो योगमायाशक्तिर्वर्त्तते यस्य हे योगिन्-वनमालीतिवत् । त्वामहं कथं परिचिन्तयन् सन् त्वां सदा विद्यां जानीयाम् ? “भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः इति “त्वदुक्तेः । तथा केषु भावेषु पदार्थेषु त्वं चिन्त्यः त्वच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ १७ ॥

गी०भू०—ननु किमर्थं तत्कथनं तत्राह-कथमिति । योगो योगमायाशक्तिरस्त्यस्येति हे योगिन् ! त्वां सदा परिचिन्तयन् संस्मरन्नाहं कल्याणानन्तगुणयोगिनं कथं विद्यां जानीयाम् ? केषु केषु च भावेषु पदार्थेषु प्रकाशमानस्त्वं मया चिन्त्यो ध्येयो-ऽसि ?-तदेतदुभयं वद, तच्च बिभृत्युद्देशेनैव सेत्स्यतीति तामुप-दिशेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

सारा०ब०—ननु अहं सर्वस्य प्रभवो मत्ताः सर्वं प्रवर्त्तते इत्य-नेनैव सर्वे पदार्था मद्विभूतयः मदुक्ता एव विभूतयः तथा “इति मत्त्वा भजन्ते माम्” इति भक्तियोगश्चोक्त एव ? तत्राह-विस्तरेणेति । हे जनार्दनेति-मादृशजनानां त्वमेव हितोपदेशमाधुर्येण लोभ-मुत्पाद्य अर्हयसे याचयसीति वयं किं कुर्म इति भावः । तदुपदेशरूपममृतं शृण्वतः श्रुतिरसनया आस्वादयतः ॥ १८ ॥

गी०भू०—ननु पूर्वपूर्वत्र ‘अजोऽपि सन्’ इत्यादिनाज-त्वादिकल्याणगुणयोगो ‘रसोऽहम्’ इत्यादिना विभूतयश्चासकृत् कथिताः, किं पुनः पृच्छसीति चेत्तत्राह-विस्तरेणेति । स्फुटार्थ

पद्यम्, जनाहंनेति प्राग्वत् । त्वद्वाक्यममृतं शृण्वतः श्रोत्ररस-
नयास्वादयतो मम तृप्तिर्नास्ति, अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपहृतिः
प्रथमातिशयोक्तिर्वा तयोः सङ्करो बालङ्कारः ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नारत्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

सारा०ब०—हन्तेत्यनुकम्पायां प्राधान्यतः प्राधान्येन यत-
स्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति विभूतयो विभूतदिव्या उत्तमा
एव न तु तृणेषुकाद्याः । अत्र विभूतिशब्देन प्राकृताप्राकृत-
वस्तून्वेबोच्यते तानि सर्वाण्येव भगवच्छक्तिसमुद्भूतत्वाद्-
भगवद्रूपेणैव तारतम्येन ध्येयत्वेनाभिमतानि ज्ञेयानि ॥१९॥

गी०भू०—एवं प्रष्टुः श्रीभगवानुवाच-हन्तेत्यनुकम्पार्थकम्,
दिव्या उत्कृष्टाः, न तु तृणेषुकादयः । विभूतय इति प्राग्वत्,
प्राधान्यतः प्रधानभूताः यतस्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति, इह
विभूति-शब्देन निधामकत्वरूपाण्यैश्वर्याणि बोध्यानि—“विभू-
तिर्भूतिरैश्वर्यम्” इत्यमरकोषात् । प्राकृतान्यप्राकृतानि च वस्तूनि
भूतित्वेन वर्यानि, तानि सर्वाणि सर्वेश-शक्तिव्यङ्गत्वात्
सर्वेशात्मना तारतम्येन भाव्यानि, मतानि यानि साक्षादीश्वर-
रूपाणि तत्त्वेनोक्तानि, तानि तु तेन रूपेण भावनार्थान्येव, न
त्वन्यवत्ताच्छक्त्येकदेशरूपाणीति बोध्यं सङ्गतेरिति ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

सारा०ब०—अत्र प्रथमं मामेवैकांशेन सर्वविभूतिकारणं
त्वं भावयेत्याह-अहमिति । आत्मा प्रकृत्यन्तर्यामी महत्स्रष्टा
पुरुषः परमात्मा, हे गुडाकेश जितनिद्र इति ध्यानसामर्थ्यं

सूचयति । सर्वभूतो यो वैराजस्तस्याशये स्थित इति समष्टि-
विराडन्तर्यामी । तथा सर्वेषां भूतानामाशये स्थित इति व्यष्टि-
विराडन्तर्यामी च । भूतानामादिर्जन्म मध्यं स्थितः रन्तः
संहारः, तत्तद्धेतुरहमित्यर्थः ॥ २० ॥

गी०भू०—तत्र तावन्मामेव त्वं महत्स्रष्टादित्रिरूपेण स्वांशेन
निखिलविभूतिहेतुं विचिन्तयेत्याशयेनाह-अहमात्मेति । हे गुडा-
केशेति विजितनिद्रस्य तद्विचिन्तनक्षमत्वं व्यज्यते । आत्मा विभु-
विज्ञानानन्दो महत्स्रष्टादित्रिरूपः परमात्माहमस्मच्छब्दार्थः सर्व-
भूताशयस्थितस्त्वया विचिन्त्यः । सर्वभूता प्रधानादिपृथिव्यन्त-
तत्त्वरूपा या मूलप्रकृतिस्तस्या आशयेऽन्तः कारणोदशयरूपेणा-
हमेव प्रकृत्यन्तर्यामी स्थितः, तथा सर्वभूतः सर्वजीवाभिमानी
यो वैराजस्तस्याशये गर्भोदशयरूपेणाहमेव समष्टिविराडन्तर्यामी
स्थितः, सर्वेषां भूतानां जीवानामाशये क्षीरोदशयरूपेणाहमेव
व्यष्टिविराडन्तर्यामी स्थित इति तानि त्रीणि रूपाणि माद्विभू-
तित्वेन त्वया विचिन्तयानीत्यर्थः । सुबालोपनिषदि, “प्रकृत्यादि-
सर्वभूतान्तर्यामी सर्वशेषी च नारायणः” पठ्यते, सात्वत-
तन्त्रे त्रयः पुरुषावताराः स्मृताः—“विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि
पुरुषाख्यान्यथो विदुः । एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थि-
तम् । तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥” इति । ते
च वासुदेवस्य कृष्णस्यावताराः—“यः कारणार्णवजले भजति स्म
योग-निद्राम्” इत्यादिका ब्रह्मसंहिता-पद्यत्रयात् । भूतानामादि-
रूपचरिमध्यं पालनमन्तश्च संहारस्तत्तद्धेतुरहमेवोक्तपुरुषलक्ष्य-
स्त्वया भाव्यः ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

सारा०ब०—अथ निर्वृत्तिरूप-षष्ठ्या क्वचित् सम्बन्ध-षष्ठ्या च विभूतीराह यावदध्यायसमाप्तिः । आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुरर्हामिति-तन्नामा सूर्यो मद्भिर्भूतिरित्यर्थः ; एवं सर्वत्र प्रकाशकानां ज्योतिषां मध्ये अंशुमान् महाकिरणमाली रविरहम्, मरीचिः पवर्णविशेषः ॥ २१ ॥

गी०भू०—आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्वामनोऽहं, ज्योतिषां प्रकाशानां मध्येऽंशुमान् विश्वव्यापिरश्मीरविरहं, मरुतामूनपद्माशत्संख्यकानां मध्ये मरीचिरहं, नक्षत्राणामधिपतिः शशी सुधावर्षी चन्द्रोऽहम्, अत्र 'निर्वृत्तिरूपे षष्ठी' प्रायेण, क्वचित् सम्बन्धेऽपीति बोध्यम् ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

सारा०ब०—वासव इन्द्रो ; भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिः ॥ २२ ॥

गी०भू०—वेदानां मध्ये गीतमाधुर्येणोत्कर्षात् सामवेदोऽहं, देवानां मध्ये वासवस्तेषां राजा इन्द्रोऽहम्, इन्द्रियाणां मध्ये दुर्जयं तेषां प्रवर्त्तिकश्च मनोऽहं, भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिरहम् ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

सारा०ब०—वित्तेशः कुबेरः ॥ २३ ॥

गी०भू०—रुद्राणामेकादशानां मध्ये शङ्कराख्यो रुद्रोऽहं, यक्षरक्षसामाधिपो वित्तेशः कुबेरोऽहं, वसूनामष्टानां मध्ये पावकोऽग्निरहं, शिखरिणामत्युच्छ्रितानां मध्ये मेरुः स्वर्णाचलोऽहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामास्मि सागरः ॥ २४ ॥

सारा०ब०—सेनानीनामित्यार्षम् ; स्कन्धः कार्तिकेयः ॥ २४ ॥

गी०भू०—इन्द्रस्य सर्वराजमुख्यत्वात्तत्पुरोहितं बृहस्पतिं सर्वपतिं राजपुरोहितानां मुख्यं मां विद्धीति सोऽहमित्यर्थः, सेनानीनामिति-नुडागमस्त्वार्षः, सर्वराजसेनानां मध्ये स्कन्दः कार्तिकेयोऽहं, सरसां स्थिरजलानां मध्ये सागरोऽहम् ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

सारा०ब०—एकमक्षरं प्रणवः ॥ २५ ॥

गी०भू०—महर्षीणां ब्रह्मपुत्राणां मध्येऽतितेजस्वी भृगुरहं, गिरां पदलक्षणानां बाचां मध्ये एकमक्षरं प्रणवोऽहमस्मि, यज्ञानां मध्ये जपयज्ञोऽस्मि-तस्याहिंसात्मकत्वेनोत्कृष्टत्वात्, स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमाचलोऽहं, अत्युच्चत्वेनातिस्थैर्येण चार्थ-भेदान्मेरुहिमालययोर्विभूत्योर्भेदः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नाराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

सारा०ब०—अमृतोद्भवममृतमथनोद्भूतम् ॥ २७ ॥

गी०भू०—पूज्यत्वेन सर्ववृक्षाणां मध्ये श्रेष्ठोऽश्वत्थोऽहं, देवर्षीणां मध्ये परमभक्तत्वेनोत्कृष्टो नारदोऽहं, गन्धर्वाणां मध्ये ऽतिगायकत्वेनोत्कृष्टवाचित्ररथोऽहं, सिद्धानां स्वाभाविकाणि-

मादिपतां कपिलः काहमिमु निरहम् ॥२६॥

गी०भू०—अश्वानां मध्ये उच्चैःश्रवसं, गजेन्द्रोणां मध्ये ऐरा-
वतं च मां विद्धि-अमृतोद्भवममृतार्थकान् क्षीराविवमथनाज्जात-
मिति द्वयोर्विशेषणम्, नराधिपं राजानमसह्यतेजसं धर्मिष्ठम् ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

सारा०ब०—कामधुक् कामधेनुः ; कन्दर्पाणां मध्ये प्रजनः
प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पोऽहम् ॥ २८ ॥

गी०भू०—आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं पवित्रहं, कामधुक्
बाञ्छितपूरयित्री कामधेनुरहं, प्रजनः सन्तानोत्पादकः कन्दर्पः
कामोऽहं-रतिसुखमात्रहेतुः स नाहमिति च-शब्दात्, सर्पाणामेक-
शिरसां मध्ये वासुकिरहम् ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

सारा०ब०—यादसां जलचराणाम् संयमतां दण्डयताम् ॥२९॥

गी०भू०—नागानाममनेकशिरसां मध्येऽनन्तः शेषोऽहं,
यादसां जलजन्तूनामधिपो वरुणोऽहं, पितॄणां राजार्यमाख्यः
पितृदेवोऽहं, संयमतां दण्डयतां मध्ये न्याय्यदण्डकृत् यमोऽहं-
छादेशाभाव आर्षः ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

सारा०ब०—कलयतां वशोकुर्वताम्, मृगेन्द्रः सिंहः, वैनतेयो
गरुडः ॥ ३० ॥

गी०भू०—दैत्यानां दितिवंश्यानां मध्ये तेषामधिपतिर्भग-
वन्निष्ठातिशयाद्वरीयान् प्रह्लादोऽहं, कलयतां वशोकुर्वतां मध्ये
कालोऽहं, मृगाणां पशूनां मध्येऽतिविक्रमेणोत्कृष्टो मृगेन्द्रः सिंहो-
ऽहं, पक्षिणां मध्ये बिष्णुरथत्वेनातिश्रेष्ठो वैनतेयो गरुडोऽहम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।

ऋषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसासस्मि जान्हवी ॥३१॥

सारा०ब०—पवतां वेगवतां पवित्रीकुर्वतां वा मध्ये, रामः परशु-
रामः तस्यावेशावतारत्वादावेशानाञ्च जीवविशेषत्वाद् युक्तमेव
विभूतित्वम्, तथा च भागवतामृतधृत-पाद्मवाक्यं-“एतत्तोकं थितं
देव जा मद्गतेर्महात्मनः । शक्त्यावेशावतारस्य चरितं शाङ्गिणः
प्रभोः ॥” “आविष्टो भार्गवे चाभूत्” इति च । आवेशावतारलक्षणञ्च
तत्रैव भागवतामृते यथा-ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः ।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव सहत्तमाः ॥” इति ; ऋषाणां
मत्स्यानां मकरो मत्स्यजातिविशेषः स्रोतसां स्रोतस्वतीनाम् ॥३१॥

गी०भू०—पवतां पावनानां वेगवतां च मध्ये पवनो वायुरहं,
रामः परशुरामः, ऋषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरस्तज्जातिविशेषो-
ऽहं, स्रोतसां प्रबहज्जतानां मध्ये जान्हवी गङ्गाहम् ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमजुन ।

अध्यात्माविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सारा०ब०—सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयस्तेषामादिः
सृष्टिवन्तः संहारः, मध्यं पालनञ्च इति सृष्टिस्थितिप्रलया
मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्यर्थः । अहमादिश्च मध्यञ्चेत्यत्र सृष्ट्या-
दिकर्ता परमेश्वर एवोक्तः । विद्यानां ज्ञानानां मध्ये अध्यात्म-
विद्या आत्मज्ञानम्, प्रवदतां स्वपक्षस्थापन-परपक्षदूषणादि-

रूपजल्पवितण्डादिकुर्वतां वादस्तत्त्वनिर्णयः प्रवृत्तिसिद्धान्ते यः सोऽहम् ॥ ३२ ॥

गी०भू०—सर्गाणां महदादीनां जडसृष्टीनामादिरन्तो मध्य-
आहमिति तेषां सर्गसंहारपालनानि मद्भिभूतितया भव्यानीत्यर्थः,—
'अहमादिश्च' इत्यादौ मत्त्वांशचेतनानां भूतानां सर्गादिहेतुर्म-
द्विभूतिरित्युक्तमतो न पुनःपुनरुक्तिः ; "अङ्गानि वेदाश्चत्वारो
मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतु-
र्दश" इत्युक्तानां विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या सपरिकरपरमात्म-
निर्णेत्री चतुर्लक्षणी वेदान्तविद्याहमेवेत्यर्थः, प्रवदतां सम्बन्धी
यो वादः सोऽहं; तेषां खलु वाद-जल्प-वितण्डास्तिस्रः कथाः
प्रसिद्धाः—तत्रोभयसाधनवती विजिगीषु कथा 'जल्प', यत्रोभाभ्यां
प्रमाणेन तर्केण स्वपक्षः स्थाप्यते छल-जाति-निग्रहस्थानैः परपक्षो
दूष्यते, स्वपक्षस्थापनद्वारा परपक्षदूषणावसाना कथा 'वितण्डा',
एते प्रवदतोर्विजिगीष्वोः शक्तिमात्रपरीक्षके निष्फले तत्त्वबुभुक्षु-
कथा 'वादः'—स च तत्त्वनिर्णयफलकत्वेनोत्कृष्टत्वान्मद्विभूति-
रिति ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

सारा०ब०—सामासिकस्य समास-समूहस्य मध्ये द्वन्द्वः
उभयपदार्थप्रधानत्वेन तस्य समासेषु श्रेष्ठ्यात्, अक्षयः कालः
संहर्तृणां मध्ये महाकालो रुद्रः विश्वतोमुखश्चतुर्भयोऽहं धाता
स्रष्टृणां मध्ये ब्रह्मा ॥ ३३ ॥

गी०भू०—अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽहमकारोऽस्मि-
"अकारो वै सर्वा बाक्" इति श्रुतिश्च ; सामासिकस्य समास-
समूहस्य मध्ये द्वन्द्वोऽहं—अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीदिषूभयपदार्थ-

प्रधानता-विरहिषु मध्ये तस्योभयपदार्थप्रधानतयोत्कृष्टत्वात् ;
संहर्तृणां मध्येऽक्षयः कालः संकर्षणमुखोत्थः कालाग्निरहं,
स्रष्टृणां मध्ये विश्वतोमुखश्चतुर्वक्तो धाता विधिरहम् ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

सारा०ब०—प्रतिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वहरः सर्व-
स्मृतिहरो मृत्युहरम्, यदुक्तं—'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' इति । भविष्यतां
भावनां प्राणिबिकाराणां मध्ये उद्भवः प्रथमबिकारो जन्माहम्,
नारीणां मध्ये कीर्तिः ख्यातिः, श्रीः कान्ति, वाक् संस्कृता
वाणीति तिस्रस्तथा स्मृत्यादयश्चतस्रः च-कारात् मूर्त्यादय-
श्चान्या धर्मपत्न्यश्चाहम् ॥ ३४ ॥

गी०भू०—प्रातिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वस्मृतिहरो मृत्यु-
रहं, भविष्यतां भाविनां पण्डाणां प्राणिबिकाराणामुद्भवो जन्माख्यः
प्रथमबिकारोऽहं, नारीणां मध्ये कीर्त्यादयः सप्त मद्भिभूतयः ;
दैवता ह्येताः, यासामाभासेनापि नराः श्लाघ्या भवन्ति ; तत्र
कीर्तिर्धार्मिकत्वादिसाद्गुण्यख्यातिः, श्रीस्त्रिगुणसम्पत् काय-
द्युतिर्वा, वाक् सर्वार्थव्यञ्जका 'संस्कृतभाषा', स्मृतिरनुभूतार्थ-
स्मरणशक्तिः, मेधा बहुशास्त्रार्थविधारणशक्तिः, धृतिश्चापत्य-
प्राप्तौ तन्निवर्तनशक्तिः, क्षमा हर्षे बिषादे च प्राप्ते निर्विकार-
चित्तता ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां सार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सारा०ब०—वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तम्, तत्र साम्नामपि
मध्ये बृहत् साम—'त्वामृद्धिं हवामहे' इत्यस्यां आचि विगीय-

मानं बृहत् साम, छन्दसां मध्ये गायत्रीनाम छन्दः ; कुसुमा-
करो वसन्तः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ इत्युक्तं प्राक्, तत्रान्यं
विशेषमाह-बृहदिति । साम्नामृगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणां
मध्ये “त्वामिद्विहवामहे” इत्यस्यामृचि गीति विशेषो बृहत्साम-
तच्चातिरात्रे पृष्ठस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्यसामोत्कृष्टत्वा-
दहं, छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोर्विशिष्टानामृचां मध्ये
गायत्री ऋगहं-द्विजातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन तस्याः श्रैष्ठ्यात्,
“गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च” इति ब्रह्मावतारत्व-
श्रवणाच्च, मार्गशीर्षोऽहमित्याभिनवधान्यादिसम्पत्त्या तस्यान्येभ्यः
श्रैष्ठ्यात्, कुसुमाकरो वसन्तोऽहमिति-शीतातपाभावेन विवि-
धसुगन्धिपुष्पमयत्वेन, मदुत्सवहेतुत्वेन च तस्यान्येभ्यः श्रै-
ष्ठ्यात् ॥ ३५ ॥

द्युतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

सारा०ब०—छलयतामन्योऽन्यवच्चनपराणां सम्बन्धि द्युत-
मस्मि, जेतृणां जयोऽस्मि, व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसायो-
ऽस्मि, सत्त्ववतां बलवतां सत्त्वं बलमस्मि ॥ ३६ ॥

गी०भू०—छलयतां मिथो बद्धनां कुर्वतां सम्बन्धि द्युतं सर्वस्व-
हरमक्षदेवनाद्यहं, तेजस्विनां प्रभाववतां सम्बन्धि तेजः प्रभावोऽहं,
जेतृणां सम्बन्धी जयोऽहं, व्यवसायिनामुद्यमिनां सम्बन्धी
व्यवसायः फलबानुद्यमोऽहं, सत्त्ववतां बलिनां सम्बन्धी सत्त्वं
बलमहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

सारा०ब०—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवो मत्पिता मद्भि-
भूतिः-‘प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्’ ; ‘वृष्णीनामहमेवास्मि’ इत्य-
नुक्तेरस्यान्यार्थता नेष्टा ॥ ३७ ॥

गी०भू०—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रः सङ्कर्षणो-
ऽहं, न च वासुदेवः कृष्णोऽहमिति व्याख्येयं-तस्य स्वयंरूपस्य
विभूतित्वायोगात्, महत्स्रष्टादीनां वामनकपिलादीनाञ्च साक्षा-
दीश्वरत्वेऽपि विभूतित्वेनोक्तिः स्वांशावतारत्वात्तेन रूपेण चिन्त्य-
त्वविवक्षया वा युज्यते, स्वांशत्वं चानभिर्व्याञ्जितसर्वशक्तित्वं
बोध्यम्, पाण्डवानां मध्ये धनञ्जयस्त्वमहमस्मि-नरावतारत्वेना-
न्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्, मुनीनां देवार्थमननपराणां मध्ये व्यासो
वादरायणोऽहं-मदवतारत्वेन तस्यान्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्, कवीनां
सूक्ष्मार्थविवेचकानां मध्ये उशनाः शुक्रोऽहं-यः कविरिति
ख्यातः ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

सारा०ब०—दमनकर्त्ता, नां सम्बन्धी दण्डोऽहम् ॥ ३८ ॥

गी०भू०—दमयतां दण्डकर्त्तृणां सम्बन्धी दण्डोऽहं-येनो-
त्पथगाः सत्पथे चरन्ति स दण्डो मद्भिभूतिरित्यर्थः, जिगीषतां
जेतुमिच्छतां सम्बन्धिनी नीतिन्यायोऽहं, गुह्यानां श्रवणमनन-
निदिध्यासनानां मध्ये मौनमहं-फलाव्यवधानेन श्रवणादिभ्यां
तस्य श्रैष्ठ्यात्, ज्ञानवतां परावरतत्त्वविदां सम्बन्धी तत्त-
द्विषयकज्ञानमहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना तत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

सारा०ब०—बीजं प्ररोहकारणं यत्तदहमस्मि तत्र हेतुः—मया विना यत् स्यात् चरमचरं वा तन्नैवास्ति मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥
गी०भू०—यच्च सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं, तदप्यहम्, तत्र हेतुः—न तदिति । मया सर्वशक्तिमता परेशेन विना यच्चरमचरञ्च भूतं तत्त्वं स्यात्तन्नास्ति मृषैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

सारा०ब०—प्रकरणमुपसंहरन्ति—नान्तोऽस्तीति एष तु विस्तरो बाहुल्यमुद्देशतो नाममात्रत एव कृतः ॥ ४० ॥

गी०भू०—प्रकरणमुपसंहरति—नान्तोऽस्तीति । विस्तरो विस्तार उद्देशत एकदेशेन प्रोक्तः ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

सारा०ब०—अनुक्ता अपि त्रैकालिकीर्विभूतीः संग्रहीतुमाह—यद्यदिति । विभूतिमदैश्वर्ययुक्तम्, श्रीमत् सम्पत्तियुक्तमूर्जितं बलप्रभावाद्यधिकं सत्त्वं वस्तुमात्रम् ॥ ४१ ॥

गी०भू०—अनुक्ता विभूतीः संग्रहीतुमाह—यद्यदिति । विभूतिमदैश्वर्ययुक्तं श्रीमत्सौन्दर्येण सम्पत्त्या वा युक्तमूर्जितं बलेन युक्तं वा यद्यत् सत्त्वं वस्तु भवति, तत्तदेव मम तेजोऽंशेन शक्तिलेशेन सम्भवं सिद्धमवगच्छ प्रतीहीति स्वायत्तत्व-स्वव्याप्यत्वाभ्यां सर्वेऽभेदनिर्देशा नीता वामनादीनां तन्निर्देशास्तु सङ्गमिताः सन्ति ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाजुर्न ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाज्जुनसंबादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।



सारा०ब०—बहुना पृथक्पृथग्ज्ञातेन किं फलं समुदितमेव जानीहीत्याह—विष्टभ्येति । एकांशेनैकेनैवांशेन प्रकृत्यन्तर्ग्यामिना पुरुषरूपेणैवेदं सृष्टं जगद्विष्टभ्याधिष्ठानत्वाद्बिष्टभ्याधिष्ठातृत्वादधिष्ठाय, नियन्तृत्वान्नियम्य, व्यापकत्वाद्व्याप्य, कारणत्वात् सृष्टो स्थितोऽस्मि ॥ ४२ ॥

विश्वं श्रीकृष्ण एवातः सेव्यस्तद्वत्तया धिया ।

स एवास्वाद्यमाधुर्यं इत्यध्यायार्थ ईरितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु दशमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी०भू०—एवमवयवशो विभूतीरुपवर्ण्य सामस्त्येन ताः प्राह—अथवेति । बहुना पृथक् पृथगुपदिश्यमानेन विभूतिविषयकेण ज्ञानेन तव किं प्रयोजनम् ? हे अज्जुन ! चिदचिदात्मकं हरविरिञ्चिप्रमुखं कृत्स्नं जगदहमेकेनैव प्रकृत्याद्यन्तर्ग्यामिणा पुरुषाख्येनांशेन विष्टभ्य सृष्टृत्वात् सृष्टा धारकत्वाद्बृत्वा व्यापकत्वाद्ब्याप्य पालकत्वात् पालयित्वा च स्थितोऽस्मीति सर्जनादीनि मद्विभूतयो मद्व्याप्तेषु सर्वेष्वैश्वर्यादिसर्वाणि वस्तूनि मद्विभूतितया बोध्यानीति ॥ ४२ ॥

यच्छक्तिलेशात् सूर्याद्या भवन्त्यत्युग्रतेजसः ।

यदंशेन धृतं विश्वं स कृष्णो दशमेऽचर्यते ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये दशमोऽध्यायः ।



एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

सारा०ब०—एकादशे विश्वरूपं दृष्ट्वा संभ्रान्तधीः स्तुवन् ।

पार्थ आनन्दितो दर्शयित्वा म्वं हरिणा पुनः ॥

पूर्वाध्यायान्ते “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्” इति सर्वविभूत्याश्रयमादिपुरुषं स्वप्रियसखस्यांशं श्रुत्वा परमानन्दनिमग्नस्तद्रूपं दिदृक्षमाणो भगवदुक्तमभिनन्दति—मदनुग्रहायेति त्रिभिः । अध्यात्ममिति सप्रसन्नार्थे अव्ययीभावादात्मनीत्यर्थः । आत्मनि या या संज्ञा विभूतिलक्षणा सा संजाता यस्य तद्वचः, मोहस्त्वदैश्वर्यज्ञानम् ॥ १ ॥

गी०भू०—एकादशे विश्वरूपं विलोक्य त्रस्तधीः स्तुवन् ।

दर्शयित्वा स्वकं रूपं हरिणा हर्षितोऽर्जुनः ॥

गी०भू०—पूर्वत्र ‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः’ इति विभूतिकथनोपक्रमे ‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्’ इति तद्रूपसंहारे च निखिलविभूत्याश्रयो महत्स्रष्टा पुरुषः स्वस्य कृष्णस्यावतारः ; स तु महत्स्रष्टादिसर्वावतारीति तन्मुखात् प्रतीत्य सख्यानन्दसिन्धुनिमग्नोऽर्जुनस्तत्पुरुषरूपं दिदृक्षुः कृष्णोक्तमनुबदति,—मदिति । मदनुग्रहायाध्यात्मसंज्ञितं विभूतिविषयकं यद्वचस्तथोक्तं, तेन मम मोहः कथं विद्यामित्याद्युक्तो विगतो नष्टः । अध्यात्ममात्मनि परमात्मनि त्वयि या विभूतिलक्षणा संज्ञा सा जाता । यस्य तद्वचः—विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः—परमं गुह्यमतिरहस्यं त्वदन्यागम्यमित्यर्थः ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

सारा०ब०—अस्मिन् षट्के तु भवाप्ययौ सृष्टिसंहारी त्वत्त इति ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ इत्यादिनाऽव्ययं माहात्म्यं सृष्टादिकर्तृत्वेऽप्यधिकारासङ्गादिलक्षणा—‘मया ततमिदं सर्वम्’ इति ‘न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति’ इत्यादिना ॥ २ ॥

गी०भू०—किञ्च भवेति । हे कमलपत्राक्ष ! कमलपत्रे इवातिरम्ये दीर्घरक्तान्ते चाक्षिणी यस्येति प्रेमातिशयात् सौन्दर्यातिशयोक्तेः । त्वत्तत्त्वद्वेतुको भूतानां भवाप्ययो सर्गप्रलयौ मया त्वत्तः सकाशाद्विस्तरशोऽसकृत् श्रुतौ ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ इत्यादिनाव्ययं नित्यं माहात्म्यमैश्वर्यं च तव सर्वकर्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वं सर्वनियन्तृत्वेऽप्यसङ्गत्यमित्येवमादि त्वत्ता एव मया विस्तरशः श्रुतं—‘मया ततमिदं सर्वम्’ इत्यादिभिः ॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरपोत्तम ॥३॥

सारा०ब०—इदानीमात्मानं त्वं यथात्थ “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितः” इति, तच्चैवमेव मम नात्र कोऽप्यविश्वासोऽस्तीति भावः । किन्तु तदपि संहतार्थो बुभूवया तवैश्वरं तद्रूपं द्रष्टुमिच्छामि येनैकांशेनेश्वररूपेण त्वं जगत् विष्टभ्यवर्त्तसे, तस्यैव ते रूपमहमिदानीं चक्षुर्भ्यां द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—एवमिति—‘विष्टभ्याहमिदम्’ इत्यादिना यथा तमात्मानं स्वमात्थ ब्रवीषि तदेतदेवमेव न तत्र मे संशयलेशोऽपि,

तथापि तवैश्वरं सर्वप्रशास्तु तद्रूपमहं कौतुकाद्द्रष्टुमिच्छामि ।
हे परमेश्वर, हे पुरुषोत्तमेति सम्बोधयन् मम तद्दिदृक्षां जाना-
स्येव, तां पूरयेति व्यञ्जयति-मधुररसास्वादिनः कटुरसजिघृक्षा-
बन्धवन्माधुर्यानुभविनो मे त्वदैश्वर्यानुबुभूषाम्युदेतीति भावः ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

सारा०ब०--योगेश्वरेति-अयोग्यस्यापि मम तद्दर्शनयोग्य-
तायां तव योगैश्वर्यमेव कारणमिति भावः ॥ ४ ॥

गी०भू०--ऐश्वर्यदर्शने भगवत्सम्पत्तिं गृह्णाति-मन्यसे
यदिति जानासीच्छसि वेत्यर्थः । हे प्रभो-सर्वस्वामिन् ! योगे-
श्वरेति सम्बोधयन्नयोगस्य मे त्वद्दर्शने त्वच्छक्तिरेव हेतुरिति
व्यञ्जयति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच-

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

सारा०ब०--ततश्च स्वांशस्य प्रकृत्यन्तर्यामिनः प्रथमपुरुषस्य
"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इति पुरुषसूक्त-
प्रोक्तं रूपं प्रथममिदं दर्शयामि, पश्चात् प्रस्तुतोपयोगित्वेन
तस्यैव कालरूपत्वमपि ज्ञापयिष्यामीति मनसि विमृष्य अञ्जुनं
प्रति सावधानो भवेत्यभिमुखो करोति । पश्येति रूपाणीति
एकस्मिन्नपि मत्स्वरूपे शतशो मत्स्वरूपाणि मद्भिभूतीः ॥ ५ ॥

गी०भू०--एवमभ्यर्थितो भगवान् प्रकृत्यन्तर्यामिणं सहस्र-
शिरसं प्रशास्तृत्वप्रधानं देवाकारं स्वांशं प्रदर्शयितुं प्रकृतोप-
योगित्वात्तत्रैव कालात्मकताञ्च बोधयितुमञ्जुनमवधापयतीत्याह-

पश्येति चतुर्षु । 'पश्य' इति पदावृत्तिर्दर्शनीयानां रूपाणाम-
त्यदुतत्वद्योतनार्था च बोध्या । मे मम सहस्रशीर्षाकारेण भास-
मानस्यैकस्यैव शतानि सहस्राणि च विभूतिभूतानि रूपाणि
पश्य 'अहं लोट्'-तानि प्रष्टुमर्हो भवेत्यर्थः ॥६॥

पश्यादित्यान्वसन्नद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

वह्न्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्वर्याणि भारत ॥६॥

गी०भू०--तान्येकदेशतः प्राह-पश्यादित्यानि हि द्वाभ्याम् ।
अदृष्टपूर्वाणीति तयान्यैश्च पूर्वमदृष्टानि आश्चर्याण्यदुतानि ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

सारा०ब०--परिभ्रमता त्वया वर्षकोटिभिरपि प्रष्टुमशक्यं
कृत्स्नमपि जगत् इह प्रस्तावे एकस्मिन्नपि मद्देहावयवे तिष्ठति
इति एकस्थं यच्चान्यत् स्वजयपराजयादिकञ्च ममास्मिन् देहे
जगदश्रयभूतकारणरूपे ॥ ७ ॥

गी०भू०--किञ्चेह मम देहे एकस्थमेकदेशस्थितं सचराचरं
कृत्स्नं जगत्त्वमद्याधुनैव पश्य ; यत्तत्र तत्र परिभ्रमता त्वया
वर्षायुतैरपि द्रष्टुमशक्यं, तदैकदैवैकत्रैव मदनुग्रहादवलोकस्वे-
त्यर्थः । यच्च जगदाश्रयभूतं प्रधानमहदादिकारणस्वरूपं स्वजय-
पराजयादिकं चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि, तदपि पश्य ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

सारा०ब०--इदमिन्द्रजालं मायामयं वा रूपमित्यञ्जुनं मा
मन्यताम्, किन्तु साविदानन्दमयमेव स्वरूपमन्तर्भूतसर्वजगत्-

कमतीन्द्रियत्वेनैव विश्वसितुमित्येतदर्थमाह-न त्विति । अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा मां चिद्घनाकारं द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषीत्यतस्तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्ददामि, तेनैव पश्येति प्राकृतनरमाननमञ्जुनं कर्मापि चमत्कारं प्रापयितुमेव ; यतो ह्यञ्जुनो भगवत्पार्षदमुख्यत्वात् नरावतारत्वाच्च प्राकृत-नर इव न चर्मचक्षुष्कः । किञ्च साक्षाद्भगवन्माधुर्यमेव यः स्वचक्षुषा साक्षादनुभवति, सोऽञ्जुनो भगवदंशं द्रष्टुं तेनाशक्नुवन् दिव्यं चक्षुर्गृन्हीयादिति कः खलु न्यायः ? एके त्वेवमाचक्षते -भगवतो नरलीलत्वमहामाधुर्यैवग्राहि सर्वोत्कृष्टं यद्भवति, तच्चक्षुरनन्यभक्त इव भगवतो देवलीलत्वसम्पदं नैव गृन्हाति, न हि सितोपलरसास्वादिनी रसना खण्डं गुडं वा स्वादयितुं शक्नोति । तस्मादञ्जुनाय तत्प्रार्थितश्चमत्कारविशेषं दातुं देव-लीलत्वमयैश्वर्यं जिग्राहयिषुर्भगवान् प्रेमरसाननुकूलं दिव्य-ममानुषमेव चक्षुर्ददाति । तथा दिव्यचक्षुर्दानाभिप्रायोऽध्या-यान्ते व्यक्तीभविष्यतीति ॥ ८ ॥

गी०भू०—‘मन्यसे यदि तच्छक्यम्’ इत्यञ्जुनप्रार्थितं सम्पा-दयन्निरतं, बिस्मितं कर्तुं तस्मै स्वदेवाकारग्राहि दिव्यं चक्षुर्भग-वान् ददावित्याह-न तु मामिति । अनेनैव मन्माधुर्यैकान्तेन स्वचक्षुषा युगपद्विभातसहस्रसूर्यप्रख्यं सहस्रशिरस्कं मां द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषि ; अतस्ते दिव्यं चक्षुर्ददामि-यथाहमा-त्मानमतिप्रवाहाक्रान्तं व्यनाम्, तथा त्वच्चक्षुश्चेति भावः ; तेन ममैश्वरं योगं रूपं पश्य-‘युज्यते अनेन’ इति व्युत्पत्तोर्योगो रूपं-‘परमं रूपमैश्वरम्’ इत्यप्रिमाच्च ; अत्र दिव्यं चक्षुरेव दत्तं, न तु दिव्यं मनोऽपीति बोध्यम् ; तादृशे मनसि दत्तो, तस्य तद्रूपे रुचिप्रसङ्गादिह दिव्यदृष्टिदानेन लिङ्गेन पार्थसारथिरूपात् सह-स्रशिरसो विश्वरूपस्याध्वयमिति यद्वदन्ति तत्त्वमे निररयम् ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

सारा०ब०—विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत् ॥ ११ ॥
गी०भू०—एवमुक्त्वा हरिः पार्थाय विश्वरूपं दर्शितवान् । तच्च रूपं वीक्ष्य पार्थो हरिमेवं विज्ञापितवानितीममर्थं सञ्जयः प्राह-
एवमिति षड्भिः । ततो दिव्यचक्षुर्दानानन्तरं हे राजन् धृतराष्ट्र !
महांश्चासौ योगेश्वरश्च हरिः ॥ ९ ॥

गी०भू०—अनेकेति - अनेकानि सहस्राणि वक्त्राणि नय-
नानि च यस्य तद्रूपं-‘सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ति’ इत्यप्रिमा-
वाक्यात्, इहानेक-बहु-सहस्र-शब्दा असंख्येयार्थ-वाचिनः-
‘विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः’ इत्यादिज्ञापकात्, अनेकानामद्भु-
तानां दर्शनं यत्र तत् दिव्यो गन्धो यत्र तादृगनुलेपनं यस्य तत्, देवं द्योतमानमनन्तमपारं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत् ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशो सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

सारा०ब०—एकदैव यदि भाः कान्तिरुत्थिता भवेत्, तदा तस्य महात्मनो विश्वरूपपुरुषस्य भासः प्रभायाः कान्तेः कथञ्चित् सदृशी भवेत् ॥ १२ ॥

गी०भू०—तद्दीप्तैर्नैरुपम्यमाह—दिवीति । दिवि आकाशे युग-
पदुत्थितस्य सूर्यसहस्रस्य भाः कान्तिश्चेद्युगपदुत्थिता भवेत्तर्हि
सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य हरेर्भास एकस्याः कान्तेः सदृशी
स्यात्तादेति—सम्भावनायां लट् । अद्भुतोपमेयमुच्यते तयोत्प्रेक्षा
व्यङ्गा सती सर्वथा तत्कान्तेर्नैरुपम्यं व्यञ्जयति । तादृगरूपं
दर्शयामासेति पूर्व्वेणान्वयः ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

सारा०ब०—तत्र तस्मिन् युद्धभूमामेव देवदेवस्य शरीरे
जगत् ब्रह्माण्डं कृत्स्नं सर्वमेव गणयितुमशक्यमित्यर्थः । प्रवि-
भक्तं पृथक्पृथक्तया स्थितमेकस्थमेकदेशस्थं प्रतिरोमकूपस्थं
प्रतिकुक्षिस्थं वेत्यर्थः । अनेकधा मृन्मयं हिरण्मयं माण्मयं
वा पञ्चाशत्कोटियोजनप्रमाणं शतकोटियोजनप्रमाणं लक्षकोट्या-
दियोजनप्रमाणं वेत्यर्थः ॥ १३ ॥

गी०भू०—ततः किमभूदित्यपेक्षायामाह—तत्रेति । तत्र युद्ध-
भूमौ देवदेवस्य कृष्णस्य व्याञ्जितसहस्रशिरस्के शरीरे श्रीविप्रहे
कृत्स्नं निखिलं जगद्ब्रह्माण्डं तदा पाण्डवोऽपश्यत् । प्रविभक्तं
पृथक्पृथक्भूतमेकस्थमिति प्राग्वत्, अनेकधेति मृन्मयं स्वर्णमयं
रत्नमयं वा लघुमध्ये बृहद्भूतं वेत्यर्थः ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच —

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यन् ॥१५॥

सारा०ब०—भूतविशेषानां जरायुजादीनां सङ्घान्, कमला-
सनस्थं पृथ्वीपद्मकर्णिकायां सुमेरौ स्थितं ब्रह्माणम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—एवं कृष्णतत्त्वविदञ्जुनस्तस्मिन् सत्त्वेन ज्ञातं
सहस्रशीर्षत्वमधुना वीक्ष्याद्भुतं रसमन्वभूदित्याह—तत इति — तं
व्याञ्जित-तद्रूपं कृष्णं बिलोकयेत्यर्थः । धनञ्जयेति — धीरोऽपि
विस्मयेनाविष्टो हृष्टरोमा पुलकितो देवं शिरसा भूतगनेन प्रणम्य
कृताञ्जलिः सन्नभाषत् । अत्र भयनेत्रसम्बरणादिकं तस्य नाभूत
किन्वद्भुतो रसोऽभ्युदैदिति व्यञ्जते । इह तादृशो हरिरालम्बनो
मुहुर्मुहुस्तद्वीक्षणमुदीपनं प्रणतिपाणियो गावनुभावो, रौमाञ्चः
सार्विकस्तैराक्षिप्ता मतिधूर्तिहर्षादयः—सञ्चारिणः, एतैरालम्ब-
नाद्यैः पुष्टो विस्मयस्थायिभावोऽद्भुतरसः ॥१४॥

गी०भू०—किमभाषत तदाह—पश्यामीति सप्तदशभिः । तथा
भूतविशेषाणां जरायुजादीनां सङ्घान् पश्यामि ब्रह्माणं चतुर्मुखं,
कमलासने चतुर्मुखे स्थितं तदन्तर्यामिण्मीशं गर्भोदकशयसुर-
गान् वासुक्यादीन् सर्पान् ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्व विश्वरूप ॥१६॥

सारा०ब०—हे विश्वेश्वर, आदिपुरुष ॥ १६ ॥

गी०भू०—यत्र देहे देवादीन् दृष्ट्वांस्तं विशिनष्टि—अनेकेति ।
हे विश्वरूप ! प्रथम-पुरुष ! ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

गी०भू०—विधान्तरेण तमेव विशिनष्टि-किरीटिनमिति ।
दुर्निरीक्ष्यमपि त्वामहं पश्यामि-तत्प्रसादादिव्यचक्षुर्लाभात्,
दुर्निरीक्ष्यतायां हेतुः-समन्तादीप्तानलेति, अप्रमेयमिदमित्यमिति
प्रमातुमशक्यम् ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

सारा०ब०—वेदितव्यं मुक्तैर्ज्ञेयं यदक्षरं ब्रह्मतत्त्वम्, निधानं
लयस्थानम् ॥ १८ ॥

गी०भू०—अचिन्त्यमद्वैतव्यवस्थानात्त्वमहमेवं निश्चिनोमी-
त्याह-त्वमिति । “अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते”, “यत्तद-
दृश्यम्” इत्यादि-वेदान्तवाक्यैर्वेदितव्यं यत् परमं सश्रीकमक्षरं
तत्त्वमेव निधानमाश्रयोऽव्ययस्त्वमविनाशी, शाश्वतधर्मगोप्ता
वेदोक्तधर्मपालकस्त्वं—“स कारणं कारणाधिपाधिपो न
चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः” इति मन्त्रवर्णोक्तः सनातनः
पुराणः पुरुषस्त्वमेव ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुः शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

सारा०ब०—अनादीत्यत्र महाविस्मयरससिन्धुनिमग्नस्या-
ब्जुनस्य वचसि पौनरुक्त्यं न दोषाय ; यदुक्तम्-‘प्रमादे
विस्मये हर्षे द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति’ ॥ १९ ॥

गी०भू०—अनादीति आदिमध्यावसानशून्यमनन्तानि वी-
र्याणि तदुपलक्षितानि समग्राण्यैश्वर्याणि षट् यस्य तमनन्त-
बाहुं सहस्रभुजं शशिसूर्योपमानि नेत्राणि यस्य तं-देवादिषु
प्रणतेषु प्रसन्ननेत्रं तद्विपरीतेषु असुरादिषु क्रूरनेत्रमित्यर्थः ;

दीप्तहुताशोपमानि संहारानुगुणानि वक्त्राणि यस्य तम् । अब्जु-
नस्य वाक्ये क्वचित् पुनरुक्तिस्तस्य विस्मयाविष्टत्वात्त दोषाय ;
यदुक्तं-“प्रमादे विस्मये हर्षे द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति” इति ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन ॥२०॥

सारा०ब०—अथ प्रस्तुतोपयोगित्वात्तस्यैव रूपस्य कालरूपत्वं
दर्शयामास-द्यावेत्यादि-दशभिः ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ तस्यैव रूपस्य प्रस्तुतोपयोगित्वेन कालरूपतां
दर्शितवानित्याह-द्यावेति दशभिः । द्यावापृथिव्योरन्तरमन्तरीक्षं
तथा सर्वा दिशश्चैकेन त्वया व्याप्तम्, तवेदमपरिमितमद्भुत-
मुग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं भीतं संचलञ्च भवति । हे
महात्मन् सर्वाश्रय ! अत्रेदमवगम्यते-तदा युद्धदर्शनाय ये
त्रैलोक्यस्था मित्रोदासीना देवासुरा गन्धर्वकिन्नरादयः समा-
गतास्तैरपि भक्तिमद्भिर्भगवद्भक्तादिव्यनेत्रैस्तद्रूपं दृष्टं, न त्वेकेनै-
वाब्जुनेन स्वपतेव स्वाप्रिकरथादीनि-निजैश्वर्यस्य बहुसाक्षि-
कतार्थमेतत् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति

केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

सारा०ब०—त्वा त्वाम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—अमी सुरसङ्घास्त्वां शरणं विशन्ति, तेषु केचि-
द्भीता दूरतः स्थित्वा प्राञ्जलयः सन्तो गृणन्ति ‘पाहि पाहि प्रभो-

ऽस्मान्' इति प्रार्थयन्ते, महतीं भीतिमालदय महर्षिसङ्घाः
सिद्धसङ्घाश्च 'विश्वस्य स्वस्त्यस्तु' इत्युक्त्वा स्तुवन्ति ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वेयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

सारा०ब०—उष्माणं पिवन्तीत्युष्मपाः पितरः—“उष्मभागा
हि पितरः” इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

गी०भू०—रुद्र इति स्फुटम् । उष्मपाः पितरः—“उष्माणं
पिवन्ति” इति निरुक्तेः, “उष्मभागा हि पितरः” इति श्रुतेश्च ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहुरूपादम् ।

बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

गी०भू०—लोकत्रयं प्रव्यथितम्' इत्युक्तमुपसंहरति—रूपं मह-
दिति । बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालं रौद्रम्, स्फुटमन्यत्, तथाहमित्य-
स्योच्चारेण सम्बन्धः ॥२३॥

नमः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमंच विष्णो ॥

सारा०ब०—शममुपशमम् ॥ २४ ॥

गी०भू०—तथैतद्रूपोपसंहारफलकं दैन्यं प्रकाशयन्नाह—नमः-
स्पृशमिति द्वाभ्याम् । अहञ्च त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा भीतो-
द्विग्नमनाः सन् धृतिमुपशमं च न विन्दामि न लभे, हे विष्णो !
कीदृशम् ?—नमःस्पृशमन्तरीक्षव्यापिनं व्यात्ताननं विस्तृतास्यम्,
व्यक्तार्थमन्यत् । अत्र कालरूपत्वदर्शनहेतुको भयानकरसः स्व-
स्योक्तः ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जानं न लभे व शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

गी०भू०—दंष्ट्रेति - कालानलः प्रलयाम्निस्तत्सन्निभानि
तत्तुल्यानि, शर्म सुखम् ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भोष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२६॥

गी०भू०—‘यच्चान्यद्दृष्टुमिच्छसि’ इत्यनेनास्मिन् युद्धे
भविष्यज्जगद्यपराजयादिकञ्च मद्देहे पश्येति यद्भगवतोक्तं तदधुना
पश्यन्नाह—अमी चेति पञ्चभिः । अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधना-
दयः सर्वे अर्वाविनिपालसङ्घैः शस्यजयद्रथादिभूपवृन्दैः सह
त्वरमाणाः सन्तस्ते वक्त्राणि विशन्तीत्युत्तरेणान्वयः । अजे-
यत्वेन ख्याता ये भीष्मादयस्तेऽपि, असांभति सर्वदेव
मद्विद्वेषीत्यर्थः, सूतपुत्रः कर्णः, न केवलं त एव किन्त्वस्मदीया ये
योधमुख्या धृष्टद्युम्नादयस्तैः सहेति—तेऽपि प्रविशन्तीति सहोक्त-
रलङ्कारः । केचिदिति तेषां मध्ये केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्मस्तकैः
सहिता दशनान्तरेषु दन्तसन्धिषु विलग्नाः संदृश्यन्ते मया ॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समुद्रवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः स्तवापि वक्त्राणि समुद्रवेगाः ॥

गी०भू०—प्रवेशे दृष्टान्ताबाह-यथेति द्वाभ्याम् । तत्र प्रथ-
मोऽधीपूर्वके प्रवेशे, द्वितीयस्तु धीपूर्वके बोध्यः ॥३८॥

गी०भू०—ज्वलनं बहिम् ॥३९॥

लेलिह्यसे प्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

गी०भू०—योद्धृणां तन्मुखप्रवेशे प्रकारमुक्त्वा तस्य
तद्भासां च तत्र प्रवृत्तिप्रकारमाह-लेलिह्यस इति । वेगेन प्रविशतः
समग्रान् लोकान् दुर्योधनादीन् ज्वलद्भिर्वदनैर्प्रसमानो गिलन्
समन्तादूषावेशेन लेलिह्यसे तद्रुधिरोक्षितमोष्ठादिकं मुहुर्मुहु-
र्लेच्छि । तवोग्रा भासो दीप्तयोऽसह्यस्तेजोभिः समग्रं जगदापूर्य
प्रतपन्ति । हे विष्णो ! विश्वव्यापिन् ! त्वत्ताः पलायनं दुर्घट-
मित्यर्थः ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

गी०भू०—एवं विश्वरूपं व्यञ्जितकालशक्तिं भगवन्तमुपवर्ण्य
तत्तात्त्वाविदप्यञ्जुनः स्वज्ञानदाढ्याय पृच्छति-आख्याहीति ।
'दर्शयात्मानमव्ययम्' इति सहस्रशीर्षादिलक्षणमैश्वरं रूपं दर्श-
यितुमर्थितेन भगवता तद्रूपं प्रदर्श्य तस्य पुनरतिघोरा संहर्त्ता
प्रदर्श्यते । तत्रोग्ररूपो भवान् क इत्याख्याहि कथय । हे देववर !
ते नमोऽस्तु, प्रसीद त्यजोग्ररूपताम् । आद्यं भवन्तमहं विशेषेण
ज्ञातुमिच्छामि, तव प्रवृत्तिं चेष्टाञ्च न हि प्रजानामि-किमथमेवं
प्रवृत्तोऽसीति तत्प्रयोजनं चाख्याहीति ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

गी०भू०—एवमर्थितो भगवानुवाच-कालोऽस्मीति । प्रवृद्धो
व्यापी, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योप-
सेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥" इति श्रुत्या यः कीर्त्यते स
कालोऽहमित्यर्थः । इह समये लोकान् दुर्योधनादीन् समाहर्त्तुं
प्रसितुं प्रवृत्तं मां मत्प्रवृत्तिफलञ्च जानीहि-त्वामपि युधिष्ठिरा-
दीश्च ऋते सर्वे न भविष्यन्ति न जीविष्यन्ति, यद्वा, ननु
रणान्निवृत्ते मयि तेषां कथं क्षयः स्यादिति चेत्तत्राह-ऋतेऽपीति ।
त्वां योद्धारमृते त्वद्युद्धव्यापारं विनापि सर्वे न भविष्यन्ति-
मरिष्यन्त्येव कालात्मना मया तेषां आयुर्हरणात् । के ते सर्वे
इत्याह-प्रत्यनीकेषु परम्परयोर्ये भीष्मादयोऽवस्थिताः, युद्धाभि-
वृत्तस्य तव तु स्वधर्मच्युतिरेव भवेदिति ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

गयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

गी०भू०—यस्मादेवं, तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ स्वधर्माय युद्धात्
यशो लभस्व-सुरदुर्जया भीष्मादयोऽञ्जुनेन हेलयैव निज्जिता
इति दुर्लभं कीर्तिं प्राप्नुहि । पूर्वं द्रौपद्यामपराधसमये एव
मयैते निहतास्त्वद्यशसे यन्त्रप्रतिमावत् प्रवर्त्तन्ते, तस्मात् त्वं
निमित्तमात्रं भव । हे सव्यसाचिन् !-सव्येनापि हस्तेन बाणान्
सञ्चितुं सन्धातुं शीलमस्येति युद्धनिर्भरे प्राप्ते हस्ताभ्यामिषु-

वर्षित्यर्थः ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

गी०भू०—‘यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः’ इति स्वविजये
संशयं माकार्षीरित्याशयेनाह-द्रोणञ्चेति । मया हतान् हतायुधो
द्रोणादींस्त्वं जहि मारय, मा व्यथिष्ठाः कथमेतान् दिव्यास्त्र-
सम्पन्नानेकः शक्नोम्यहं विजेतुमिति भयं मा गाः-मृतानां
मारणे कः श्रम इत्यर्थः । भयं हित्वा युध्यस्व रणे सपत्नान्
रिपून् जितासि जेष्यासि ॥३४॥

संजय उवाच--

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूव एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

सारा०ब०--नमस्कृत्वेत्यार्षम् ॥ ३५ ॥

गी०भू०--ततो यदभूत्तत् सञ्जय उवाच-एतदिति । केश-
वस्यैतत् पद्यत्रयात्मकं वचनं श्रुत्वा किरीटी पार्थः वेपमानो-
ऽत्यद्भुतात्युग्ररूपदर्शनजेन संभ्रमेण सकम्पः, नमस्कृत्वेत्यार्ष-
कृष्णं नमस्कृत्य, पुनः प्रणम्य, भीतभीतोऽतिभयाकुलः सन् भूयः
पुनरप्याह सगद्गदं गद्गदेन कण्ठकम्पेन सहितं यथा स्या-
त्तथा ॥३५॥

अर्जुन उवाच--

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्गाः ।

सारा०ब०-- भगवद्विप्रहृष्यातिप्रसन्नत्वमतिघोरत्वञ्चेदमुन्मु-

तविषयकमिति सहसेव ज्ञात्वा तदेव तत्त्वं व्याचक्षाणः स्तौति-
स्थान इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थः । हे हृषीकेश, स्वभक्तेन्द्रियाणाञ्च
स्वाभिमुख्ये स्वमुख्ये च प्रवर्त्तिक, तव प्रकीर्त्या त्वन्माहा-
त्म्यसंकीर्त्तनेन जगदिदं प्रहृष्यत्यनुरज्यते अनुरक्तं भवतीति
युक्तमेव जगतोऽस्य त्वदौन्मुख्यादिति भावः । तथा रक्षांसि
रक्षोऽमुरदानवपिशाचादीनि भीतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिशः
प्रतिपलायन्त इत्येतदपि स्थाने युक्तमेव तेषां त्वद्वैमुख्यादिति
भावः । तथा त्वद्भक्त्या ये सिद्धास्तेषां सङ्ख्याः सर्वे नमस्यन्ति
चेत्यापि युक्तमेव तेषां त्वद्भक्तत्वादिति भावः । श्लोकोऽयं
रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः ॥ ३६ ॥

गी०भू०--परेशस्य सख्युः कृष्णस्यातिरम्यत्वमत्युग्रत्वञ्च तत्र
रत्नबद्ध्युगपदेव बीज्य तदुभयं स्वसम्मुख-स्वविमुखविषयमिति
विद्वानर्जुनस्तदनुरूपं स्तौति-स्थान इत्येकादशभिः । युक्तमित्य-
र्थकं स्थान इत्येदन्तमव्ययम्, हे हृषीकेशेति-सम्मुखविमुखेन्द्रि-
याणां साम्मुख्ये वैमुख्ये च प्रवर्त्तिकेत्यर्थः । युद्धदर्शनायागतं
देवगन्धर्वसिद्धविद्याधरप्रमुखं त्वत्सम्मुखं जगत्ताव दुष्टसंहर्त्ता-
त्वरूपया प्रकीर्त्या प्रहृष्यत्यनुरज्यते चेति युक्तमेतत् । दुष्टस्व-
भावानि त्वद्विमुखानि रक्षांसि राक्षसासुरदानवादीनि देवाद्यु-
द्गीतया तत्प्रकीर्त्या भीतानि भूत्वा दिशः प्रति द्रवन्ति पला-
यन्त इति च युक्तम्-तव प्राणिभावानुसारि-रूपप्रकाशित्वादिति
भावः । तदित्थं शिष्टशिष्टानुग्रहकारितां तव बीज्य त्वद्भक्ताः
सिद्धसङ्गाः सर्वे सनकादयो नमस्यन्ति ‘जय जय भगवान्’
इत्युदीरयन्तः प्रणमन्तीति च युक्तं तव भक्तमनोहारित्वात् ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकत्रै ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

सारा०ब०--ते कस्मान्न नमेरन्, अपि तु नमेरन्नेव,--
आत्मनेपदमार्थम् । सत् कार्यमसत् कारणाच्च ताभ्यां परं यदक्षरं
ब्रह्म तत् त्वम् ॥ ३७ ॥

गी०भू०--अथ भगवतः सर्व्वनमस्तत्त्वमभिदधत् सर्व्व-
व्यापित्वात् सर्व्वार्त्तकतां प्रतिपादयति--कस्माच्चेति चतुर्भिः ।
हे महात्मन् दारमते ! हे अनन्त सर्व्वव्यापिन् ! हे देवेश सर्व्व-
देवनियन्तः ! हे जगन्निवास सर्व्वश्रय ! ते सिद्धसङ्घास्ते तुभ्यं
कस्माद्धेतोर्न नमेरन्-आत्मनेपदं छान्दसम्, अपि तु प्रणमेयु-
रेव ते । कीदृशायेत्याह-ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतराय यस्मा-
दादिकर्त्रे तत्त्वसृष्टिकरायेति नमस्तत्त्वेऽनेके हेतवः सन्तीति समु-
च्चयालङ्कारः, किञ्च, यदक्षरं प्रकृतिसंसर्गि-जीवात्मवस्तु यच्च सद-
सत्कार्यकारणावस्थं स्थूलसूक्ष्मभूतं प्रकृतितत्त्वं, तत्परं यदिति ।
तस्मात् प्रकृतिसंसृष्टाजीवात्मतत्त्वात् प्रकृतितत्त्वाच्चोक्तरूपात्
परमुत्कृष्टं भिन्नं च यन्मुक्तजीवात्मतत्त्वं, तच्च त्वमेव सर्व्वरूप
इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परञ्च धाम त्वया तत् विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३८ ॥

सारा०ब०--निधानं लयस्थानं परं धाम गुणातीतं स्वरूपम् ॥ ३८ ॥

गी०भू०--त्वमिति - परं निधानं परमाश्रयो--'निधीयते-
ऽस्मिन्' इति निरुक्तेः । जगति यो वेत्ता, यच्च वेद्यं, तदुभयं त्व-
मेव । कुत एवमिति चेत्तत्राह--यत्त्वया विश्वमिदं तत् तद्व्या-
पित्वादित्यर्थः, यच्च परं धाम परमव्योमाख्यं प्राप्यस्थानं तदपि
त्वमेव पराख्यत्वच्छक्तिवैभवत्वात्तस्य धाम्नः ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सदस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

सारा०ब०--सर्व्वं स्वकार्यं जगदाप्नोषि व्याप्नोषि स्वर्गमिव
कटककुण्डलादिकमतस्त्वमेव सर्व्वः ॥ ३९ ॥

गी०भू०--अतः सर्व्वशब्दवाच्यस्त्वमित्याह-वायुरिति ।
सर्व्वदेवोपलक्षणं वाय्वादिसर्व्वदेवरूपस्त्वं प्रजापतिश्चतुरास्यः
पितामहस्त्वं तत्पितृत्वात् प्रपितामहस्त्वं भवसि कङ्कणादिषु कन-
कस्येव चिदचिच्छक्तिमतस्तव कारणस्य वाय्वादिषु व्याप्ते-
स्तत्तात् सर्व्वरूपस्त्वमतः सर्व्वनमस्योऽसीति मया त्वं नमस्त्यसे
इत्याह-नमो नम इति ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अज्ञानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहापार्थमसत्कृतोऽसि बिहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

सारा०ब०--हन्त हन्तैतादृश-महामहैश्वर्यमत्त्वय्यहं कृत-
महापराधपुञ्जोऽस्मीत्यनुतापमाविष्कुर्वन्नाह-सखेतीति । हे
कृष्णेति--त्वं बसुदेवनाम्नो नरस्यार्द्धरथत्वेनाप्यप्रसिद्धस्य पुत्रः
कृष्ण इति प्रसिद्धः । अहन्तु नरपतेः पाण्डोरतिरथस्य पुत्रोऽञ्जुन
इति प्रसिद्धः । हे यादवेति-यदुवंश्यस्य तव नास्ति राजत्वम्,
मम तु पुरुवंश्यस्यास्त्येव राजत्वम् ; हे सखेति-सन्धिरार्थः
तदपि त्वया सह मम यत् सख्यं तत्र तव पैत्रिक-प्रभावो न
हेतुः नापि कौलिकः, किन्तु तावक एवेत्यभिप्रायतो यत् प्रसभं
सतिरस्कारमुक्तं मया तत् क्षामये क्षमयामीत्युत्तरेणान्वयः ।
तवेदं विश्वरूपात्मकं स्वरूपमेव महिमानं प्रमादात् प्रणयेन

स्नेहेन वा परिहासार्थं बिहारादिष्वसत्कृतोऽसि त्वं सत्यवादी निष्कपटः परमसरल इत्यादिवक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽसि, त्वमेकः सखीन् विनैव रहस्यथवा तत्समच्चं तेषां परिहसतां सखीनां समच्चं पुरतोऽसि यदा स्थितस्तदा जातं तत्सर्वमपराधसहस्रं क्षामये---हे प्रभो, क्षमस्वेत्यनुनयामीत्यर्थः ॥ ४१-४२ ॥

गी०भू०—भक्त्यतिशयेन नमस्कारेष्वलं भावमविदन् बहुकृत्वः प्रणमति-नमः पुरस्तादिति । हे सर्व ! पुरस्तात् पृष्ठतः सर्वतश्च स्थिताय ते नमो नमोऽस्तु । अनन्तेति कर्मधारयः, बीर्यं देह-बलं विक्रमस्तु धीबलं शस्त्रप्रयोगादि-प्रावीण्यरूपम्, एकं बीर्याधिकं मन्यतैकं शिक्षयाधिकमिति भीमदुर्योधनोबुद्ध्युक्तेः । सर्वरूपत्वेहे तुमाह-सर्वं समाप्नोषीति । एवमेवोक्तं श्रीवैष्णवे-“योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः । स त्वमेव जगत्प्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्” इति ॥४०॥

गी०भू०—एवमर्जुनः सहस्रशीर्षादिलक्षणं स्वसखं कृष्णं बिलोक्य संस्तुत्य प्रणम्य च स्वसख्यस्यैश्वर्यज्ञानसम्मिश्रत्वात्-दनुरूपमनुनयति-सखेति द्वाभ्याम् । कृष्णो भगवान्मे सखा मित्रमिति मत्वा निश्चित्य तवेदं सहस्रशीर्षत्वादिलक्षणं महिमान-मजानताननुभवता मया प्रमादादनबधानतः प्रणयेन सख्य-प्रेमणा वा यत्त्वां प्रति प्रसभं हठादुक्तं, तदिदानीं क्षामये क्षम-यामि । किं तदिति चेत् तत्राह-हे कृष्णेत्यादि । सखेतीत्यत्र सन्धिश्छान्दसः । एतानि त्रीणि सम्बोधनान्यनादरगर्भाणि-हे कृष्णेत्यत्र श्रीपूर्वकत्वाभावात्, हे यादवेत्यत्र राज्यवंश्य-त्वाभावावेदनात्, हे सखेत्यत्र सबयस्त्वमात्रसूचनात् । किञ्च, यच्च बिहारादिष्वबहासार्थं परिहासायामत्कृतोऽसि सत्यवाक् सरलो निष्कपटस्त्वमित्येवं व्यञ्जकशब्दैरबज्ञातोऽसि । एकः सखीन् विना विजने स्थितस्तत्समच्चं वा तेषां परिहसतां सखीनां पुरतो

वा स्थित इत्यर्थः । तत्सर्ववचनरूपमसत्काररूपं वापराधजनं क्षामये-क्षमस्व प्रभो भगवान्नित्यनुनयामि । हे अच्युतेति सत्य-प्यपराधेऽबिच्युतसखेत्यर्थः । अप्रमेयमतर्क्यप्रभावम् ॥४१-४२॥
पितासि लोकस्य चरावरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
तत्त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥

गी०भू०—अप्रमेयतामाह-पितासीति । अस्य लोकस्य पिता पूज्यो गुरुः शास्त्रोपदेष्टा च त्वमसि ; अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान् गुरुतरस्त्वम् हे अप्रतिम-प्रभाव ! अतोऽस्मिन् लोकत्रये निस्त्रि-लेऽपि जगति त्वत्सम एव नास्ति, द्वितीयस्य परेशस्याभावादेव त्वदाधिकोऽन्यः कुतः स्यात् ? श्रुतिश्चैवमाह--“न तत्समश्चाभ्य-धिकश्च दृश्यते” इति ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

सारा०ब०----कायं प्रणिधाय भूमौ दण्डबन्निपात्य प्रिया-यार्हसीति सान्धरार्षः ॥ ४४ ॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मादिति । कायं भूमौ प्रणिधाय, प्रणम्येति साष्टाङ्गं प्रणतिं कृत्वा, हे देव ! ममापराधं सोढुं मर्हसि । कः कस्येवेत्याह-पितेवेति । सखेव सख्युरिति तु तदा महैश्वर्यं वीक्ष्य स्वस्मिन् दासत्वमननात्, प्रियायार्हसीति बिसर्ग-लोपः सन्धिश्चार्षः ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

सारा०ब०----यद्यप्यदृष्टपूर्वमिदं ते विश्वरूपात्मकं बपुर्दृष्ट्वा

हृषितोऽस्मि तदप्यस्य घोरत्वाद्भयेन मनः प्रव्यथितमभूत् ।
तस्मात्तदेव मानुषं रूपं मत्प्राणकोट्यधिकप्रियं माधुर्यपारावारं
वसुदेवनन्दनाकारं मे दर्शय प्रसीदेत्यलं तवैतादृशैश्वर्यस्य
दर्शनायेति भावः । देवेशेति त्वं सर्वदेवानामीश्वरः सर्व-
जगन्निवासो भवग्येवेति मया प्रतीतमिति भावः । अत्र विश्व-
रूपदशनकाले सर्वस्वरूपमूलभूतं नराकारं कृष्णवपुस्तत्रैव स्थि-
तमपि योगमायाच्छादितत्वादञ्जुनेन न दृष्टमिति गम्यते ॥४५॥

गी०भू०—अथ किं वक्षि किं चेच्छसीति चेत्तत्राह—अदृ-
ष्टेति । त्वयि कृष्णे सत्त्वेन ज्ञातमपीदमैश्वरं रूपं दृष्ट्वाहं हृषितो-
ऽस्मि मत्सखस्येदमसाधारणं रूपमिति मुदितोऽस्मि मनश्च मम
तद्घोरत्वदर्शनजेन भयेन प्रव्यथितं भवति । अत इदं प्रार्थये-
तदेवेत्यादि सर्वदेवनियन्ता तत्सर्वाधारः परेशस्त्वमसीति मया
प्रत्यक्षीकृतमतःपरं तदन्तर्भाव्य तदेव मदभीष्टं कृष्णरूपं दर्शय
प्रादुर्भावयेत्यर्थः ॥४५॥

किरीटिन गदिनं चक्रहस्त-मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

सारा०ब०—किञ्च यदैश्वर्यं दर्शयिष्यसि तदा तव नरलील-
त्वेन वसुदेवनन्दनाकारेणैव यदस्मदादिभिर्दृष्टं पूर्वं तदेवै-
श्वर्यं परमरसमयमस्मादृशलोकमनोनयनाह्लादकं दर्शय, न पुनर-
दृष्टपूर्वमिदं देवलीलविश्वरूपादिपुरुषरूपेणाद्यप्रत्यक्षीकृतमैश्वर्य-
मम्मनोनयनारोचकमित्यभिप्रायेणाह—किरीटिनं दिव्यमहार्घ्य-
रत्नकिरीटयुक्तं, तथैवेति यथास्माभिः कदाचिद्दृष्टम्, त्वं जन्म-
समये च त्वत्पितृभ्यां यथादृष्टं, हे विश्वमूर्ते, हे सम्प्रति सहस्र-
बाहो, इदं रूपमुपसंहृत्य तेनैव चतुर्भुजरूपेण भव आविर्भव ॥४६॥

गी०भू०—तत् कीदृमित्याह—किरीटिनमिति । हे सम्प्रति सहस्र-

बाहो ! हे विश्वमूर्ते ! इदं रूपमन्तर्भाव्य दिव्याभिनेतृ-नट-
वत्तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण विशिष्टः सन् प्रादुर्भव ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

सारा०ब०—भो अञ्जुन, 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरु-
षोत्तम' इति त्वत्प्रार्थनयैवेदं मया मदंशस्य विश्वरूपपुरुषस्य रूपं
दर्शितम् । कथमत्र ते मनः प्रव्यथितमभूत् ? यतः प्रसीद प्रसीदे-
त्युक्त्या तन्मानुषमेव रूपं मे दिदृक्षसे, तस्मात् किमिदमाश्चर्यं
ब्रूषइत्याह—मयेति । प्रसन्नेनैव मया तव तुभ्यमेवेदं रूपं दर्शितम्,
नान्यस्मै, यतस्त्वत्तोऽन्येन केनापि एतन्न पूर्वं दृष्टम्, तदपि
त्वमेतन्न स्पृहयसि किमिति भावः ॥४७॥

गी०भू०—एवं प्रार्थितो भगवानुवाच—मयेति । हे अञ्जुन !
'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' इत्यादि त्वत्प्रार्थितं प्रसन्नेन मयेदं
तेजोमयं परमैश्वरं रूपं वैदूर्यबदभिनेतृ-नटवच्च त्वदभीष्टे कृष्णे
मयि स्थितमेव तव दर्शितम् ; आत्मयोगान्निजाचिन्त्यशक्त्या मे
मम यद्रूपं त्वदन्येन जनेन पूर्वं न दृष्टम् । तत्प्रसङ्गादिदानीं
त्वन्यैरपि देवादिभिर्दृष्टं भाक्तदृश्यं मम तत्स्वरूपं भक्तं त्वां
प्रति प्रदर्शयता मया त्वद्दृष्टस्य बहुसाक्षित्वाय देवादिभ्यो-
ऽपि भाक्तेभ्यः प्रदर्शितम्, यत्तु गजसाहस्ये दुर्योधनादिभि-
रापि विश्वरूपं दृष्टं, तन्नेर्द्वाग्वधमिति त्वदन्येन न दृष्टपूर्वमित्यु-
क्तम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरग्रैः ॥

एवंरूपं शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

सारा०ब०—तुभ्यं दर्शितमिदं रूपं नु वेदादिसाधनैरपि दुर्लभमित्याह—न वेदेति । त्वत्तोऽन्येन न केनाप्यहमेवंरूपः द्रष्टुं शक्यः ; शक्य अहमिति—यद्वयलोपाबाधौ । तस्मादलभ्यलाभमात्मनो मत्वा त्वमस्यन्नेवेश्वरे सर्वदुर्लभे रूपे मनो निष्ठां कुरु ; एतद्रूपं दृष्ट्वाप्यलं ते पुनर्मे मानुषरूपेण दिदृक्षितेनेति भावः ॥४८॥

गी०भू०—अथ सहस्रशीर्षादिलक्षणस्यैश्वर्यरूपस्य पुमर्थतामाह—न वेदेति । वेदानामध्ययनैरक्षरग्रहणैः, यज्ञानामध्ययनैर्मिमांसा-कल्पसूत्रादिद्वारा तदर्थविमर्शरूपैः, दानैः संभोग्यानां सत्पात्रेभ्योऽर्पणैः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रादिभिरुपदेहशोषकत्वेन दुष्करैः । एभिः केवलैर्वेदाध्ययनादिभिर्भक्तियुक्तात्त्वत्तोऽन्येन भक्तिरिक्तेन केनापि पुंसा एवंपोऽहं द्रष्टुं न शक्यो—भक्तिं बिना भूतानि वेदाध्ययनादीनि महर्शनसाधनानि न भवन्तीति, यदुक्तं—“धर्मः सत्यादयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥” इति त्वया तु भक्तिमता दृष्ट एवाहमन्यैश्च भक्तिमद्भिर्देवादिभिः । शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । नकाराभ्यासो निषेधदाढ्यार्थः । नृलोक इत्युक्तेस्तल्लोके तद्भक्ता देवा बहवस्तद्द्रष्टुं शक्नुवन्तीत्युक्तम् ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् । व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्व तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सारा०ब०—भाः परमेश्वर, मां त्वं किं न गृह्णासि ? यदनिच्छतेऽपि मह्यं पुनरिदमेव बलादित्ससि ; दृष्ट्वेदं तवैश्वर्यं मम गात्राणि व्यथन्ते, मनो मे व्याकुलीभवति, मुहुरहं मूच्छामि, तवास्मै परमैश्वर्याय दूरत एव मम नमो नमोऽस्तु, न कदाप्यहमेवं द्रष्टुं प्रार्थयिष्ये, क्षमस्व क्षमस्व ; तदेव मानुषाकारं वपुर-

पूर्वमाधुर्यधुर्यमितहमितसुधामारवर्षिमुखचन्द्रं मे दर्शय दर्शयेति व्याकुलमर्जुनं प्रति साश्वासमाह—मा ते इति ॥४८॥ गी०भू०—यच्च तस्मिन्नेव मद्रूपे संदर्शितं मया प्रदर्शितं तत् खलु द्रौपदीप्रधर्षणं बीद्यापि तुष्णीं स्थिता भीष्मादयः सर्वे तत्प्रधर्षणकुपितेन मयैव निदन्तव्या न तु तन्निदन्तभारस्तवंति बोधयितुमतस्तेन त्वं व्यथितो माभूरित्याह—मा ते व्यथेति । तदेव चतुर्भुजं प्रार्थितरूपम् ॥ ४९ ॥

संजय उवाच -

इत्यर्जुनं वासुदेवास्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः । आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

सारा०ब०—यथा स्वांशस्य महोत्तरूपं दर्शयामास, तथा महामधुरं स्वकं रूपं चतुर्भुजं किरीटगदाचक्रादियुक्तं तत्प्रार्थितं मधुरैश्वर्यमयं भूयो दर्शयामास । ततः पुनः स महात्मा सौम्यवपुः कटककुण्डलोष्णीषपीताम्बरधरो द्विभुजो भूत्वा भीतमेनसाश्वासयामास ॥४९॥

गी०भू०—ततो यदभूत्तत् संजय उवाच—इत्यर्जुनमिति । वासुदेवोऽर्जुनं प्रति पूर्वोक्तमुक्त्वा यथा सङ्कल्पेनैव महस्वशिरस्कं रूपं दर्शितवान् तथैव स्वकं नीलोत्पलश्यामलत्वादिशुक्लं देवकीपुत्रलक्षणं चतुर्भुजं रूपं दर्शयामास एवं सौम्यवपुः सुन्दरविग्रहो भूत्वा भीतमेनमर्जुनं पुनराश्वासयामास । महात्मा उदारमना ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच -

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृताः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

गी०भू०—ततो निर्व्यथः प्रसन्नमनाः सन्नर्जुन उवाच-
दृष्टुमिति । हे जनार्दन तवेदं सौम्यं मनोज्ञं चतुर्भुजं रूपं
दृष्ट्वाहमिदानीं सचेताः प्रसन्नचित्ताः प्रकृतिं व्यथाद्यभावेन
स्वास्थ्यञ्च गतः संवृत्तो जातोऽस्मि । कीदृशं रूपमित्याह-मानुष-
मिति । चैतन्यानन्दविग्रहः कृष्णो बक्ष्यमाणश्रुतिस्मृतिभ्यः, स
हि यदुषु ; पाण्डवेषु च द्विभुजः कदाचिच्चतुर्भुजश्च कीदृति,
तदुभयरूपस्यास्य मानुषवत् संस्थानाच्चेष्टिताच्च, -मानुषभावेनैव
व्यपदेश इति प्रागभाषि ॥ ५१ ॥

सारा०ब०—ततश्च महामधुरमूर्तिं कृष्णमालोक्यानन्दमिन्धु-
स्नातः सन्नाह-इदानीमेवाहं सचेताः संवृत्तः सचेता अभूवं, प्रकृतिं
गतः स्वास्थ्यं प्राप्तोऽस्मि ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

सारा०ब०—दर्शितस्य स्वरूपस्य माहात्म्यमाह-सुदुर्दर्शमिति
त्रिभिः । देवता अप्यस्य दर्शनाकाङ्क्षिणः एव, न तु दर्शनं
लभन्ते । त्वन्तु नैवेद्यमपि स्पृहयसि मन्मूलस्वरूपनराकारमहा-
माधुर्यनित्यास्वादिने त्वच्चक्षुषे कथमेतद् रोचताम् ? अतएव
मया “दिव्यं ददामि ते चक्षुः” इति दिव्यं चक्षुर्दत्ताम्, किन्तु दिव्य-
चक्षुरिव दिव्यं मनो न दत्ताम् ; अतएव दिव्यचक्षुषापि त्वया न
सम्यक्तया रोचितं मन्मानुषरूपमहामाधुर्यैकप्राहिमनस्कत्वात्,
यदि दिव्यं मनोऽपि तुभ्यमदास्यं, तदा देवलोक इव भवान-
ऽप्येतद्विश्वरूपपुरुषस्वरूपमरोचयिष्यदेवेति भावः ॥ ५२ ॥

गी०भू०—मया प्रदर्शितं ‘न वेदयज्ञाध्ययनैः’ इत्यादिना
आधितश्च सहस्रशिरस्कं मद्रूपं श्रद्धवानो मत्प्रियसखोऽर्जुनो

मनुष्यभावभाषिते श्रीकृष्णे मयि कदाचिद्विश्रयभावो मामुदित
भावेन स्वक-रूपस्य परमपुरुषार्थतामुपदिशति, -सुदुर्दर्शमिति ।
सहस्रशिरस्कं मद्रूपं दुर्दर्शमेव ; इदञ्च मम कृष्णरूपं सुदुर्दर्-
शम्, -‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य’ इत्युक्तेः । यत्त्वं सुचिराद् दृष्टवानसि
कथमेवं प्रत्येमीति चेत्तत्राह, -देवा अप्यस्येति । एतच्च दशमादी
गर्भस्तुत्यादिना प्रसिद्धमेव ॥ ५२ ॥

नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्जया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि यन्मम ॥ ५३ ॥

सारा०ब०—किञ्च युष्मदष्टहणीयमप्येतत् स्वरूपमन्ये पुरु-
षार्थसारत्वेन ये स्पृहयन्ति, तैर्वेदाध्ययनादिभिरपि साधनेरे-
तज्ज्ञातुं द्रष्टुञ्चाशक्यमेवेति प्रतीहीत्याह-नाहमिति ॥ ५३ ॥

गी०भू०—सुदुर्लभतामाह-नाहमिति । एवम्बिधो देवकी-
सूनुश्चतुर्भुजस्त्वत्सखोऽहं वेदादिभिरपि साधनैः केनापि पुंसा
भक्तिशून्येन द्रष्टुं न शक्यो यथा त्वं मां दृष्ट्वानसि ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

सारा०ब०—तर्हि केन साधनेनैतत् प्राप्यते ? इत्यत आह-
भक्त्या त्विति । शक्य अहमिति-यद्वयलोपाबाधौ । यदि निर्व्या-
णमोक्षेच्छा भवेत्, तदा तत्त्वेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अन-
न्यया भक्त्यैव शक्यो नान्यथा । ज्ञानिनां गुणाभूतापि भक्ति-
रन्तिमसमये ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्व्वरिता अल्पीयस्यतन्यैव
भवेत्तयैव तेषां सायुज्यं भवेदिति, “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनन्तरम्” इत्यत्र प्रतिपादयिष्यामः ॥ ५४ ॥

सारा०ब०—अभिमतं परभक्तैकदृश्यतां स्फुटयन्नाह—

भक्तयेति । एवम्बोधो देवकीसूनुश्चतुर्भुजोऽहमनन्यया मदेकान्तया
भक्त्या तु वेदादिभिस्तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यः, द्रष्टुं प्रत्यक्षं कर्तुं
तत्त्वतः प्रवेष्टुं संयोक्तुं च शक्यः । पुरं प्रविशतीत्यत्र
पुरसंयोग एव प्रतीयते । तत्र वेदो गोपालोपनिषत्, तपो
मज्जन्माष्टम्येकादश्याद्युपोषणं, दानं मद्भक्तसम्प्रदानकं स्वभोग्या-
नामर्पणम्, इत्या मन्मूर्तिपूजा । श्रुतिश्चैवमाह, -“यस्य देवे
परा भक्तिः” इत्याद्या । तु-शब्दोऽत्र भिन्नोपक्रमार्थः । न च
सुदुर्दर्शम्’ इत्यादित्रयं सहस्रशीर्षरूपपरमिति वाच्यम्, -‘इत्य-
ञ्जुनम्’ इत्यादिद्वयस्य नराकृतिचतुर्भुज-स्वरूपपरस्याव्यवहित-
पूर्वत्वात्, तद्वद्वयेन सहस्रशीर्षरूपस्य व्यवधानाच्च; तत्र यस्य
तदेकवाक्यतायां नाहं वेदैः इत्यादेः पोरुक्त्यापत्तेश्च । यत्तु
दिव्यदृष्टिदानेन लिङ्गेन नराकाराच्चतुर्भुजात् सहस्रशीर्षो देवा-
कारस्योत्कर्षमाह तद्विचारिताभिधानमेव-देवाकारस्य तस्य
चतुर्भुजनराकाराधीनत्वात् । तत्त्वञ्च तस्य युक्तमेव-“यः कार-
णार्णवजले भजति स्म योगनिद्राम्” इत्यादि स्मरणात् ।
इदं नराकृतिकृष्णरूपं सच्चिदानन्दं सर्ववेदान्तवेद्यं विभुं सर्वा-
वतारीति प्रत्येतव्यं, -‘सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायैकलष्टकारणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरुवे बुद्धिसाक्षिणे ॥” “कृष्णो वै परमं
दैवतम्” “एको बशी सर्वगः कृष्ण इड्यः” “एकोऽपि सन्
बहुधा योऽवभाति” इत्यादि श्रवणात् “ईश्वरः परमः—कृष्णः
सच्चिदानन्दविग्रहः । अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-
कारणम् ॥” “यत्राबतीर्णं कृष्णारूयं परं ब्रह्म नराकृति” “एते
चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” इत्यादि स्मरणाच्च ।
अत्रापि स्वयमेवोक्तं, -“मत्तः परतरं नान्यत्” इति, “अहमादिर्हि
देवानाम्” इत्यादि च अञ्जुनेन च, -‘परं ब्रह्म परं धाम’ इत्यादि ।
तस्मादतिप्रभावेण संक्रान्ते सहस्रशीर्षिण रूपे तेन संक्रान्तैव

दृष्टिर्प्राहिणी युक्ता, न त्वतिसौन्दर्यलावण्यनिधि-नराकृति-कृष्ण-
रूपानुभाविनी दृष्टिस्तत्र प्राहिणीति भावेन कृष्णरूपे सहस्र-
शीर्षत्वबदञ्जुनचक्षुषि तादृगरूपप्रादि तेजस्वमेव संक्रमितमिति
मन्तव्यम्, न तु युक्त्याभासलाभेन हेतुकरत्वं स्वीकार्यम्, न
चाञ्जुनोऽप्यन्यमनुष्यवच्चर्मचक्षुष्कः, -तस्य भारतादिषु नर-
भगवदवतारत्वेनासकृदुक्तेः । कर्मोद्भूतया विद्यया सनिष्ठैः
सहस्रशिरस्कं रूपं लभ्यमिति दुर्दर्शं तत् नराकृतिकृष्णरूपं
त्वनन्यया भक्त्यैवेति सुदुर्दर्शं तदुक्तम् ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शन-योगो नामैकादशोऽध्यायः ।

-ॐ००ॐ-

सारा०ब०अथभक्तिप्रकरणोपसंहारार्थं स प्रमाध्यायादिषु ये ये
भक्ता उक्तास्तेषां सामान्यलक्षणमाह-मत्कर्मकृदिति । सङ्गवर्जितः
सङ्गरहितः ॥ ५५ ॥

कृष्णस्यैव महैश्वर्यं ममैवास्मिन् रणे जयः ।

इत्यञ्जुनो निश्चिकायेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वेकादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०—अथ स्वप्राप्तिकरीमनन्यां भक्तिमुपदिशन् उपसं-
रति, -मदिति । मत्सम्बन्धिनी मन्मन्दिरनिर्माणा-तद्वि-
मार्जन-मत्पुष्पवाटीतुलसीकाननसंस्कार-तत्सेवनादीनि कर्म-

दीनि करोतीति मत्कर्मकृत्, मत्परमो मामेव न तु स्वर्गादिकं
स्वपुमर्थं जानन्, मद्भक्तो मच्छ्रवणादि-नवविधभक्तिरसनिरतः
सङ्गबज्जितः मद्भिमुखससर्गमसहमानः सर्वभूतेषु निर्व्वैरः-तेष्वपि
मद्भिमुखेषु प्रतिकूलेषु सत्सु वैरशून्यः,-स्वक्लेशस्य स्वपूर्व्वकर्म-
निमित्तकत्वविमर्शेन तेषु वैरानिमित्ताभावान् । एवम्भूतो यः मां
नराकारं कृष्णमेति लभते, नान्यः ॥ ५५ ॥

पूर्णः कृष्णोऽवतारित्वात्तद्भक्तानां जयो रणे ।

भारते पाण्डुपुत्राणामित्येकादशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये एकादशोऽध्यायः ।



द्वादशोऽध्यायः



अर्जुन उवाच —

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

सारा०ब०—द्वादशे सर्वभक्तानां ज्ञानिभ्यः श्रेष्ठ्यमुच्यते ।

भक्तेष्वपि प्रशस्यन्ते येऽद्वेषादिगुणान्विताः ॥

सारा०ब०—भक्तिप्रकरणस्योपक्रमे 'योगिनामपि सर्वेषां
मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो
मतः ॥' इति भक्तेः सर्वोत्कर्षो यथा श्रुतः, तथैवोपसंहारेऽपि
तस्यां एवं सर्वोत्कर्षं श्रोतुकामः पृच्छति । एवं सततयुक्ता
'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति त्वदुक्तलक्षणा भक्तास्त्वां श्यामसुन्दरा-
कारं ये पर्युपासते, ये चाव्यक्तं निर्व्विशेषमक्षरम्—“एतद्वै
‘तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणं अभवदन्त्यथूलमनखद्वयम्’ इत्यादि

अत्युक्तं ब्रह्म उपासते, तेषामुभयेषां योगविदां मध्ये केऽतिशयेन
योगविदश्च त्वत्प्राप्तौ श्रेष्ठमुपायं जानन्ति, न लभन्ते वा । ते
योगवित्तारा इति वक्तव्ये योगविदामा इत्युक्तिर्योगवित्ताराणामपि
बहूनां मध्ये के योगवित्तमा इत्यर्थं बोधयति ॥१॥

गी०भू०—उपायेषु समस्तेषु शुद्धा भक्तिर्महावला ।
प्रापयेत्स्वरया यन्मामित्याह द्वादशे हरिः ॥

जीवात्मानं यथावज्ज्ञात्वा विज्ञाय च तदंशी हरिर्व्येव
इति 'अविनाशि तु तद्विद्धि' इत्यादिभिर्द्वितीयादिष्वेकः पन्था
वाणतः । जीवात्मानं हरेरंशं ज्ञात्वैव तदंशी हरिस्तच्छ्रवणादि-
भक्तिभिर्व्येय इति 'मय्यासक्तमनाः पार्थ' इत्यादिभिः सप्तमा-
दिषु द्वितीय पन्थाः प्रदर्शितः । तेष्वेव प्रयाणकाले इत्यादिना
योगोपसृष्टा, 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' इत्यनेन ज्ञानोपसृष्टा च
भक्तिरुक्ता । भक्तिषट्कात् प्राक् पष्ठान्ते केवलां भक्तिमुपदेक्ष्यता
योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादिपद्येन स्वैकान्तिनां युक्ततमतां
चाभिहिता । तत्राञ्जुनः पृच्छति,—एवमिति । एवं मय्यासक्त-
मनाः पार्थ' इत्यादि त्वदुक्तविधया सततयुक्ता ये त्वां श्याम-
सुन्दरं कृष्णं परितः कायादिव्यापारैरुपासते, ये चाक्षरं जीव-
स्वरूपं चक्षुरादिभिरव्यक्तं पर्युपासते धारणाध्यानसमाधिभिः
साक्षात्कर्तुमीहन्ते परमात्मकामा स्तेषामुभयेषां मध्ये योग-
वित्तमाः शीघ्रोपायिनः के भवन्ति ? अयं भावः,—स्वानुभव-
पूर्व्वकस्य हरिध्यानस्य बन्धमूलत्वात्तेन निर्व्विघ्ना तत्प्राप्ति-
रित्येके । नीरूपस्यातिसूक्ष्मस्य जीवात्मनो दुर्ध्यानत्वात् किं
तद्व्यानेन ? किन्तु हरिभक्तिरेव सर्वविघ्नविमर्दिनी हरिप्रापणी-
त्येके । तस्यामेव निरतास्तेषामुभयेषामुपायेषु कः श्रेष्ठोपाय
इति तं भणोति ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

सारा०ब०—तत्र मद्भक्ता श्रेष्ठा इत्याह—मयि श्यामसुन्दरा-
कारे मन आवेश्याबिष्टं कृत्वा नित्ययुक्ता मन्त्रित्ययोगकाङ्क्षिणः
परया गुणातीतया श्रद्धया, यदुक्तं—“सत्त्विकयाध्यात्मिकी श्रद्धा
कर्मेश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु
निर्गुणा ॥” इति । ते मे मदीया अनन्यभक्ता युक्ततमा योग-
वित्तमा इत्यर्थः । तेनानन्यभक्तेभ्यो न्यूना अन्ये ज्ञानकर्मादि-
मिश्रभक्तिमन्तो योगवित्तारा इत्यर्थोऽभिव्याजितो भवति । ततश्च
ज्ञानाद्भक्तिः श्रेष्ठा भक्तावप्यनन्यभक्तिः श्रेष्ठेत्युपपादितम् ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच—मयीति । ये भक्ता मयि
नीलोत्पलश्यामलत्वादधम्मिणि स्वयं भगवति देवकीसूनु मन
आवेश्य निरतं कृत्वा परया दृढया श्रद्धयोपेताः सन्तो मामुक्त-
लक्षणमुपासते—श्रवणादिलक्षणांमुपासनां मम कुर्वन्ति, नित्य-
युक्ता नित्यं मद्योगमिच्छन्तस्ते मम मतेन युक्ततमा मताः—
शीघ्रमत्प्रापकोपायिनस्ते ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पश्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सारा०ब०—मदीय-निर्विशेषब्रह्मस्वरूपोपासकास्तु दुःखि-
त्वात्तातो न्यूना इत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम् । अक्षरं ब्रह्म, अनि-
र्देश्यं शब्देन व्यपदेश्यमशक्यम्, यतोऽव्यक्तं रूपादिहीनम्,

सर्वत्रगं सर्वदेशव्याप्यचिन्त्यं तर्कागम्यम्, कूटस्थं सर्वकाल-
व्यापि—“एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः” इत्यमरः ।
अचलं बृद्ध्यादिरहितम् ध्रुवं नित्यम् । मामेवेत्यक्षरस्य तस्य
मत्तो भेदाभावात् ॥३-४॥

गी०भू०—ये तु स्वसाक्षात्कृतिपूर्विकां मदुपासनां न कुर्वन्ति,
तेषामपि मत्प्राप्तिः स्यादेव किन्त्वतिक्लेशेनातिचिरेणैवातस्तेभ्यो-
ऽपकृष्टास्त इत्याह—ये त्विति त्रिभिः । ये त्वक्षरस्वात्मचैतन्यमेव
पूर्वमुपासते, तेषामधिकतरः क्लेश इति सम्बन्धः । अक्षरं विशि-
ष्ट-अनिर्देश्यं देहाद्भिन्नत्वेन देहाभिधायिभिर्देवमानवादिशब्दै-
र्निर्देश्यमशक्यम्, अव्यक्तश्चक्षुराद्यगोचरं प्रत्यक्, सर्वत्रगं देहे-
न्द्रियप्राणव्यापि, अचिन्त्यं तर्कागम्यं श्रुतिमात्रवैद्यम्—“ज्ञानस्व-
रूपमेव ज्ञातृस्वरूपम्” इति श्रुत्यैव प्रत्येतव्यम्, कूटस्थं सर्व-
दाणुस्वरूपतैकरसम्, अचलं ज्ञानत्वादिव ज्ञातृत्वादपि चलन-
रहितम्, ध्रुवं परमात्मैकशेषतायां सर्वदा स्थिरम् । अक्षरो-
पासने विधिमाह—संनियम्येति । करणग्रामं श्रोत्रादीन्द्रियबृन्दं
संनियम्य शब्दादिसञ्चारेभ्यस्तद्व्यापारेभ्यः प्रत्याहृत्य सर्वत्र सुह-
मित्राद्युदासीनादिषु समबुद्धयस्तुल्यदृष्टयः, यद्वा, सर्वेषु
चेतनाचेतनेषु वस्तुषु स्थिते समे ब्रह्मणि बुद्धिर्येषां ते ब्रह्माधिष्ठान-
तया तेषु द्वेषशून्यास्तत एव सर्वेषां भूतानां हिते उपकारे
रताः सर्वेषां शं भूयादिति यथायथं यतमानाः एवं स्वात्मसाक्षा-
त्कृतिपूर्विकायां मद्भक्तौ मदर्पितकर्मलक्षणायां ये प्रवर्तन्ते,
तेऽपि मामेव पारमैश्वर्यप्रधानं प्राप्नुवन्तीति नास्ति संशयः ॥३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

सारा०ब०—तर्हि केनांशेन तेषामपकर्षस्तत्राह—क्लेश इति ।

न केनापि व्यज्यत इत्यव्यक्तं ब्रह्म तत्रैवासक्तचेतसां तदेवानु-
बुभूषूणां तेषां तत्प्राप्तौ क्लेशोऽधिकतरः । हि यस्मादव्यक्ता
गतिः केनापि प्रकारेण व्यक्तीभवति सा गतिर्देहबद्धिर्जीवैर्दुःखं
यथा भवत्येवमवाप्यते । तथा हीन्द्रियाणां शब्दादिज्ञानविशेष
एव शक्तिः, न तु विशेषतरज्ञान इति । अत इन्द्रियनिरोधस्तेषां
निर्विशेषज्ञानमिच्छतामवश्य-कर्तव्य एव । इन्द्रियाणां निरो-
धस्तु स्रोतस्वतीनामिव स्रोतो निरोधो दुष्कर एव, यदुक्तं सनत्-
कुमारेण—“यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथित-
मुद्ग्रथयन्ति सन्तः । तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-स्रोतोग-
णास्तमरणां भज वासुदेवम् ॥” “क्लेशो महानिह भवार्णवमप्ल-
वेशां, षड् बर्गनक्रमसुखेन तितीरयन्ति । तत् त्वं हरेर्भगवतो भज-
नीयमङ्घ्रिं कृत्वोद्दुषं व्यसनमुत्तार दुस्तराणाम् ॥” इति । तावता
क्लेशेनापि सा गतिर्यद्यवाप्यते, तदापि भक्तिमिश्रेणैव । भगवति
भक्तिं बिना केवलब्रह्मोपासकानान्तु केवलक्लेश एव लाभो, न तु
ब्रह्मप्राप्तिः, यदुक्तं ब्रह्मणा—“तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यदयथा स्थूलतुषावघातिनाम्” इति ॥५॥

गा०भू०—ननु तेऽपि चेत्त्वामेव प्राप्नुयुस्तर्हि पूर्वेषां युक्त-
तमत्वं किं निबन्धनम् ? तत्राह—क्लेशोऽधिकेति । अव्यक्ता-
सक्तचेतसामतिसूक्ष्मनीरूपजीवात्मसमाधिनिरतमनसां तेषामधिक-
तरः क्लेशः । यद्यपि पूर्वेषामपि तत्तान्मद्भक्त्यङ्गसमाचारो
मदन्यविषयेभ्यः करणानां प्रत्याहारश्च क्लेशोऽस्त्येव, तथापि
तत्रानन्दमूर्त्तेर्मम स्फुरणान्न क्लेशतया बिभाति । कुतोऽधिक-
तरत्वं सुदूरापास्तम् ? हि यस्मादव्यक्ता गतिरव्यक्ताक्षराविषया
मनोवृत्तिर्देहबद्धिर्देहाभिमानिभिर्जनैर्दुःखं यथा स्यात्ताथावाप्यते-
देहबन्तः खलु स्थूलदेहमेव सुचिरादात्मत्वेनानुशीलितबन्तः कथ-
मगुचैतन्यं सुचिरोज्झितविमर्शमात्मत्वेनानुशीलितुं प्रभवेषुरिति

भावः । यत्तत्र व्याचक्षते—सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपं ब्रह्म—तत्र
सगुणोपासनमाकारबद्धिषयत्वात् सुकरमप्रमादञ्च, निर्गुणोपासनं
तु तत्त्वाभावाददुःखकरं सप्रमादञ्च, तच्च निर्गुणं ब्रह्माक्षरशब्दे-
नोच्यते । नैर्गुण्यप्रतिपत्तये सप्त विशेषणानि—अनिर्देश्यं वेदा-
गोचरं, यतोऽव्यक्तं जात्यादिशून्यं, सर्वत्रगं व्यापि, अचिन्त्यं
मनसाप्यगम्यम्, श्रुतिश्च—“यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा
सह” इत्याद्या, कूटस्थं मिथ्याभूतमपि सत्यवत् प्रतीतं जगत्
कूटमुच्यते—यथा कूटकार्पापणादि, तस्मिन्नाध्यासिकसम्बन्धेना-
धिष्ठानतया स्थितम्, अचरमविकारमतो ध्रुवं नित्यमिति ।
तद्विदां खलु गुरुपसत्तिपूर्वकोपनिषद्विचारतदर्थमनन-तन्निदि-
ध्यासनैर्महान् क्लेशः । पूर्वेषां तु तैर्विनैव गुरुक्तभगवत्प्रसादा-
विभूतेनाज्ञानतत्कार्यविमर्दिना विज्ञानेन भगवत् स्वरूपभूत-
निर्गुणाक्षरात्मैक्यलक्षणा मुक्तिरिति फलैक्येऽपि क्लेशाक्लेशा-
भ्यामपकर्षोत्कर्षाविति । तदिदं मन्दं—“गतिसामान्यात्” इति
सूत्रे ब्रह्मणो द्वैरूप्यनिरासात्, “यथा तदक्षरमधिगम्यते” इति
तस्य वेदवेद्यत्वश्रवणात्, “यतो वाचः” इत्यादेः कार्तुः स्यागोचर-
त्वार्थत्वात्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावेन निर्गुणस्याप्रमाणत्वात्तौ-
च्छयाच्च लक्ष्यत्वं तु न, सर्वेशब्दवाच्यत्वस्वीकारात्, सदैका-
वाक्यस्य वस्तुनः कूटस्थत्वेनाभिधानान्न च जगत् कूटम् “कार्त्तिक-
नापी परिभूः स्वयम्भुर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः” इत्यादौ तस्य सत्यत्वश्रवणात्, यशोदास्तनन्धयविभु-
र्चाद्विग्रहस्य परब्रह्मत्वश्रवणेन तदन्तस्थनिर्गुणाक्षरकल्पनस्य
श्रद्धा-जाड्यकृतत्वात् ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्य मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

सारा०ब०—भक्तानान्तु ज्ञानं विनैव केवलया भक्त्यैव सुखेन संसारान्मुक्तिरित्याह—ये त्विति । मयि मत्प्राप्त्यर्थं संन्यस्य त्यक्त्वा सन्न्यास-शब्दस्य त्यागार्थत्वात्, अनन्येनैव ज्ञान-कर्म-तत्पस्यादिरहितेनैव योगेन भक्तियोगेन । यदुक्तं—“यत् कर्मभि-र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यनन्तरं “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिदयदि बाञ्छति ॥” इति, मोक्षधर्मे नारायणीये च—“यो वै साधन-सम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणा-श्रयः ॥” इति । ननु तदपि तेषां संसारतरणे कः प्रकार इति चेत् ? सत्यम्, तेषां संसारतरणप्रकारे जिज्ञासा नैव जायते, यतस्त-त्प्रकारं विनैवाहमेव तांस्तारयामीत्याह—तेषामिति । तेन भग-वतो भक्तेष्वेव वात्सल्यं न तु ज्ञानिष्विति ध्वनिः ॥६-७॥

गी०भू०—तथात्मयाथात्म्यं श्रुत्वैवात्मांशिनो मम केवलां भक्तिं ये कुर्वन्ति, न त्वात्मसाक्षात्कृतये प्रयतन्ते, तेषां तु केव-लया मद्भक्त्यैव मत्प्राप्तिरचिरेणैव स्यादित्याह—ये त्विति द्वा-भ्याम् । ये मदेकान्तिनो मयि मत्प्राप्त्यर्थं सर्वाणि स्वविहिता-न्यपि कर्माणि संन्यस्य भक्तिविक्षेपकत्वबुद्ध्या परित्यज्य मत्परा-मदेकपुरुषार्थाः सन्तोऽनन्येन केवलेन मच्छ्रवणादितिक्षणेन योगे-नोपायेन मां कृष्णं उपासते—तल्लक्षणां मदुपासनां कुर्वन्ति ध्या-यन्तः श्रवणादिकालेऽपि मन्निविष्टमनसः, तेषां मय्यावेशितचेतसां मदेकानुरक्तमनसां भक्तानामहमेव मृत्युयुक्तात् संसारात् सागर-बद्धदुस्तरात् समुद्धर्ता भवामि, न चिरात् त्वरया तत्प्राप्तिबिलम्बा-सहमानस्तानहं गरुडस्कन्धमारोप्य स्वधाम प्रापयामीत्यर्चिरादि-

निरपेक्षा तेषां मद्धामप्राप्तिः—“नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगति-विना । गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः ॥” इति वाराह-वचनात्, कर्मादिनिरपेक्षापि भक्तिरभीष्टसाधिका—“या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारा-यणाश्रयः” ॥ इति नारायणीयात्, “सर्वधर्मोर्जमिता विष्णोर्नाम-मात्रैकजल्पकाः । सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥” इति पाद्माच ॥६-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

सारा०ब०—यस्मान्मद्भक्तिरेव श्रेष्ठा, तस्मात्त्वं भक्तिमेव कुर्वति तामुपदिशति—मय्येवेति त्रिभिः । एव-कारेण निर्विशे-षव्यावृत्तिः । मयि श्यामसुन्दरे पीताम्बरं वनमालिनि मन आध-त्स्व मत्स्मरणं कुर्वित्यर्थः । तथा मयि बुद्धिं विवेकवतीं निवेशय, मन्मननं कुर्वित्यर्थः । तच्च मननं ध्यानप्रतिपादकशास्त्रवाक्यानु-शीलनम्, ततश्च मय्येव निवसिष्यसीति छान्दसम्, मत्समीप-एव निवासं प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥८॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मात्त्वं मय्येव न तु स्वात्मनि मन आधत्स्व समाहितं कुरु, बुद्धिं मयि निवेशयार्पय । एवं कुर्वा-णस्त्वं मय्येव मम कृष्णस्य सन्निधावेव निवस्यसि, न तु सनि-ष्ठवत् सर्गादिकमनुभवन्नैश्वर्यप्रधानं मां प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥८॥

अथ चित्तं समधातुं न शङ्कोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

सारा०ब०—साक्षात्-स्मरणासमर्थं प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह—अथेति - अभ्यासयोगेनान्यत्रान्यत्र गतमपि मनः पुनः पुनः

प्रत्याहृत्य मद्रूप एव स्थापनमभ्यासः, स एव योगस्तेन । प्राकृत-
त्वादिति कुतिसतरूपरसादिषु चलन्त्या मनोनद्यास्तेषु चलनं निरु-
ध्यातिसुभद्रेषु मदीयरूपरसादिषु तच्चलनं शनैः शनैः सम्पाद-
येत्यर्थः । हे धनञ्जयेति-बहून् शत्रून् जित्वा धनमाहृतवता त्वया
मनोऽपि जित्वा ध्यानधनं ग्रहीतुं शक्यमेवेति भावः ॥६॥

गी०भू०—ननु गङ्गेव येषां मनोवृत्तिरोधवती, तेषां त्वत्प्राप्ति-
स्त्वरया स्यान्मम तु तादृशी न तद्वृत्तिस्ततः कथं सेति चेत्तत्राह-
अथेति । स्थिरं यथा स्यात्तथा मयि चित्तं सम्यगनायासेना-
धातुमर्पयितुं न शक्नोषि चेत्तातोऽभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ-
यतस्व-ततोऽन्यत्र गतस्य मनसः प्रत्याहृत्य शनैः शनैर्मयि स्थाप-
नमभ्यासस्तेन मनांसि मत्प्रबणे सति मत्प्राप्तिः सुलभा स्यादिति
भावः ॥६॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

सारा०ब०—अभ्यासेऽपीति-यथा पित्तदूषिता रसना मत्स्य-
रिडयां नेच्छति, तथैवाविद्या-दूषितं मनस्त्वद्वरूपादिकं मधुर-
मापि न गृह्णातीत्यतस्तेन दुर्ग्रहेन महाप्रबलेन मनसा सह योद्धु-
मया नैव शक्यत इति मन्यसे चेदिति भावः । मत्कर्मणां पर-
माणि यस्य सः । कर्माणि मदीय-श्रवणकीर्तनबन्दनार्चन-
मन्मन्दिरमार्जनाभ्युक्षणपुष्पाहरणादि-परिचरणानि कुर्वन्,
विनापि मत्स्मरणं सिद्धिं प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणां प्राप्स्यसीति ॥१०॥

गी०भू०—ननु बायोऽरिव मनसोऽतित्वापल्यात्तास्य प्रत्याहारो
मम न शक्तिरिति चेत्तत्राह-अभ्यासेऽपीति । उक्तलक्षणेऽभ्यासे-
ऽपि चेत्त्वमसमर्थस्तर्हि मत्कर्मणां परमाणि पुमर्थभूतानि यस्य
तादृशो भव, तानि च मन्त्रिकेतनिर्माणा मत्पुष्पवाटीसेचनादीनि

पूर्वमुक्तानि । एवं सुकराणि मदर्थानि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिं तत्र
तत्रातिमनोज्ञमन्मूत्युद्देशमहिम्ना तादृशे मयि निरतमनाः
संसिद्धिं मत्सामीप्यलक्षणामवाप्स्यसीत्यतिसुगमोऽयमुपायः ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

सारा०ब०—एतदपि कर्तुं मशक्तश्चेत्तर्हि मद्योगमाश्रितो
मयि सर्वकर्मसमर्पणम्, मद्योगस्तमाश्रितः सन् सर्वकर्म-
फलत्यागं प्रथमषट्कोक्तं कुरु । अयमर्थः-प्रथमषट्के भगवद-
पित्तनिष्कामकर्मयोग एव मोक्षोपाय उक्तः ; द्वितीयषट्केऽस्मिन्
भक्तियोग एव भगवत्प्राप्त्युपाय उक्तः । स च भक्तियोगो
द्विविधः-भगवन्निष्ठोऽन्तःकरणव्यापारो बहिष्करणव्यापारश्च ।
तत्र प्रथमस्त्रिविधः-स्मरणात्मको, मननात्मकश्चास्वयणद्वन्द्व-
सामर्थ्ये तदनुरागिनां तदभ्यासरूपश्चेति त्रिक एवायं मन्दधियां
दुर्गमः, सुधियां निरपराधानां तु सुगम एव ; द्वितीयः श्रवण-
कीर्तनात्मकस्तु सर्वेषामेव सुगम एवोपायः । एवमुभयोपाय-
बन्तोऽधिकारिणः सर्वतः द्वितीयषट्केऽस्मिन्नुक्ताः । एतत्कृत्य-
समर्था इन्द्रियाणां भगवन्निष्ठोऽकृतावश्रद्धालवश्च भगवदपित्त-
निष्कामकर्मिणः प्रथमषट्कोक्ताधिकारिणोऽस्मान्निष्ठश्चा एवेति ॥११॥

गी०भू०—अथ महाकुलीनत्व-लोकमुख्यत्वादिना प्रतिबन्धेन
बाधितस्त्वमन्यो वै तन्मन्त्रिकेत-विमार्जनादि-मत्प्रीतिकरमत्सु-
कर्मपि कर्म चेत् कर्तुं मशक्तोऽसि ततो मद्योगं मच्छरणतामा-
श्रितः सन् सर्वेषामनुष्ठीयमानानां कर्मणां फलत्यागं कुरु यता-
त्मवान् विजितमना भूत्वा, तथा च फलाभिसन्धिः शून्यैरग्निहोत्र-
दर्शपौर्णमास्यादिभिर्मदाराधनरूपैः कर्मभिर्विषतन्तुबद्धन्तरभ्यु-
दितेन ज्ञानेन स्वपरात्मनोः शेषशेषिभावेऽभ्युदिते स्वशेषिणि

सर्वोत्तमत्वेन विदिते शनैः शनैः परापि भक्तिः स्यादिति ।
एवमेव वक्ष्यति—‘यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्’ इत्यादिना ‘मद्भक्तिं
लभते पराम्’ इत्यन्तेन ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

सारा०व०—अथोक्तानां स्मरणमननाभ्यासानां यथापूर्वं श्रेष्ठं
स्पष्टीकृत्याह श्रेयो हीति । अभ्यासाज्ज्ञानं मयि बुद्धि निवेशयेत्युक्तं
मन्मननं श्रेयः श्रेष्ठम् ; अभ्यासे सत्यायासत एव ध्यानं स्यात्,
मनने सति त्वनायासत एव ध्यानमिति विशेषात्तस्मात् ज्ञानादपि
ध्यानं विशिष्यते—श्रेष्ठमित्यर्थः , कुत इत्यत आह—ध्यानात्
कर्मफलानां स्वर्गादिमुखानां निष्कामकर्मफलस्य मोक्षस्य च
त्यागस्तत्पट्टा-राहित्यं स्यात् , स्वतः प्राप्तस्यापि तस्योपेक्षा ।
निश्चलध्यानात् पूर्वन्तु भक्तानामजातरतीनां मोक्षत्यागच्छैव
भवेत् । निश्चलध्यानवतां तु मोक्षोपेक्षा, सैव मोक्षलघुताकारिणी,
यदुक्तं भक्तिरसामृतासिन्धो—“क्लेशघ्नी शुभदा” इत्यत्र षडभिः
पदैरेतन्माहात्म्यं कीर्त्तितमिति । यदुक्तम्—“न पारमेष्ठ्यं न महेंद्र-
धिष्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं
वा मय्यपितात्मेच्छति मद्भिन्नान्यत् ॥” इति । मय्यपितात्मा
मद्भयानानिष्टः । त्यागाद्वैतृण्यादनन्तरमेव शान्तिर्मदूरुपगुणा-
दिकं विना सर्वविषयेष्वेवेन्द्रियाणामुपरतिः । अत्र पूर्वार्द्धे
‘श्रेयः’ इति ‘विशिष्यते’ इति पदद्वयेनान्वयादुत्तरार्द्धे तु ‘अनन्त-
रम्’ इत्यनेनैवान्वयादेवैव व्याख्या सम्यगुपपद्यते नान्येत्य-
वधेयम् ॥ १२ ॥

गी०मू०—सुकरत्वादप्रमादत्वाज्ज्ञानगर्भत्वाच्चानभिसंहितं
फलं कर्मयोगं स्तौति,—श्रेयो हीति । अभ्यासान्मत्तमृत्तिसा-

तत्पदादनिष्पन्नाज्ज्ञानं स्वात्मसाक्षात्कृतिरूपं श्रेयः प्रशस्त-
तरम् , परमात्मोपलब्धिद्वारत्वात् ज्ञानाच्च तस्मादनिष्पन्नात् माय-
न्मूतं ध्यानं स्वात्मचिन्तनलक्षणं विशिष्यते—स्वहितत्वे श्रेयो
भवति, ध्यानाच्च तस्मादनिष्पन्नात् कर्मफलत्यागस्तन्मिन्नं श्रेयान्,
त्यक्तफलं कर्मैव प्रशस्ततरम् , त्यागादनन्तरं शान्तिरनन्तरं फला-
दनुष्ठितात् कर्मणोऽनन्तरं मनःशुद्धिरित्यर्थः । तथा च शुद्धे
मनसि ध्यानं निष्पद्यते, निष्पन्ने ध्याने स्वसाक्षात्कृतिरूपं ज्ञानं,
ज्ञाने निष्पन्ने तत्फलभूतं परमात्मज्ञानम् , तेन परा भक्तिस्तयै-
श्वर्यप्रधानस्य मम प्राप्तिरिति दुर्गमोऽयमुपाय इति भावः । न
चायमर्जुनं प्रत्युपदेशस्तस्यैकान्तित्वात् । सन्निष्ठा निष्कामकर्म-
रता हरिध्यायिनश्च स्वात्मानमनुभूय ततोऽभ्युदितया हरिविषय-
कया पाहमैश्वर्यगुणया परया भक्त्या हरिं प्रेमान्पदमनुभ-
वन्तो विमुच्यन्त इति गीताशास्त्रार्थपद्धतिः । किन्वेकान्तित्वासक्तं
प्रतीतिबोध्यम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यनात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

सारा०व०—एतादृश्याः शान्त्या भक्त कीदृशो भवतीत्यपे-
क्षायां बहुविधभक्तानां स्वभावभेदानाह—अद्वेष्टेत्यष्टभिः । अद्वेष्टा
द्विषत्स्वपि द्वेषं न करोति, प्रत्युत मैत्रो मित्रतया वर्त्तते, करुण
एषामसद्गतिर्मा भवत्विति बुद्ध्या तेष्वपि कृपालुः । ननु
कीदृशेन विवेकेन द्विषत्स्वपि मैत्रीकारुण्ये स्याताम् , तत्र विवेकं
विनैवेत्याह—निर्ममो निरहंकार इति—पुत्रकलत्रादिषु ममत्वा-

भावाद्देहे चाहङ्काराभावात् तस्य मद्भक्तस्य कापि द्वेष एव नैव फलति, कुतः पुनर्द्वेषजनितदुःखशान्त्यर्थं तेन विवेकः स्वीकर्त्तव्य इति भावः । ननु तदप्यन्यकृतपादुका-मुष्टिप्रहारादिभिर्देहव्यथाधीनं दुःखं किञ्चिद्भवत्येव ? तत्राह-समदुःखसुखम्; यदुक्तं भगवता चन्द्राद्धशेखरेण--“नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥” इति । सुखदुःखयोः साम्यं समदर्शित्वम्, तच्च मम प्रारब्धफलमिदमवश्यभोग्यमिति भावनामयं, साम्येऽपि सहिष्णुनैव दुःखं सह्यत इत्याह-क्षमी क्षमवान्, क्षम सहने धातुः । नन्वेतादृशस्य भक्तस्य जीविका कथं सिध्येत् ? तत्राह सन्तुष्टः-यदृच्छोपस्थिते किञ्चिद्यत्नोपस्थिते वा भक्ष्यवस्तुनि सन्तुष्टः । ननु समदुःखसुख इत्युक्तम् तत् कथं स्वभक्ष्यमालक्ष्य सन्तुष्ट इति तत्राह-सततं योगी भक्तियोगयुक्तो भक्तिसिद्धयर्थमिति भावः । यदुक्तम्--“आहारार्थं यतेनैव युक्तं तत्प्राणधारणम् । तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय परं ब्रजेत्” इति । किञ्च दैवादप्राप्तभक्ष्योऽपि यतात्मा संयतचित्ताः क्षोभरहित इत्यर्थः । दैवाच्चित्ताक्षोभे सत्यपि तदुपशमार्थमष्टाङ्गयोगाभ्यासादिकं नैव करोतीत्याह-दृढनिश्चयोऽनम्यभक्तिरेव मे कर्त्तव्येति निश्चयस्तस्य न शिथिलीभवतीत्यर्थः । सर्वत्र हेतुः-मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मत्स्मरणमननपरायण इत्यर्थः । इदृशो भक्तस्तु मे प्रियो मामतिप्रीणयतीत्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

गी०भू०-एवमेकान्तिभक्तान् परिनिष्ठतादीननेकान्तिभक्तान् सनिष्ठांश्च तत्तत्साधनभेदैरुपवर्ण्य तेषां सर्वोपरिज्ञानं गुणान् विदधाति-अद्वेष्टेति सप्तभिः । सर्वभूतानामद्वेष्टा द्वेषं कुर्वन्त्वपि तेषु मत्प्रारब्धानुगुणपरेशप्रेरितान्यमूनि मह्यं द्विषन्तीति द्वेषशून्यः, परेशाधिष्ठानान्यमूनीति तेषु मैत्रः स्निग्धः, केनचिन्नि-

मितेन खिन्नेषु माभूदेषां खेद इति करुणः, देहादिषु निर्ममः प्रकृतेरमी विकारा न ममेति तेषु ममताशून्यः, निरहङ्कारस्तेष्वामाभिमानरहितः, समदुःखसुखः सुखे सति हर्षेण दुःखे सति उद्वेगेन चाव्याकुलः, यतः क्षमी तत्तत्सहिष्णुः सततं सन्तुष्टो लाभेऽलाभे च प्रसन्नचित्ताः, यतो योगी गुरुपदिष्टोपायनिष्ठः, यतात्मा निजितेन्द्रियवर्गः, दृढनिश्चयो दृढः कुतर्कैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयो हरेः किङ्करोऽस्मीति अध्यवसायो यस्य सः, अतो मय्यर्पितमनोबुद्धिः, एवम्भूतो यो मद्भक्तः, स मे प्रियः प्रीतिकर्त्ता ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

मारा०व०-किञ्च “यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः” इत्याद्युक्तेर्मत्प्रीतिजनका अन्येऽपि गुणा मद्भक्त्या मुहुरभ्यस्तया स्वतएवोत्पद्यन्ते तानपि त्वं शृण्वत्याह-यस्मादिति पञ्चभिः । हर्षादिभिः प्राकृतैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त इत्यादिनोक्तानपि काञ्चिद्गुणान् दुर्लभत्वापनार्थं पुनराह-यो न हृष्यतीति ॥ १५ ॥

गी०भू०-यस्मान्नोद्विजते लोकोऽपि जनो नोद्विजते-भयशङ्कया क्षोभं न लभते, यः कारुणिकत्वाज्जनोद्वेजकं कर्म न करोति, लोकाश्च यो नोद्विजते-सर्वाविरोधित्वविनिश्चयाद्यद्वेजकं कर्म लोको न करोति, यश्च हर्षादिभिः कर्त्ता भिर्मुक्तो, न तु तेषां मोचने स्वयं व्यापारी-अतिगम्भीरात्मरतिनिमग्नत्वात्तात्पर्येणापि रहित इत्यर्थः, तत्र स्वभोग्यागमोत्साहो हर्ष, परभोग्यागमासहनमर्षः, दुष्टसत्त्वदर्शनाधीनो वित्रासः भयं, कथं निरुद्यमस्य मम जीवनमिति बिभ्रोभस्तूद्वेगः-एताश्चतस्रः चित्तावसायः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दत्त उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

सारा०ब०—अनपेक्षो व्यवहारिककार्यपेक्षारहित उदासीनो व्यवहारिकलोकेष्वनासक्तः सर्वान् व्यवहारिकान् दृष्टादृष्टाथां तथा पारमार्थिकानपि कांश्चित् शास्त्राध्यापनादीनारम्भानुव-मान् परिहर्त्तुं शीलं यस्य सः ॥ १६ ॥

गी०भू०—अनपेक्षः स्वयमागतेऽपि भोग्ये निस्पृहः, शुचि-र्बाह्याभ्यन्तरपावित्रवान्, दक्षः स्वशास्त्रार्थविमर्शसमर्थः, उदा-सीनः परपक्षाग्राही, गतव्यथोऽपकृतोऽप्याधिशून्यः, सर्वारम्भ-परित्यागी स्वभक्तिप्रतीपाखिलोद्यमरहितः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

गी०भू०—यः प्रियं पुत्रशिष्यादि प्राप्य न हृष्यति, अप्रियं तत् प्राप्य तत्र न द्वेष्टि, प्रिये तस्मिन् विनष्टे न शोचति, अप्राप्तं तन्नाकाङ्क्षति, शुभं पुण्यमशुभं पापं तदुभयं प्रतिबन्धकत्व-साम्यात् परित्यक्तुं शीलं यस्य सः ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

सारा०ब०—अनिकेतः प्राकृतस्वास्पदासक्तिशून्यः ॥ १६ ॥

गी०भू०—समः शत्रौ चेति स्फुटार्थः । सङ्गविवर्जितः कुसङ्ग-शून्यः तुल्येति । निन्दया दुःखं स्तुत्या सुखञ्च यो न विन्दति,

मौनी यतवाक् स्वेष्टमननशीलो वा, येन केनचिददृष्टादृष्टेन कश्चेन स्निग्धेन बान्नादिना सन्तुष्टः, अनिकेतो नियतनिवासरहितो निके-तमोदशून्यो वा, स्थिरमतिर्निश्चितज्ञानः । एष्वद्वेष्टेत्यादिषु सप्तसु येषु गुणानां पुनरप्याभिधानं तत्तोषामतिदौर्लभ्यज्ञापनार्थमित्य-दोषः । सन्निष्ठादीनां त्रिविधानां भक्तानां सम्भूय स्थिता एते-ऽद्वेष्टृत्वादयो धर्मा यथासम्भव-तारतम्येनैव सुधीभिः सङ्गम-नीयाः ॥१८-१९॥

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पश्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।



सारा०ब०—उक्तान् बहुविध-स्वभक्तनिष्ठान् धर्म्मानुपसंहरन् कार्त्तस्नेतैर्लक्ष्मसूनां तच्छ्रवणविचारणादिफलमाह—ये त्विति । एते भक्त्युत्थशान्त्युत्थधर्म्मा न प्राकृता गुणाः—“भक्त्वा तुप्यति कृष्णो न गुणैः” इत्युक्तिर्कोटितः । ‘तु’—भित्तोपक्रमे उक्तलक्षणा भक्ता एकैकसुस्वभावाभिष्टाः । एते तु तत्तत्सर्व-सल्लक्षणेप्सवः साधका अपि तेभ्यः सिद्धेभ्योऽपि भेष्टाः, अत-एवातीवेति पदम् ॥ २० ॥

सर्वश्रेष्ठा सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका ।

भक्तिरेवाद्भुतगुणेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

निम्बद्राक्षे इव ज्ञानभक्ती यद्यपि दर्शिते ।

आदीयेते तदप्येते तत्तदास्वाद-लोभिभिः ॥ (३)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु द्वादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (४)

गी०भू०—उक्तभक्तियोगमुपसंहरन् तस्मिन्निष्ठा-फलमाह-ये
त्विति । ये भक्ता यथोक्तं 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' इत्यादि-
भिर्यथागतमिदं धर्म्मामृतं पय्युपासते-प्राप्यं मामिव प्रापकं तत्
समाश्रयन्ति, श्रद्धावाना भक्तिश्रद्धालवो मत्परमा मन्निरतास्ते
ममातीव प्रिया भवन्ति ॥२०॥

बशः स्वैव जुषां कृष्णः स्वभक्त्येकजुषां तु सः ।

प्रीत्यैवातिबशः श्रीमानिति द्वादशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये द्वादशोऽध्यायः ।

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।

एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कीन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥१॥

सारा०व०—नमोऽस्तु भगवद्भक्त्यै कृपया स्वांशलेशतः ।

ज्ञानादिष्वपि तिष्ठेत्तात् सार्थकीकरणा यथा ॥(१)

षट्के तृतीयेऽत्र भावितमिश्रं ज्ञानं निरूप्यते ।

तन्मध्ये केवला भक्तिरपि भङ्ग्या प्रकृत्यते ॥(२)

त्रयोदशे शरीरञ्च जीवात्म-परमात्मनोः ।

ज्ञानस्य साधनं जीवः प्रकृतिश्च विविच्यते ॥(३)

तदेवं द्वितीयेन षट्केन केवलया भक्त्या भगवत्प्राप्तिः ;
ततोऽन्या अहंमहोपासनाद्यास्तिस्र उपासनाश्चोक्ताः । अथ
प्रथमषट्कोदितानां निष्कामकर्मयोगिनां भक्तिमिश्रज्ञानादेव
मोक्षस्तच्च ज्ञानं संक्षेपादुक्तमपि पुनः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञादि-बिबेचनेन
विवर्तितुं तृतीयं षट्कमारभते ॥ १ ॥

गी०भू०—कथिताः पूर्वषट्काभ्यामर्थजीवादयोऽत्र ये ।

स्वरूपाणि विशोध्यन्ते तेषां षट्केऽन्तिमे स्फुटम् ॥

भक्तौ पूर्वोपदिष्टायां ज्ञानं द्वारं भवत्यतः ।

देहजीवेशविज्ञानं तद्वक्तव्यं त्रयोदशे ॥

गी०भू०—आद्यषट्के निष्कामकर्मसाध्यं जीवात्मज्ञानं पर-
मात्मज्ञानोपयोगितया दर्शितम्, मध्यषट्के तु 'भक्ति शब्दितं
परमात्मोपासनं तन्महिमनिगदपूर्वकं उपदिष्टम्, तच्च केवलं तद्व-
श्यताकरं सत्ताप्रापकम् । आर्त्तादीनां तु तमुपासीनानामात्तिविना-
शादकरं तदेकान्तिप्रसङ्गेन केवलं सत्ताप्रापकञ्च । योगेन ज्ञानेन
चोपसृष्टं त्वैश्वर्यप्रधानतद्रूपोपलम्भकं मोक्षकं चेत्युक्तम् । तथा-
स्मिन्नन्यषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संयोगहेतुक-जगत्तादीश्वरस्वरूपाणि
कर्मज्ञान-भक्ति स्वरूपाणि च विविच्यन्ते । ज्ञानवैशद्याय एता-
वत्त्रयोदशोऽस्मिन्नध्याये देह-जीव-परेश-स्वरूपाणि विवेचनीयानि,
देहादिबिबिक्तस्यापि जीवात्मनो देहसम्बन्धहेतुस्ताद्वेकानु-
सन्धिप्रकारश्च विमर्शनीयः । तादृग्मर्थजातमभिधातुं भगवानु-
वाच-इदमिति । हे कीन्तेय ! इदं सेन्द्रियप्राणं शरीरं भोक्तु-
र्जीवस्य भोग्यसुखदुःखादि-प्ररोहकत्वात् क्षेत्रमित्यभिधीयते
तत्क्षेत्रज्ञैः । एतच्छरीरं देवोऽहं मानवोऽहं स्थूलोऽहमित्यज्ञैरात्म-
भेदेन प्रतीयमानमपि यः शय्यासनादिबद्धात्मनो भिन्नमात्म-
भोगमोक्षसाधनञ्च वेत्ति, तं वेद्याच्छरीरात्ताद्वेदितुतया भिन्नं

तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञाः क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः । भोगमोक्षसाधनत्वं शरीरस्योक्तं श्रीभागवते—“अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः । हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्” इति । शरीरात्मवादी तु क्षेत्रज्ञो न, क्षेत्रत्वेन तज्ज्ञानाभावात् ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

सारा०ब०—तत्र किं क्षेत्रं कः क्षेत्रज्ञ इत्यपेक्षायामाह—
इदमिति । इदं सेन्द्रियं योगायतनं शरीरं क्षेत्रम्, संसारवृक्षस्य प्ररोहभूमित्वात् । तयो वेत्ता बन्धदशायामहं ममेत्यभिमन्यमानं स्वसम्बन्धत्वेनैव जानाति, मोक्षदशायामस्त्वहं ममेत्यभिमानरहितः स्वसम्बन्धराहतमेव यो जानाति, तमुभयावस्थं जीवं क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः,—कृषीबलवत् स एव क्षेत्रज्ञस्तत्फलभोक्ता च यदुक्तं भगवता—“अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः । हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥” अस्यार्थः—गृध्यन्तीति गृध्रा ग्रामेचरा बद्धजीवा अस्य वृक्षस्यैकं फलं दुःखमदन्ति परिणामतः स्वर्गादिराप दुःखरूपत्वात्, अरण्यवासा हंसा मुक्तजीवा एकफलं सुखमदन्ति, सर्वथा सुखरूपस्यापवर्गस्याप्येतज्जन्यत्वात् । एवमकर्मापि संसारवृक्षं बहुविध-नरकस्वर्गापवर्गप्रापकत्वाद्बहुरूपम्, मायाशक्तिसमुद्भूतत्वान्मायामयम् । इज्यैः पूज्यैर्गुरुभिः कृत्वा यो वेदोति तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्वेदितारः ॥ २ ॥

गी०भू०—क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम् । अथ परमात्मनस्तदाह—क्षेत्रज्ञश्चापि मामिति । हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु मात्र क्षेत्रज्ञं विद्धि, अपिरवधारणे । जीवाः स्वं स्वं क्षेत्रं स्वभो-

गमोक्षसाधनं जानन्तः क्षेत्रज्ञाः प्रजावत्, अहन्तु सर्वेश्वर एव
एव सर्वानि तानि नियम्यानि भर्त्तव्यानि च जानन् तत्सर्व-
क्षेत्रज्ञो राजवदित्यर्थः । सर्वेश्वरस्यापि क्षेत्रेश्वरस्यापि क्षेत्रज्ञत्व-
क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे । तानि वेत्ति स
योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥” इत्यादिस्मृतिभ्यः । किं ज्ञान-
मित्यपेक्षायामाह—क्षेत्रेति । क्षेत्रेण सहितौ क्षेत्रज्ञौ जीवपरो क्षेत्र-
क्षेत्रज्ञौ, तत्सहितयोस्तयोर्मिथो विवेकेन यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानं
मम मतम्, ततोऽन्यथा त्वज्ञानमित्यर्थः । इदमत्र बोध्यम्—
प्रकृतिजीवेश्वराणां भोग्यत्व-भोक्तृत्व-नियन्तृत्व-धर्मकत्वान्मिथः-
संपृक्तानामपि तेषां न तत्तद्धर्मसाङ्ग्यं चित्राम्बररूपवदित्येव-
माह सूत्रकारः—“न तु दृष्टान्तभावात्” इति श्रुत्यश्च प्रकृत्या-
दीनां विविक्ततद्धर्मकनामाहुः—“पृथगात्मानं प्रेरितारश्च मत्वा
जुष्टतस्तेनामृतत्वमेति”, “ज्ञाज्ञौ द्वावजाबीशानीशावजा ह्येका
भोक्तृभोगार्थयुक्ता”, “क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानाबी-
शते देव एकः”, “भोक्ता भोग्यं प्रेरितारश्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं
त्रिविधं ब्रह्मेतत्”, “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः
सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां
मुक्तभोगामजोऽन्यः ॥” “प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः” इत्यादयः ।
अत्रापि ‘क्षराक्षर’ शब्दबोध्यात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपाद्युगलात् स्वस्य
पुरुषोत्तमस्यान्यत्वं वक्ष्याति—‘द्वाविमौ पुरुषौ’ इत्यादिभिस्तस्मा-
न्मिथः संपृक्तानामपि प्रकृत्यादीनां विविक्ततया ज्ञानं तात्त्विक-
मिति । यत्त्वेकात्मवादिनः ‘क्षेत्रज्ञश्चापि मां विद्धि’ इत्यत्र सामा-
नाधिकरण्यप्रतीत्या सर्वेश्वरस्यैव सतोऽस्या विषयैव क्षेत्रज्ञ-
भावो रज्जोरिव भुजङ्गमत्वम्, तन्निवृत्तये हरेराप्ततमस्येदं वाक्यं
‘क्षेत्रज्ञश्चापि माम्’ इति—‘रज्जुरियं न भुजङ्गः’ इत्याप्तवाक्याद्भु-
जङ्गत्वभ्रान्तिरिव क्षेत्रज्ञत्वभ्रान्तिरस्माद्वाक्याद्विनश्यतीत्याहुस्तत्

किलोपदेश्यासम्भवादेव निरस्तमिति 'देहिनोऽस्मिन्' इत्यस्य भाष्ये द्रष्टव्यम् । एवं तु व्याख्यानं युज्यते । च-शब्दः क्षेत्रसमुच्चयार्थः, क्षेत्रं क्षेत्रज्ञश्च मामेव विद्धि-मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वान्मद्व्याप्यत्वाच्च मदात्मकं जानीहीति । एवमेवोक्तं-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । तयोर्मदधीनप्रवृत्तिकत्वादिभिर्मदात्मकतया यज्ज्ञानं, तज्ज्ञानं मम मतमितोऽन्यथा त्वमतमिति ॥२॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

सारा०ब०—एवं क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम्, परमात्मनस्तु ततोऽपि कार्त्तुस्येन सर्वक्षेत्रज्ञत्वात् क्षेत्रज्ञत्वमाह-क्षेत्रज्ञमिति । सर्वक्षेत्रेषु नियन्त्रित्वेन स्थितं मां परमात्मानं क्षेत्रज्ञं विद्धि । जीवानां प्रत्येकमेकैकक्षेत्रज्ञानां तदपि न कृत्स्नम् । मम त्वेकस्यैव सर्वक्षेत्रज्ञत्वं कृत्स्नमेवेति विशेषो ज्ञेयः । किं ज्ञानमित्यपेक्षायामाह-क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्मपरमात्मनो-र्थज्ज्ञानं क्षेत्रजीवात्मपरमात्मनां यज्ज्ञानमित्यर्थः । तदेव ज्ञानं मम मतं सम्मतं च । तत्र "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्युत्तरग्रन्थविरोधाद्व्याख्यान्तरेणैकात्मवादपक्षो नानुकर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

गी०भू०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विशदयितुमाह-तदिति । तत् क्षेत्रं शरीरं-यच्च यद्द्रव्यं, यादृक् यदाश्रयभूतं, यद्विकारि यैर्विकारैरुपेतं, यतश्च हेतोरुद्भूतं यत् प्रयोजनकञ्च, यदिति यत् स्वरूपम्, स च क्षेत्रज्ञो जीबलक्षणः परेशलक्षणश्च-यो यत्स्वरूपो यत्प्रभावो यच्छक्तिकश्च, तत्समासेन मे मत्ताः शृणु । तदिति क्लीबशेषत्वमेकबद्धावश्च-"नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" इति सूत्रात् ॥३॥

ऋषिभिर्वहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

सारा०ब०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरितुमारभते-तत् क्षेत्रं शरीरं यच्च महाभूतप्राणेन्द्रियादि-संघातरूपम्, यादृक् यादृशोच्छादि-धर्मकम्, यद्विकारि यैरिप्रियादिविकारैर्युक्तम्, यतश्च प्रकृति-पुरुषसंयोगादुद्भूतम्, यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः । स क्षेत्रज्ञो जीवात्मा परमात्मा च । यत् तदिति नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चेति 'एकशेषः' । ममासेन संक्षेपेण ॥४॥

गी०भू०—इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं कैर्विस्तरेणोक्तं यत् समासेन ब्रूष इत्यपेक्षायामाह-ऋषिभिरिति । ऋषिभिः पराशरादिभिरेतन् क्षेत्रादिस्वरूपं बहुधा गीतम्-"अहं त्वञ्च तथान्ये च भूतैरुत्थामपार्थिव । गुणप्रबाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते । अविद्या-सञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥" इत्यादिभिः, तथा छन्दोभिर्वैविध्यैः सर्वैर्वहुधा तद्गीतं यजुःशाखायां-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यन्तेनान्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च पुरुषाः पठितास्तेष्वन्नमयादिवयं जडं क्षेत्रस्वरूपं, ततो भिन्नो विज्ञानमयो जीबस्तस्य भोक्तेति जीबक्षेत्रज्ञस्वरूपं, तस्माच्च भिन्नः सर्वान्तर आनन्दमय इतीश्वरक्षेत्रज्ञस्वरूपमुक्तम् । एवं वेदान्तरेषु मृग्यम् । ब्रह्मसूत्ररूपैः पदैर्वाक्यैश्च तद्व्याथात्म्यं गीतम्-तेषु "न ब्रियद्भूतेः" इत्यादिना क्षेत्रस्वरूपं, "नात्मा भ्रूतेः" इत्यादिना जीबस्वरूपं, "परात्तु तच्छ्रूतेः" इत्यादिनेश्वरस्वरूपम् । स्पष्टमन्यन् ॥४॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
 इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
 इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
 एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
 अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
 आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
 इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
 जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
 असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
 नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
 मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
 विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
 अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
 एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तपज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
 ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्त्वान्मासदुच्यते ॥१२॥

सारा०ब०—कैविस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायामाह—
 ऋषिभिर्वशिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु, छन्दोभिर्वेदैश्च, ब्रह्मसूत्राणि—
 “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यादीनि तान्येव सूत्राणि, ब्रह्म पद्यते
 ज्ञायते एभिरिति तानि । तथा तैः कीदृशैर्हेतुमद्भिः “ईक्षतेर्ना-
 शब्दम्”, “आनन्दमयोऽभ्यासात्” इति युक्तिमद्विर्विनिश्चितैर्वि-
 शेषतो निश्चितार्थैः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—तत्र क्षेत्रस्य स्वरूपमाह—महाभूतान्याकाशा-
 दीन्यहङ्कारस्तत्कारणम्, बुद्धिर्विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वमहङ्कारकारण-
 मव्यक्तं प्रकृतमहत्तत्त्वकारणमिन्द्रियार्थिण श्रोत्रादीनि दशैकश्च मनः,
 इन्द्रियगोचराः पञ्च शब्दादयो विषयास्तदेवं चतुर्विंशतितत्त्वा-
 त्मकमिति । इच्छादयः प्रसिद्धाः, संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामो
 देहः, चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिर्धृतिर्धैर्यम्—इच्छादयश्चैते
 मनोधर्मा एव न स्वात्मधर्माः । अतः क्षेत्रान्तःपातिन एव ।
 उपलक्षणञ्चैतत् सङ्कल्पादीनाम्—तथा च श्रुतिः “कामः
 सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाधृतिर्हर्षाभीरित्येतत् सर्वं मन एव”
 इति । अनेन यादृगिति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्मा दर्शिताः । एतत्
 क्षेत्रं सविकारं जन्मादिषड्विकारसहितम् ॥ ६-७ ॥

सारा०ब०—उक्तलक्षणात् क्षेत्राद्विबिक्ततया ज्ञेयो जीवा-
 त्मपरमात्मानौ क्षेत्रज्ञौ विस्तरेण वर्णयिष्यन् तज्ज्ञानस्य साधना-
 न्यमानित्वादीनि विंशतिमाह पञ्चभिः । अत्राष्टादश भक्तानां
 ज्ञानिनाञ्च साधारणानि किन्तु भक्तैः “मयि चानन्ययोगेन
 भक्तिरव्यभिचारिणी” इत्येकमेव भगवदनुभवसाधनत्वेन यत्नतः
 क्रियते । अन्यानि सप्तदशोक्ताभ्यासवत्तां तेषां स्वतएवोत्पद्यन्ते
 न तु तेषु यत्न इति साम्प्रदायिकाः । अन्तिमे द्वे तु ज्ञानि-
 नामसाधारण एव । अत्रामानित्वादीनि विस्पष्टार्थानि । शौचं
 बाह्यमाभ्यन्तरञ्च तथा च स्मृतिः—“शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं
 बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्त-
 यान्तरम् ॥” इति, आत्माविनिग्रहः शरीरसंयमः ; जन्मादिषु
 दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनः पुनः पर्यालोचनम् ; असक्तिः
 पुत्रादिषु प्रीतित्यागोऽनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखेदुःखे चाहमेव सुखी
 दुःखीत्यध्यासाभाव इष्टानिष्टयोर्व्यवहारिकयोरुपपत्तिषु प्राप्त्यु-
 नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम् ; मयि श्यामसुन्दराकारेऽनन्ययोगेन

ज्ञानकर्मतपोयोगाद्यमिश्रणेन भक्तिश्च-काराद्ज्ञानादिमिश्रण-
प्राधान्येन च । आद्या भक्तैरनुष्ठेया, द्वितीया ज्ञानिभिरिति केच-
दन्ये त्वनन्या भक्तिर्यथाप्रेमणः साधनं तथा परमात्मानुभव-
स्थापीति ज्ञापनार्थमत्र षट्केऽप्युक्तिरिति भक्ता व्याचक्षते,
ज्ञानिनस्त्वनन्येव योगेन सर्व्वीत्मदृष्टयेति । अव्यभिचारिणी-
प्रतिदिनमेव कर्त्तव्या, 'केनापि निवारयितुमशक्या' इति
मधुसूदनसरस्वतीपादाः । आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानं ज्ञानमध्या-
त्मज्ञानम्, तस्य नित्यत्वं नित्यानुष्ठेयत्वं पदार्थशुद्धिनिष्ठत्व-
मित्यर्थः । तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षस्तस्य दर्शनं स्वाभीष्टत्वे-
नालोचनमित्यर्थः । एतद्विशतिकं ज्ञानं साधारण्येन जीवात्म-
परमात्मनोर्ज्ञानस्य साधनम् । असाधारणं परमात्मज्ञानं त्वमे-
वक्तव्यम् । ततोऽन्यथागमाद्बिपरीतं मानित्वादिकम् ॥ ८-१२ ॥

गी०भू०—'तत् क्षेत्रं यच्च' इत्याद्यर्द्धकेन वक्तुं प्रतिज्ञातं
क्षेत्रस्वरूपमाह-महाभूतानीति द्वाभ्याम् । महाभूतानि पञ्च खादी-
न्यहङ्कारस्तद्धेतुस्तामसो भूतादिसंज्ञो बुद्धिस्तद्धेतुर्ज्ञानप्रधानो म-
हानव्यक्तं तद्धेतुः त्रिगुणावस्थं प्रधानमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च
वागदीनि च पञ्चेति दश बाह्यानि राजसाहङ्कारकार्य्याण्येकं सा-
त्त्विकाहङ्कारकार्य्यमन्तरिन्द्रियं मन इत्येवमेकादशेन्द्रियाणीन्द्रिय-
गोचराः पञ्चेति भूतादि-खाद्यन्तरालिकाः सूक्ष्माः शब्दादितन्मा-
त्राः खादिर्विशेषगुणतया व्यक्ताः सन्तः स्थूलाः श्रोत्रादिपञ्चकप्राह्या
विषया इत्यर्थः । एवं चतुर्विंशति-तत्त्वात्मकं क्षेत्रं ज्ञेयम् । इच्छा-
दयश्चत्वारः प्रसिद्धाः संकल्पादीनामुपलक्षणमेतत्, एते मनो-
धर्म्माः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भी-
रित्येतत् सर्व्वं मन एव' इति श्रुतेः । यद्यप्यात्मधर्म्मा इच्छादयो
“य आत्मा” इत्यादौ “सत्यकामः सत्यसंकल्पः” इति श्रवणात्,
“पठेद्य इच्छेत् पुरुषः” इति सहस्रनामस्तोत्रात्, “पुरुषः सुख-

दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते” इति वक्ष्यमाणान्न, तथापि मनो-
द्वाराभिव्यक्ते मनोधर्म्मत्वमतः क्षेत्रान्तःपातः संघातो भूतपरि-
णामो देहः, स च चेतना धृतिर्भोगाय मोक्षाय च यतमानस्य
चेतनस्य जीवस्याधारतयोत्पन्न इत्यर्थः । अत्र प्रधानादिद्रव्याणि
क्षेत्रारम्भकाणीति, यच्चेत्यस्य श्रोत्रादीन्द्रियाणि श्रोत्राश्रितानीति,
यादृगत्यस्येच्छादीनि क्षेत्रकार्य्याणीति, यद्विकारीत्यस्य चेतना
धृतिरिति, यतश्चेत्यस्य संघात् इति, यदित्यस्योत्तरमुक्तम्, एतत्
क्षेत्रं साविकारं जन्मादिषड्विकारोपेतमुदाहृतमुक्तम् ॥५-६॥

गी०भू०—अथोक्तात् क्षेत्राद्विभिन्नत्वेन ज्ञेयं क्षेत्रज्ञद्वयं विस्त-
रेण निरूपयिष्यन् तज्ज्ञानसाधनान्यमानित्वादीनि विंशतिमाह-
पञ्चभिः—अमानित्वं स्वसत्कारानपेक्षत्वम्, अदम्भित्वं धार्म्मिक-
त्वस्यातिफलकधर्म्माचरणविरहः, अहिंसा परापोदनम्, क्षान्ति-
रपमानसहिष्णुता, आर्जवं छद्दिष्वपि सारल्यम्, आचार्य्यो-
पासनं ज्ञानप्रदस्य गुरोरकैतवेन संसेवनम्, शौचं बाह्याभ्यन्तर-
पावित्र्यम्—“शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । सूज-
लाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥” इति स्मृतेः, स्थैर्य्यं
सद्ब्रह्मैकनिष्ठत्वम्, आत्मविनिग्रह आत्मानुसन्धिप्रतीपाद्बिष-
यान्मनसो नियमनम्, इन्द्रियार्थेषु शब्दादिविषयेषु प्रतीपेषु
वैराग्यं रुच्यभावः, अनहङ्कारो देहादिष्वत्माभिमनत्यागः,
जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनःपुनश्चिन्तनम्, पुत्रा-
दिषु परमार्थप्रतीपेष्वसक्तिः प्रीतित्यागः, अनभिष्वङ्गस्तेषु सुखेषु
दुःखेषु च सत्सु तत्सुखदुःखानभिनिवेशः, इष्टानिष्टानामनुकूल-
प्रतिकूलानामर्थानामुपपत्तिषु प्राप्तिषु समचित्तत्वं हर्षविषादविरहः,
नित्यं सर्व्वदा, मयि परेशेऽव्यभिचारिणी स्थिरा भक्तिः अव-
शाद्या-अनन्ययोगेनैकान्तित्वेन मङ्गलसेवा, तथा विविक्तदेश-

सेवित्वं निर्जनस्थानप्रियता, जनानां प्राग्ग्याणां संसदि रतित्यागः,
अध्यात्ममात्मनि यज्ज्ञानं तस्य नित्यत्वं सर्वदा विमृश्यत्वम्,
तत्त्वं त्वहमेव परं ब्रह्म—“बदन्ति तत्तात्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञान-
मद्वयम्” इत्यादिस्मृतेः, तज्ज्ञानस्य योऽर्थस्तत्प्राप्तिलक्षणस्तस्य
दर्शनं हृदि स्मरणम् । एतदमानित्वादिकं ज्ञानं परम्परया साक्षाच्च
तदुपलब्धिसाधनं प्रोक्तम्—‘जायते उपलभ्यतेऽनेन’ इति व्युत्पत्तेः,
यत्ततोऽन्यथा विपरीतं मानित्वादि, तदज्ञानं तदुपलब्धिविरो-
धीति ॥७-११॥

गी०भू०—एवं ज्ञानसाधनान्युपदिश्य तैर्ज्ञेयमुपदिशति-ज्ञेयं
यत्तदिति । उक्तैः साधनैर्यज्ज्ञेयमुपलभ्यं जीवात्मबस्तु च, तदहं
प्रकर्षेण सुबोधतया ब्रूयामि-यज्ज्ञात्वा जनोऽमृतं मोक्षमश्नुते
लभते । तत्र जीवात्मबस्तूपदिशति-अनादीत्यर्द्धकेन । नास्त्या-
दिर्यस्य तत् जीवस्याद्युत्पत्तिर्नास्त्यतोऽन्तोऽपि नेति नित्याऽसा-
वित्यर्थः, एवमाह श्रुतिः—“न जायते म्रियते वा विपश्चित्” इत्या-
द्या । अहमेव परः स्वामी यस्य तत्—“प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः”
इति श्रुतेः, “दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन” इति स्मृतेश्च ।
अपहतपाप्मत्वादिना ब्रह्म बृहता गुणाष्टकेन विशिष्टम् ; श्रुति-
श्चैवमाह—“य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-
घित्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः”
इति ; जीवे ब्रह्मशब्दस्तु—“विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इत्यादि श्रुतेः,
‘स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते’, “ब्रह्मभूतः प्रस-
न्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति” इति ब्रूयमाणाच्च । न सदिति
तद्विशुद्धं जीवात्मबस्तु कार्यकारणात्मकावस्थाद्वयविरहात् सच्चा-
सच्च नोच्यते, किन्तु परमाणुचैतन्यं गुणाष्टकविशिष्टमुच्यते-
त्रिभक्तनामरूपं कार्यवस्थं सदुपमृदितनामरूपं कारणावस्थं
त्यसदित्यर्थः ॥१२॥

सारा०व०—एवं साधनैर्ज्ञेयो जीवात्मा परमात्मा च । तत्र
परमात्मैव सर्वगतो ‘ब्रह्म’-शब्देनोच्यते । तच्च ब्रह्म निर्विशेषं
सर्वशेषञ्च क्रमेण ज्ञानिभक्तयोरुपास्यम् । देहगतोऽपि चतुर्मुञ्ज-
त्वेन ध्येयः परमात्म-शब्देनोच्यते । तत्र प्रथमं ब्रह्माह—ज्ञेयमिति ।
अनादि न विद्यते आदिर्यस्य मत्स्वरूपत्वान्नित्यमित्यर्थः । मत्पर-
महमेव पर उत्कृष्ट आश्रयो यस्य तत्, “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा-
हम्” इति मदग्रिमोक्तेः । तदेव किमित्यपेक्षायामाह—तद्ब्रह्म-न
सत्, नाप्यसत् कार्यकारणातीतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सारा०व०—नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति “सर्वं
सत्त्विदं ब्रह्म” “ब्रह्मैवेदं सर्वम्” इत्यादि श्रुतिविरुध्येते-
त्याशङ्क्य स्वरूपतः कार्यकारणातीतत्वेऽपि शक्तेशक्तिमतो-
रभेदात् कार्यकारणात्मकमपि तदित्याह—सर्वत एव पाणयः
पादाश्च यस्य तत्, ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानां पाणिपादवृन्दैः
सर्वत्रप्रैरेव तद्ब्रह्मैवासंख्यपाणिपादैर्युक्तमित्यर्थः । एवमेव
सर्वतोऽक्षीत्यादि ॥ १३ ॥

गी०भू०—अथ परमात्मबस्तूपदिशति-सर्वतः पाणीति ।
तत् परमात्मबस्तु ; ‘सर्वतः पाणिपादम्’ इत्यादि विस्फुटार्थम् ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सारा०व०—किञ्च सर्वाणीन्द्रियाणि गुणानिन्द्रियाविवर्ज-
आभासयतीति “तच्चक्षुषश्चक्षुः” इत्यादि श्रुतेः, यद्वा सर्वेन्द्रि-
यैर्गुणैः शब्दादिभिश्चाभासते विराजतीति सत् । तदपि सर्वे-

न्द्रियविवर्जितं प्राकृतेन्द्रियादिरहितम्, तथा च श्रुतिः—“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” इत्यादि, “परास्य शक्तिर्वहुधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” इति श्रुतिप्रसिद्धस्वरूपशक्त्यास्पदत्वातिदि भावः । असक्तमासक्तिशून्यं, सर्वभूत श्रीविष्णुस्वरूपेण सर्वपालकं, निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहिताकारम् । किञ्च गुणभोक्तृत्रिगुणातीत-‘भग’ शब्दवाच्य-षड्गुणास्वादकम् ॥ १४ ॥

गी०भू०—किञ्च, ‘सर्वेति-सर्वैरिन्द्रियैर्गुणैश्च तद्वृत्तिभि-
राभासते दीप्यत इति तथा, सर्वैरिन्द्रियैर्जीवेन्द्रियवत् स्वरूप-
भिन्नैर्विवर्जितं संत्यक्तं प्राकृतैः करणैः शून्यः स्वरूपानुबन्धिभि-
स्तैर्विशिष्टो हरिरिति स्वीकार्यम् । “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः”, “यदात्मको भगवांस्तदात्मिका
व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः शक्त्या-
त्मकश्चेति बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे—“बुद्धि-
मान्मनोवानङ्गप्रत्यङ्गवान्” इति श्रुतेः ; सर्वभूत सर्वतत्त्व-
धारकमप्यसक्तं सङ्कल्पेनैव तद्धारणात्तात्स्पर्शरहितं निर्गुणं-
“साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च” इति श्रुतेर्माया-गुणास्पृष्टमेव
सद्गुणभोक्तृनियम्यतया “गुणानुभवि-विकारजननीमज्ञाम्”
इत्यारभ्य “एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्र बशानुगाम् । ध्यान-
क्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः ॥” इति श्रव-
णात् ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

सारा०ब०—भूतानां स्वकार्याणां बहिश्चान्तश्च यथा देहा-
नामाकाशादिकम्, अचरं स्थावरं चरं जङ्गमञ्च भूतजातं तदेव,

कार्यस्य कारणात्मकत्वात् । एवमपि रूपादिभिन्नत्वात् तद-
विज्ञेयमिदं तदिति स्पष्टं ज्ञानार्हं न भवतीत्यतएवाविदुषां
योजनकोट्यन्तरमिव दूरस्थम्, विदुषां पुनः स्वगृहस्थितमि-
वान्तिके च तत्स्वदेह एवान्तर्गतामित्रत्वात्,—“दूरात् सुदूरे तदि-
हान्तिके च पश्यतस्विहैव निहितं गुहायाम्” इत्यादि-श्रुतिभ्यः ॥ १५ ॥

गी०भू०—बहिरित—भूतानां चिज्जडात्मकानां तत्त्वानां बहि-
रन्तश्च स्थितम्—“अन्तर्व्वहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः
स्थितः” इति श्रवणात् ; अचरमचलं चरं चलं च—“आमीनो
दूरं व्रजति शयानो याति मर्व्वतः” इति श्रुतेः ; सूक्ष्मत्वात्
प्रत्यक्त्वाच्चित्सुखमूर्चित्वादविज्ञेयं देवान्तरवज्ज्ञातुमशक्यमतो
दूरस्थश्चेति—“यन्मनसा न मनुते न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्”
इति श्रुतेः ; गान्धर्व्व-वासितेन श्रोत्रेण षड्जादिबद्धक्तिभा-
वितेन करणेन तु शक्यं तज्ज्ञातुमित्याह—अन्तिके च तदिति ;
“मनसैवानुद्रष्टव्यम्”, “कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत” “भक्ति-
योगे हि तिष्ठति” इत्यादि-श्रवणात्, “भक्त्या त्वनन्यया शक्यः”
इत्यादि-स्मृतेश्च ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं प्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

सारा०ब०—भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वविभक्तं कारणात्म-
नाभिन्नं कार्य्यात्मना विभक्तं भिन्नमिव स्थितम्, तदेव श्री-
नारायणमवरूपं सत् भूतानां भर्तृ स्थितिकाले पालकम्,
प्रलयकाले प्रसिष्णु संहारकम्, स्थितिकाले प्रभविष्णु च—नाना-
कार्यात्मना प्रभवनशीलम् ॥ १६ ॥

गी०भू०—अविभक्तमिति । विभक्तेषु मिथो भिन्नेषु जीवेश्व-
विभक्तमेकं तद्ब्रह्म विभक्तमिव प्रतिजीवं भिन्नमिव स्थितम्—

“एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्” इति श्रुतेः, “एक एव परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः । ऐश्वर्यादिरूपमेकञ्च सूर्यबहुदुधेयते ॥” इति स्मृतेश्च । तच्च भूतभर्ता स्थितौ भूतानां पालकं प्रलये तेषां प्रमिष्य कालशक्त्या संहारकं, सर्गे प्रभविष्य प्रधानजीवशक्तिभ्यां नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम् ; श्रुतिश्च—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व” इति ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

सारा०ब०—ज्योतिषां चन्द्रादित्यादीनामपि तज्ज्योतिः प्रकाशकं येन सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः—“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमां बिद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥” इत्यादि श्रुतेः । अतएव तमसोऽज्ञानात् परं तेनास्पृष्टम्, उच्यते—“आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” इत्यादि-श्रुतेः । ज्ञानं तदेव बुद्धिबृत्तावभिव्यक्तं सत् ज्ञानमुच्यते, तदेव रूपाद्याकारेण परिणतं ज्ञेयञ्च, तदेव ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादि-ज्ञानसाधनेन प्राप्यमित्यर्थः । तदेव परमात्मस्वरूपं सत् सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतयाधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः ॥१७॥

गी०भू०—ज्योतिषां सूर्यादीनामपि तद्ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशकं—“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारके नेमां बिद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥” इत्यादिश्रुतेस्तद्ब्रह्म तमसः प्रकृतेः परं तेनास्पृष्टमुच्यते—“आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” इति श्रुत्या; ज्ञानं चिदेकरसमुच्यते—“विज्ञानमानन्दघनं ब्रह्म” इति श्रुत्या; ज्ञानं

सुमुक्षोः शरणत्वेन ज्ञातुमर्हमुच्यते—“तं ह देवमात्मवृद्धिप्रकारं सुमुक्षुर्वै शरणमर्हं प्रपद्ये” इति श्रुत्या, ज्ञानगम्यमुच्यते—“तमेव विदित्वा तिसृषुमेति” इति श्रुत्या, सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतया स्थितमुच्यते—“अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्” इति श्रुत्या । न च ‘सर्वतः प्राणि’ इत्यादिपञ्चकं जीवपरतयैव नेयं, तत्प्रकरणत्वादि-वाच्यं-जीवबदीश्वरस्यापि क्षेत्रज्ञत्वेन प्रकृतत्वात् । ‘सर्वतः प्राणि’ इत्यादि-सार्द्धकस्य ब्रह्मवोपक्रम्य श्वेताश्वतरैः पठितत्वात् प्रकरणशावत्यस्योपनिषत्सु बीजशाब्द ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समाप्ततः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

सारा०ब०—उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिफलसहितमुपसंहरति—इतीति । क्षेत्रम्—महाभूतादि धृत्यन्तम् (६-७) ज्ञानम्—अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम् (८-१२) ज्ञेयं ज्ञानगम्यञ्च—अनादीत्यादि धिष्ठितमित्यन्तम् (१३-१८) एकमेव तत्त्वं ब्रह्म भगवत् परमात्म-शब्दवाच्यञ्च संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तो भक्तिमज्ज्ञानी मद्भावाय मत्सायुज्याय, यद्वा मद्भक्तो ममैकान्तिको दास एतद्विज्ञाय मत्प्रभोरेतावदैश्वर्यामिति ज्ञात्वा माय भावाय प्रेम्णा उपपद्यत उपपन्नो भवति ॥ १८ ॥

गी०भू०—उक्तं क्षेत्रादिकं तज्ज्ञानफलसहितमुपसंहरति—इति क्षेत्रमिति । ‘महाभूतानि’ इत्यादिना ‘चेतना धृतिः’ इत्यन्तेन क्षेत्रस्वरूपमुक्तम् ; ‘अमानित्वम्’ इत्यादिना ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ इत्यन्तेन ज्ञेयस्य क्षेत्रद्वयस्य ज्ञानं तत्साधनमुक्तम् ‘अनादिसत्परम्’ इत्यादिना ‘हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्’ इत्यन्तेन ज्ञेयं क्षेत्रद्वयं चोक्तं मया । एतत्त्रयं विज्ञाय मिथो विवेकेनावगत्य मद्भावाय मत्प्रे-

मो मत्स्वभावाय बासंसारित्वाय कल्पते योग्ये भवति मद्भक्तः ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वद्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

सारा०ब०—परमात्मानमुक्त्वा क्षेत्रज्ञशब्दवाच्यं जीवात्मानं बक्तुं कुतस्तस्य माया-संश्लेषः कदा तदारम्भोऽभूदित्यपेक्षाया-माह-प्रकृतिं मायां पुरुषं जीवञ्च उभावपि अनादी न विद्यते आदि कारणं ययोः तथाभूतौ विद्वि, अनादेरीश्वरस्य मम शक्तित्वात् । “भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्वि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥” इति मद्भक्तेर्मया जीवयोरपि मच्छक्तित्वेन अनादि-त्वात् तयोः संश्लेषोऽप्यनादिरिति भावः । तत्र मिथः संश्लिष्ट-योरपि तयोर्वस्तुतः पार्थक्यमस्त्येव इत्याह-विकारांश्च देहेन्द्रि-यादीन् गुणांश्च गुणपरिणामान् सुखदुःखशोकमोहादीन् प्रकृतिसम्भूतान् प्रकृत्युद्भूतान् विद्वीति क्षेत्राकारपरिणतायाः प्रकृतेः सकाशाद्भिन्नमेव जीवं विद्वीति भावः ॥ १९ ॥

गी०भू०—एवं मिथो विविक्तस्वभावयोरनाद्योः प्रकृति-जीवयोः संसर्गस्यानादिकालिकत्वं संसृष्टयोस्तयोः कार्यभेदस्त-त्संसर्गस्यानादिकालिकस्य हेतुश्च निरूप्यते-प्रकृतिमित्यादिभिः । अपिरवधृतौ ; मिथःसंपृक्तौ प्रकृतिपुरुषावुभावनाद्येव विद्वि-मदीयशक्तित्वान्नित्यावेव जानीहि-तयोर्मच्छक्तित्वं तु पुरैवोक्तं भूमिरापः इत्यादिना । अनादिसंसृष्टयोरपि तयोः स्वरूपभेदो-ऽस्तीत्याशयेनाह-विकारान् देहेन्द्रियादीन्, गुणांश्च सुख-दुःखानि प्रकृतिसंभवान् प्राकृतान्, न तु जैवान् विद्वीति क्षेत्रात्मना परिणतायाः प्रकृतेरन्यो जीव इति दर्शितम् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

सारा०ब०—तस्य माया-संश्लेषं दर्शयति-कार्यं शरीरं कारणानि सुखदुःखसाधनानीन्द्रियाणि कर्त्तार इन्द्रियाधिष्ठा-तारो देवास्तत्र तथाध्यासेन पुरुषस्य तद्भावापत्तौ हेतुः प्रकृति-रेव स्यात्-प्रकृतिरेव पुरुषसंसर्गात् कार्य्यादिरूपेण परिणता स्यात्, अविद्याख्यया स्वबृत्त्या तदध्यासप्रदा च स्यादित्यर्थः । तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे तु पुरुषो जीव एव हेतुः । अयं भावः-यद्यपि कार्य्यत्वकारणत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वानि प्रकृतिधर्म-एव स्युस्तदपि कार्य्यत्वादिषु जडांशप्राधान्यात्, सुखदुःख-संवेदनरूपे भोगे तु चैतन्यांशप्राधान्यात्, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् कार्य्यत्वादिषु प्रकृतिर्हेतुर्भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुरित्युच्यते इति ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ संसृष्टयोस्तयोः कार्यभेदमाह-कार्य्येति-शरीरं कार्य्यं, ज्ञानकर्मसाधकत्वादिन्द्रियाणि कारणानि तेषां कर्त्तृत्वे तत्तादाकार-स्वपरिणामे प्रकृतिर्हेतुः । ‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि’ इत्यादिमात् स्वसंसर्गेण सचेतनां प्रकृतिं पुरुषोऽधितिष्ठति, तदधिष्ठिता तु सा तत्कर्मणां गुण्येन परिणममाना तत्तद्देहादीनां सृष्टीति-प्रकृत्यार्पितानां सुखादीनां भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुस्तेषां भोगे स एव कर्त्तृत्यर्थः । प्रकृत्यधिष्ठातृत्वं सुखादिभोक्तृत्वञ्च पुरुषस्य कार्य्यम्, तच्च शरीरादिकर्त्तृत्वं तु तदधिष्ठितायाः प्रकृतेरिति पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वं मुख्यम् ; एवमाह सूत्रकारः-“कर्त्ता शास्त्रार्थ-वत्त्वात्” इत्यादिभिः । परेशस्य हरेरधिष्ठातृत्वं तु सर्वत्रावर्ज-नीयमित्युक्तं ब्रह्मते च ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदस्यो निजन्मसु ॥२१॥

सारा०ब०—किन्तु तत्रानाद्यविद्या-कृतेनाध्यासेनैव कर्त्तृत्व-
भोक्तृत्वादिकं तदीयमपि धर्मं स्वीयं मन्यते तत एनास्य
संसार इत्याह-पुरुष इति । प्रकृतिस्थः प्रकृतिकार्यदेहे तादा-
त्म्येन हि स्थितः । प्रकृतिजान् अन्तःकरणधर्मान् शोकमोह-
सुखदुःखादीन् गुणान् स्वीयानेवाभिमन्यमानो भुङ्क्ते । तत्र
कारणं गुणसङ्गः, गुणमयदेहेषु अस्यानासङ्गस्याप्यात्मनः
सङ्गोऽविद्याकल्पितः । क भुङ्क्ते इत्यपेक्षायामाह-सतीषु देवादि-
योनिष्वसतीषु तिर्यगादियोनिषु शुभाशुभकर्मकृतासु यानि
जन्मानि तेषु ॥ २१ ॥

गी०भू०—प्रकृत्यधिष्ठाने सुखादिभोगे च पुरुषस्यैव कर्त्तृत्व-
मित्येतत् स्फुटयति, तस्य प्रकृतिसंसर्गे हेतुश्च दर्शयति पुरुष इति ।
चित्सुखैकरसोऽपि पुरुषोऽनादिकर्मबासनया प्रकृतिस्थस्तामधि-
ष्ठिततत्कृतदेहेन्द्रियः प्राणविशिष्टः सन्नेव तत्कृतान् गुणान् सुखा-
दीन् भुङ्क्तेऽनुभवति केत्याह-सदिति । सतीषु देवमानवादि-
ष्वसतीषु पशुपद्यादिषु च साध्वसाधुरचितासु योनिषु यानि
जन्मादीनि, तेष्विति तत्र तत्र पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तत्संसर्गे हेतु-
माह-कारणमिति । गुणोऽसङ्गोऽनादिगुणमयविषयस्पृहा । अय-
मर्थः-अनादिर्जीवः कर्मरूपानादिबासनारक्तः ; स च भोक्तृ-
त्वाद्भाग्यान् विषयान् स्पृहयंस्तदर्पिकामनादिसन्निहितां प्रकृति-
माश्रयिष्यति यावत् सत्प्रसङ्गात्तत्तद्वासना क्षीयते ; तत्क्षये तु परा-
त्मधामसुखानि भुङ्क्ते-“सोऽश्नूते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा
विपश्चिता” इत्यादि-श्रुतिभ्य इति । यत्तु प्रकृतेरित्यादेः कार्य-
कारणेत्यादेः प्रकृत्यैव चेत्यादेर्नान्यं गुणेभ्य इत्यादेश्वापादताथ-
प्रादिभिः सांख्यैः प्रकृतेरेव कर्त्तृत्वमुक्तं, तत् किल रभसाभि-

धानमेव लोष्टृकाष्टवदचेतनायास्तस्यास्तत्त्वसम्भावान् । उपादाना-
परोक्षचिकीर्षाकृतिमत्तं खलु कर्त्तृत्वं, तच्च चेतनस्यैवेति श्रुति-
राह-“विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च”, “एष हि
द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा
पुरुषः” इत्यादिकम् । यच्च पुरुषसन्निधानाच्चैतन्याध्यासात्तस्या-
स्तत्त्वमित्याहुस्तत्र, यत् सन्निध्यध्यस्त-चैतन्यात्तस्याः कर्त्तृत्वं, तत्त-
स्यैव सन्निहितस्येति सुवचत्वात् । न खलु तन्नायसो दग्ध्वमयो-
हेतुकमपि तु बहिहेतुकमेव दृष्टम् ; न च चलति जलं फलति तरु-
रिति बज्जडायास्तस्यास्तत्त्व-सिद्धिर्जन्तादिष्वन्तर्याम्यधिष्ठितत्वेनेष्टा-
सिद्धेर्विधायक-श्रुतिव्याकोपाच्चैतदेवम्, न हि जडप्रकृतिमुद्दिश्य
स्वर्गादिफलकं ज्योतिष्टोमादिमोक्षफलकं ध्यानञ्च स्मृतिर्विधत्तेऽपि
तु चेतनमेव भोक्तारमुद्दिश्येति पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तच्च प्रकृते-
रिति यदुक्तं, तत्तु तद्वृत्ति-प्राचुर्यादेव यथा करेण विभ्रति
पुरुषे करो विभर्तीति व्यपदेशस्तथा प्रकृत्या कुर्वति पुरुषे
प्रकृतिः करोतीति स भवेदित्येके, प्राकृतैर्देहादिभिर्युक्तस्यैव
पुरुषस्य यज्ञयुद्धादिकर्मकर्त्तृत्वं, न तु तैर्वियुक्तस्य शुद्धस्येत्यतः
प्रकृतेस्तदित्यपरे ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

सारा०ब०—जीवात्मानमुक्त्वा परमात्मानमाह-उपद्रष्टेति ।
यद्यपि अनादि मत्परं ब्रह्मैत्यादिना हृदि सर्वस्य धिष्ठित-
मित्यनेन च सामान्यतो विशेषतश्च परमात्मा प्रोक्त एव तदपि
तस्य जीवात्मसाहित्येनापि पृथगेव स्पष्टतया देहस्थत्वज्ञापनार्थ-
मियमुक्तिर्ज्ञेया । अस्मिन् देहे परोऽन्यः पुरुषो यो महेश्वरः
स परमात्मेति चाप्युक्तः, परमात्मेति च नाम्नाप्युक्तो भवती-

त्यर्थः, अत्र परम-शब्द एकात्मवादपक्षे स्वांश इति द्योतनार्था जीवस्योप-समीपे पृथक्स्थित एव द्रष्टा साक्षी । अनुमन्तानुमोदनकर्त्ता सन्निधिमात्रेणानुप्राहकः,--“साक्षी चेताः केवलो निगुणश्च” इति श्रुतेः । तथा भर्त्ता धारको भोक्ता पालकः ॥२२॥

गी०भू०—देहे सुखादिभोक्तृतयावस्थितं जीवमुक्त्वा नियन्तृतया तत्रावस्थितमीश्वरमाह-उपद्रष्टेति । अस्मिन् देहे परो जीवादित्यः पुरुषोऽस्ति-यो महेश्वरः परमात्मेति प्रोक्तः, उपद्रष्टा सन्निधौ पृथक्स्थित एव साक्षी, अनुमन्तानुमतिदाता-तदनुमतिं बिना जीवः किञ्चिदपि कर्त्तुं न क्षम इत्यर्थः, भर्त्ता धारकः, भोक्ता पालकः “सर्वतः पाणि” इत्यादिभिरुक्तस्यापीशस्य जीवेन सह स्थितिं वक्तुं पुनरुक्तिः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

एतज्ज्ञानफलमाह-य इति । पुरुषं परमात्मनं प्रकृतिं मायाशक्तिं, च-काराज्जीवशक्तिञ्च, सर्वथा वर्तमानोऽपि लयविज्ञेपादि-पराभूतोऽपि ॥ २३ ॥

गी०भू०—एतज्ज्ञानफलमाह-य इति । एवं मदुक्तविधया मिथो विविकृतया यः पुरुषं महेश्वरप्रकृतिं च जीवञ्च वेत्ति, सर्वथा व्यवहारसम्पर्केण वर्तमानोऽपि भूयो नाभिजायते-देहान्ते विमुच्यत इत्यर्थः ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

सारा०ब०—अत्र साधनविकल्पमाह-ध्यानेति द्वाभ्याम्,—केचिद्वक्ता ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनैव, ‘भक्त्या मामभिजानाति

इत्यप्रिमोक्तेरात्मनि मनस्यात्मना स्वयमेव न त्वन्येन केनाप्युपकारकेत्यर्थः । अन्ये ज्ञानिनः सांख्यमात्मानात्मविवेकस्तेन । अपरे योगिनो योगेनाष्टाङ्गेन कर्मयोगेन निष्कामकर्मणा च । अत्र सांख्याष्टाङ्गयोगनिष्कामकर्मयोगाः परमात्मदर्शने परस्परयैव हेतवो न तु साक्षाद्वेतवस्तेषां सात्त्विकत्वात् परमात्मनस्तु गुणातीतत्वात् । किञ्च, “ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्” इति भगवदुक्तेर्ज्ञानादिसन्न्यासानन्तरमेव “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” इत्युक्तेर्ज्ञानं विमुच्य तथा भक्त्यैव पश्यन्ति ॥ २४ ॥

गी०भू०—महेश्वरस्य प्राप्तौ साधनविकल्पानाह-ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचिद्विशुद्धचित्ता आत्मनि मनसि स्थितमात्मानं महेश्वरं मां ध्यानेनोपसर्जनीभूतज्ञानेन पश्यन्ति साक्षात् कुर्वन्त्यात्मना स्वयमेव, न त्वन्येनोपकारकेण, अन्ये सांख्येनोपसर्जनीभूतध्यानेन ज्ञानेन पश्यन्ति, अन्य-योगेनोपसर्जनीभूतज्ञानेनाष्टाङ्गेन पश्यन्ति, अपरे तु कर्मयोगेनान्तर्गतध्यानज्ञानेन निष्कामेण कर्मणा ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

सारा०ब०—अन्य इतस्ततः कथा-श्रोतारः ॥ २५ ॥

गी०भू०—अन्ये त्वेवमोदशानुपायानजानन्तः श्रुतिपरायणास्तत्तत्कथा-श्रवणादिनिष्ठाः साम्प्रतिका अन्येभ्यस्तद्वक्तृभ्यस्तानुपायान् श्रुत्वा तं महेश्वरमुपासते, तेऽपि, चात् तत्सङ्गिनश्च क्रमेण तानुपलभ्यानुष्ठाय च मृत्युमतितरन्त्येवेति तत्कथा-श्रुतिगहिमातिशयो दर्शितः ॥२५॥

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

सारा०ब०—उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति यावदध्यायसमाप्ति ।
यावदिति यत्प्रमाणकं निकृष्टमुत्कृष्टं वा सत्त्वं प्राणिमात्रम् ॥२६॥

गी०भू०—अथानादिसंयुक्तयोः प्रकृतिजीवयोर्वियोगानु-
सन्धानाय तयोः संयोगेन सृष्टिं तावदाह—यावदिति । स्था-
वरजङ्गमं किञ्चित् सत्त्वं प्राणिजातं यावद्यत्प्रमाणकमुत्कृष्टमप-
कृष्टं च संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाद्बिद्धि-क्षेत्रेण प्रकृत्या
सह क्षेत्रज्ञयोः सम्बन्धाज्जानीहीत्यर्थः । ईश्वरः प्रकृतिजीवौ नियम-
यन् प्रवर्त्तयति, तौ तु मिथः सम्बन्धनीत, ततो देहोत्पत्तिद्वारा
प्राणिसृष्टिरित्यर्थः ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

बिनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

सारा०ब०—परमात्मानं त्वेवं जानीयादित्याह—सममिति ।
बिनश्यत्स्वपि देहेषु यः पश्यति स एव ज्ञानीत्यर्थः ॥ २७ ॥

गी०भू०—अथ प्रकृतौ तत्संयुक्तेषु च जीवेषु स्थितमपीश्वरं
तेभ्यो विबिक्तं पश्येदित्याह—सममिति । यस्त्वत्त्ववित्प्रमङ्गी
सर्वेषु स्थावरजङ्गमदेहवत्सु भूतेषु जीवेषु सममेकरसं यथा स्या-
त्तथा तिष्ठन्तं परमेश्वरं बिनश्यत्सुतत्तादेहविमर्देन विनाशं गच्छ-
त्सु तेष्वविनश्यन्तं तद्विलक्षणं पश्यति, स एव पश्यति, तद्व्या-
थात्म्यदर्शी भवति, तथा च वैबिध्यविनाशधर्मिभ्यः प्रकृतिसंयो-
गिभ्यो जीवेभ्य ऐकरस्याविनाशधर्मा परेशो विबिक्ति इति ॥२७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

सारा०ब०—आत्मना मनसा कुपयगामिनात्मानं जीवं न
हिनस्ति नाधःपातयति ॥ २८ ॥

गी०भू०—अथोक्तविधया तेभ्यो विबिक्तमीश्वरं पश्यन् तदर्थ-
महिम्ना च प्रकृतिविकारेभ्यः स्वविवेकद्वयं लभत इत्याशयेनाह—
समं पश्यन् हीति । सर्वत्र भूतेषु समं यथा भवत्येवं सम्यग्-
प्रच्युतस्वरूपगुणतयावस्थितमीश्वरं पश्यन्नात्मानं स्वमात्मना
प्रकृतिविकारविवेकप्राहिणा विषयरसगृध्नुना मनसा न हिनस्ति
नाधःपातयति, स तद्दूरसविरक्तेन तेन परामुत्कृष्टां गतिं तद्-
विकारेभ्यः स्वविवेकख्यातिं याति ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सारा०ब०—प्रकृत्यैव देहेन्द्रियाद्याकारेण परिणतया सर्वशः
सर्वाण्यात्मानं जीवं देहाभिमानेनैवात्मनः कर्त्तृत्वम्, न तु स्वतः
इत्येवं यः पश्यतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

गी०भू०—प्रकृतेः स्वविवेकं कथं यातीत्यपेक्षायां तत्र प्रकार-
माह—प्रकृत्यैवेति द्वाभ्याम् । यः सर्वाणि कर्माणि प्रकृत्यैव,
चान्मदधिष्ठितयेश्वरप्रेरितया क्रियमाणानि पश्यति, तथात्मानं
तेषां कर्मणामकर्तारं पश्यति, स एव पश्यति स्वव्याथात्म्यदर्शी
भवति । अयमर्थः—न खलु विज्ञानानन्दस्वभावोऽहं युद्धयज्ञादीनि
दुःखमयानि कर्माणि करोम, किन्त्वनादिभोगवासनेनाविवे-
किना मयाधिष्ठिता मद्भोगसिद्धये मद्भासनानुगुणेन परेशेन च
सुखदुःखमोहस्वभावा प्रकृतिरेव मद्देहादि-द्वारा तानि करोतीति
तद्वेतुकत्वात् सैव तत्कर्त्रीति कर्मकारिण्याः प्रकृतेस्तदकर्त्ता
शुद्धो जीवो विबिक्तः, शुद्धस्यापि कर्त्तृत्वं तु पश्यतीत्यनेन व्यक्त-
मिति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

सारा०ब०—यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथक् भावन्त-
त्तदाकारगतं पार्थक्यमेकस्थमेकस्यां प्रकृतावेव स्थितं प्रलयकाले
अनुपश्यत्यालोचयति । ततः प्रकृतेः सकाशादेव भूतानां विस्तारं
सृष्टिसमयेऽनुपश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥३०॥

गी०भू०—यदेति-अयं जीवो यदा भूतानां देवमानवादीनां
पृथग्भावं तत्तदाकारगतं देवत्व-मानवत्व-दीर्घत्व-ह्रस्वत्वादि-
रूपं पार्थक्यमेकस्थं प्रकृतिगतमेव प्रलयेऽनुपश्यति ततः प्रकृति
एव सर्गे तेषां देवत्वादीनां विस्तारश्च पश्यति, न त्वात्मस्थं तत्
पृथक्भावं न चात्मनस्ताद्विस्तारश्च पश्यति-स्वप्रकृतिविविक्तात्म-
दर्शी, तदा तद्ब्रह्म सम्पद्यते-तद्विविक्तमभिव्यक्तापहतपाप्म-
त्वादि-बृहद्गुणाष्टकं स्वमनुभवतीत्यर्थः ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

सारा०ब०--ननु “कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु”
इत्युक्तम् । तत्र देहगतत्वेन तुल्यत्वेऽपि जीवात्मैव गुणलिप्तः
संसरति न तु परमात्मैति । कुत इत्यत आह—अनादित्वा-
दिति । न विद्यते आदिः कारणं यतः स अनादिः,—यथा
पञ्चम्यन्तपदार्थनानुत्तम-शब्देन परमोत्तम उच्यते, तथेवानादि-
शब्देन परमकारणमुच्यते । ततश्चानादित्वात् परमकारणत्वा-
न्निर्गुणत्वात्निर्गता गुणाः सृष्ट्यादयो यतस्तस्य भावस्तत्त्वं
तन्मात्रं जीवात्मनो विलक्षणोऽयं परमात्मा । अव्ययः सर्वदेव
सर्वथैव स्वीय-ज्ञानानन्ददिव्ययरहितः, शरीरस्थोऽपि तद्धर्मा-
प्रदणान्न करोति जीवन्न कर्त्ता न भोक्ता च भवति न च
लिप्यते-शरीरगुणलिप्तश्च न भवति ॥ ३१ ॥

गी०भू०—ननु परेशमात्मानश्च विविक्तं पश्यन् कृतार्थो भव-

तीत्युक्तिरयुक्ता, “एतेभ्य एव भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुचिन-
श्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति” इति जीवस्य देहेन सहोत्पात्ताविनाश-
अवर्णादिति चेत्तत्राह—अनादित्वादिति । अयमात्मा जीवः शरी-
रस्थोऽप्यनादित्वात् परमव्ययोऽव्ययत्वप्रधानधर्मेत्वादविनाश-
शून्यो निर्गुणत्वाद्धिशुद्धज्ञानानन्दत्वात् युद्धयज्ञादिकर्म करोति,
अतः शरीरेन्द्रियस्वभावेनोत्पात्ताविनाशलक्षणेन न लिप्यते ।
श्रुत्यर्थस्वौपचारिकतया नेयः ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

सारा०ब०—अथ दृष्टान्तमाह-यथा सर्वत्र पट्टादिष्वपि
स्थितमप्याकाशं सौक्ष्म्यादसङ्गत्वात् पट्टादिभिर्न लिप्यते, तथैव
परमात्मा देहिकैर्गुणैर्दोषैश्च न युज्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

गी०भू०—ननु शरीरे स्थितस्तद्धर्मैः कुतो न लिप्यत इत्य-
त्राह-यथेति । यथा सर्वत्र पट्टादौ गतं प्रविष्टमप्याकाशं
सौक्ष्म्यात्तद्धर्मैर्न लिप्यते, तथात्मा जीवः सर्वत्र देवमानवादा-
वुद्भावचे देहे स्थितोऽपि तद्धर्मैर्नलिप्यते सौक्ष्म्यादेव ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

सारा०ब०—प्रकाशकत्वात् प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यत इति
सदृष्टान्तमाह-यथेति । रविर्यथा प्रकाशकः प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यते
तथा क्षेत्री परमात्मा,—“सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न
लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न
लिप्यते शोक्दुःखेन बाह्यः ॥” इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

गी०भू०—देहधर्मैर्गुणलिप्त एवात्मा सधर्मैश्च देहं पुण्या-

तीत्याह-यथेति-यथैको रविरिमं वृत्तं लोकं प्रकाशयति प्रभया,
तथैकः क्षेत्री जीवः कृत्स्नमापादमस्तकमिदं क्षेत्रं देहं प्रकाशयति
चेतयति चेतनयेत्येवमाह सूत्रकारः-“गुणाद्वा लोकवत्” इति ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

सारा०व०—अध्यायार्थमुपसंहरति-क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयो-
र्जीवात्म-परमात्मनोर्यथा भूतानां प्राणिनां प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं
मोक्षोपायं ध्यानादिकञ्च ये विदुस्ते परं पदं यान्ति ॥ ३४ ॥

द्वयोः क्षेत्रज्ञयोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रधर्मभाक् ।

बध्यते मुच्यते ज्ञानादित्यध्यायार्थ ईरितः ॥ (४)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

त्रयोदशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (५)

गी०भू०—अध्यायार्थमुपसंहरन् तज्ज्ञानफलमाह-क्षेत्रेति-
क्षेत्रेण साहितयोः क्षेत्रज्ञयोर्जीवेशयोरेवं मदुक्तविधयान्तरं भेदं
ज्ञानचक्षुषा वैधर्म्यविषयक-प्रज्ञा-नेत्रेण ये विदुस्तथाभूतानां
प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं च तत्साधनममानित्वादिकं ये विदुस्ते
प्रकृतेः परं सर्वोत्कृष्टं परव्योमाख्यं मत्पदं यान्तीति ॥३४॥

जीवेशो देहमध्यस्थो तत्राद्यो देहधर्मयुक् ।

बध्यते मुच्यते बोधादिति ज्ञानं त्रयोदशात् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद्भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयःप्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

सारा०व०—गुणाः स्युर्वन्धकास्ते तु फलैर्ज्ञेयाश्चतुर्दशे ।

गुणात्यये चिन्हततिर्हेतुर्भक्तिश्च वर्णिता ॥ (१)

पूर्वाध्याये “कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु”
इत्युक्तम् । तत्र के गुणाः, कीदृशो गुणसङ्गः, कस्य गुणस्य
सङ्गात् किं फलं स्यात्, गुणयुक्तस्य किं किं वा लक्षणम्,
कथं वा गुणेभ्यो मोचनमित्यपेक्षायां बध्यमाणमर्थं स्तुवानो
वक्तुं प्रतिजानीते-परमिति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं
परमत्युत्तमम् ॥ १ ॥

गी०भू०—गुणाः स्युर्वन्धकास्ते तु परिचेयाः फलैस्त्रयः ।

मद्भक्त्या तन्निवृत्तिः स्यादिति प्रोक्तं चतुर्दशे ॥

पूर्वाध्याये मिथःसंप्रक्तानां प्रकृतिजीवेश्वराणां स्वरूपाणि
विविच्य जानन्नमानित्वादिधर्मैर्विशिष्टः प्रकृतिबन्धाद्विमुच्यते,
बन्धहेतुश्च गुणसङ्ग इत्युक्तम् । तत्र के गुणाः, कस्मिन्
गुणे कथं सङ्गः, कस्य गुणस्य सङ्गात् किं फलं, गुणसङ्गिनः
किम्वा लक्षणं कथं वा गुणेभ्यो मुक्तिः ? इत्यपेक्षायां बध्य-
माणमर्थमात्मरुच्युत्पत्तये भगवान् स्तौति-परमिति द्वाभ्याम् ।
परं पूर्वोक्तादन्यं प्रकृतिजीवान्तर्गतमेव गुणविषयकं ज्ञानं भूयो
वक्ष्यामि-यज्ज्ञानानां प्रकृतिजीवविषयकाणामुत्तमं भोष्टं नव-
नीतबहुदधृतत्वात् ; यज्ज्ञात्वापलभ्य सर्वे मुनयस्तन्मननशीला

इतो लोके परमात्मयाथात्म्योपलब्धिलक्षणां सिद्धिं गताः ; यद्वा
ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं, तच्च प्रागुक्तमपि भूयः पुनर्विधान्त-
रेण ब्रूयामि । तच्च ज्ञानानां तपःप्रभृतीनां ज्ञानसाधनानां मध्ये
परमुत्तममत्युत्तमं तदन्तरङ्गसाधनत्वात्-यज्ज्ञात्वा सर्व्वे मुनय
इतो लोकात् परां मोक्षलक्षणां सिद्धिं गताः ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

सारा०ब०--साधर्म्यं सारूप्यलक्षणां मुक्तिम्, न व्यथन्ति
न व्यथन्ते ॥ २ ॥

गी०भू०--इदमिति--गुरुपासनयेदं ब्रूयमाणं ज्ञानमुपा-
श्रित्य प्राप्य जनाः सर्व्वेशस्य मम नित्याविर्भूतगुणाष्टकस्य
साधर्म्यं साधनाविर्भावितेन तदष्टकेन साम्यमागताः सन्तः सर्गे
नोपजायन्ते, सृजिकर्मतां नाप्रुबन्ति, प्रलये न व्यथन्ते-मृति
कर्मताश्च न यान्तीति जन्ममृत्युभ्यां रहिता मुक्ता भवन्तीति
मोक्षे जीव-बहुत्वमुक्तम्, "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति
सूरयः" इत्यादि-श्रुतिभ्यश्चैतद्वगतम् ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्व्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

सारा०ब०--अथानाद्यविद्याकृतस्य गुणसङ्गस्य बन्धुहेतुता-
प्रकारं वक्तुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सम्भवप्रकारमाह-मम परमेश्वरस्य
योनिर्गर्भाधानस्थानं महद्ब्रह्म देशकालानवच्छिन्नत्वात् महत्,
वृंहणात् कार्यरूपेण वृद्धेर्हेतोर्ब्रह्म प्रकृतिरित्यर्थः । श्रुतावपि
कचित् प्रकृतिर्ब्रह्मेति निर्दिश्यते । तस्मिन्नहं गर्भं दधाम्यादधामि ।
"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्" इत्यनेन चेतन-

पुञ्जरूपा या जीव-प्रकृतिस्तदस्थशक्तिरूपा निर्दिष्टा सा सत्त्व-
प्राणिजीवतया गर्भशब्देनोच्यते, ततो मत्कृतात् गर्भाधानात्
सर्व्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भव उत्पत्तिः ॥ ३ ॥

गी०भू०--तदेवं वक्तव्यार्थस्तुत्या तस्मिन् रुचि श्रोतुं रुपाद्य
'भूमिरापः' इत्यादिद्वयार्थानुसारात् 'यावत् सञ्जायते किञ्चिन्'
इत्यादौ प्रकृतिजीवसंयोगं परेशहेतुकमभिमतमिह स्फुटयति-
ममेति । महत् सर्व्वस्य प्रपञ्चस्य कारणं ब्रह्माभिव्यक्त-सत्त्वादि-
गुणकं प्रधानं मम सर्व्वेश्वरस्याण्डकोटिस्त्रष्टु र्योनिर्गर्भधारणस्थानं
भवति । प्रधाने ब्रह्मशब्दश्च-"तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च
जायते" इति श्रुतेः, तस्मिन्महति ब्रह्माणि योनिभूते गर्भं पर-
माणुचैतन्यराशिमहं दधाम्यर्पयामि-"भूमिरापः" इत्यादिना या
जडा प्रकृतिरुक्ता, सेह महद्ब्रह्मेत्युच्यते, 'इतस्त्वन्याम्' इत्या-
दिना या चेतना प्रकृतिरुक्ता, सेह सर्व्वप्राणिबीजत्वाद्गर्भशब्दे-
नेति-भोगक्षेत्रभूतया जडया प्रकृत्या सह चेतनभोक्तृवर्गं संयो-
जयामीत्यर्थः । ततो महद्देतुकात् प्रकृतिद्वयसंयोगाद्गर्भा-
धानाद्वा सर्व्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां सम्भवो जनिर्भवति ॥३॥

सर्व्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

सारा०ब०--न केवलं सृष्ट्युत्पत्तिसमय एव सर्व्वभूतानां
प्रकृतिर्माता अहं पिता, अपि तु सर्व्वदैवेत्याह-सर्व्वसु योनिषु
देवाद्यासु स्तम्बपर्यन्तासु या मूर्त्तयो जङ्गमस्थावरात्मिका
व्यवन्ते, तासां मूर्त्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः-योनिरुत्पत्तिस्थानं
माता, अहम्-बीजप्रदः गर्भाधानकर्त्ता पिता ॥ ४ ॥

गी०भू०--सर्व्वेति । हे कौन्तेय ! सर्व्वयोनिषु देवादिस्थाव-
रान्तासु खनिषु या मूर्त्तयस्तनवः संभवन्ति तासां महद्ब्रह्म

प्रधानं योनिरुत्पत्तिहेतुर्मातेत्यर्थः, जीवप्रदस्तत्कर्मनुगुण्येन पर-
माणुचैतन्यराशिसंयोजकः परेशोऽहं पिता भवामि ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

सारा०ब०--तदेवं प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोपत्तिं निरूप्ये-
दानीं के गुणा उच्यन्ते, तेषु सङ्गात् जीवस्य कीदृशो बन्ध
इत्यपेक्षायामाह-सत्त्वमिति । देहे प्रकृतिकार्ये तादात्म्येन स्थितं
देहिनं जीवं बन्तुतोऽव्ययं निर्विकारमसङ्गितमप्यनाद्यविद्यया
कृताद्गुणसङ्गादेव हेतुर्गुणा निबध्नन्ति ॥ ५ ॥

गी०भू०--अथ के गुणाः कथं तेषु पुरुषस्य सङ्गः कथं वा
ते तं निबध्नन्ति' इत्याह-सत्त्वमिति चतुर्भिः । सत्त्वादिसङ्ग-
कास्त्रयो गुणाः प्रकृतिसंभवाः प्रकृतेरभिव्यक्तास्ते स्वकार्ये
देहे स्थितं पुरुषमव्ययं बन्तुतो निर्विकारमपि निबध्नन्त्याविवेक-
गृहीतैः सुखदुःखमोहैः स्वधर्मैस्तं योजयन्तीति ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

सारा०ब०--तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारश्चाह-तत्रेति-
अनामयं निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः, शान्तत्वात् स्वकार्येण
सुखेन यः सङ्गः प्रकाशकत्वात् स्वकार्येण ज्ञानेन च यः सङ्गः
'अहं सुखी अहं ज्ञानी' चेत्युपाधिवर्त्मयोरपि सुखज्ञानयोर-
विद्ययैव जीवस्याभिमानस्तेन तं बध्नाति । हे अनघेति-त्वन्तु
'अहं सुखी अहं ज्ञानी' इत्याभिमानलक्षणमघं मा स्वीकुर्वन्ति
भावः ॥ ६ ॥

गी०भू०--अथ सत्त्वादीनां त्रयाणां लक्षणानि बन्धकता-

प्रकारांश्चाह-तत्रेति त्रिभिः । तत्र तेषु त्रिषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं
ज्ञानव्यञ्जकमनामयमरोगं दुःखविरोधि-सुखव्यञ्जकमिति यावत्,
कुतः ? निर्मलत्वात् स्वच्छत्वात्, तथा च "प्रकाशसुखकारणं
सत्त्वम्" इति । तच्च सत्त्वं स्वकार्ये ज्ञाने सुखे च यः संयोगो
'ज्ञान्यहं' 'सुख्यहम्' इत्याभिमानस्तेन पुरुषं निबध्नाति, ज्ञानं
चेदं लौकिकवस्तुयाथात्म्यविषयं सुखञ्च देहेन्द्रियप्रसादरूपं
बोध्यम् । तत्र तत्र सङ्गे सति तदुपायेषु कर्मसु प्रवृत्तिस्तत्फलानु-
भवोपायेषु देहेषूपत्तिः, पुनश्च तत्र तत्र सङ्ग इति न सत्त्वादौ ब-
मुक्तिः ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम् ॥७॥

सारा०ब०--रजोगुणं रागात्मकमनुरक्षनरूपं विद्धि । तृष्णा
अप्राप्तेऽर्थे अभिलाषः, सङ्गः प्राप्तेऽर्थे आसक्तिः, तयोः
समुद्भवो यस्मान् तद्रजः देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेना-
सक्त्या बध्नाति तृष्णा-सङ्गाभ्यां कर्मस्वासाक्तिर्भवति ॥ ७ ॥

गी०भू०--रज इति रागः स्त्रीपुरुषयोर्मिथोऽभिलाषस्तदात्मकं
रजोवृद्धिहेतुकार्ययोस्तादात्म्यात्, तच्च तृष्णादिसमुद्भवं शब्दादि-
विषयाभिलाषस्तृष्णा, पुत्रमित्रादिसंयोगोऽभिलाषः सङ्गस्तयोः
सम्भवो यस्मात्तत्, तथा च "रागतृष्णासङ्गकारणं रजः" इति ।
तद्रजः स्त्रीविषयपुत्रादिप्रापकेषु कर्मसु सङ्गेनाभिलाषेण देहिनं
पुरुषं निबध्नाति-स्त्र्यादि-स्पृहया कर्माणि करोति, तानि तत्फ-
लानुभवोपायभूतान् स्त्र्यादीन् प्रापयन्ति, पुनरप्येवमिति रजसो
न विमुक्तिः ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

सारा०ब०--अज्ञानजमज्ञानात् स्वीयफलात् जातं प्रतीत-
मनुमितं भवतीत्यज्ञानजमज्ञानजनकमित्यर्थः । मोहनं भ्रान्ति-
जनकम्, प्रमादः अनवधानम्, आलस्यम् अनुद्यमो, निद्रा
चित्तस्यावसादः ॥ ८ ॥

गी०भू०--तमस्त्विति - तु-शब्दः पूर्वोद्व्याद्विशेषद्योतकः ।
वस्तुयाथात्म्यावगमो ज्ञानं ताद्विरोध्यावरकता-प्रधानं प्रकृत्यंशो-
ऽज्ञानं, तस्माज्जातं तमोऽतः सर्वदेहिनां मोहनं विपर्ययज्ञान-
जनकम्, तथा च "वस्तुयाथात्म्यज्ञानावरकं विपर्ययज्ञान-
जनकं तमः" इति । तत्तमः प्रमादादिभिः स्वकार्यैः पुरुषं निब-
ध्नाति, तत्र प्रमादोऽनवधानमकार्यं कर्मणि प्रवृत्तिरूपं सत्त्व-
कार्यप्रकाशाविरोधी, आलस्यमनुद्यमो रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि,
तदुभयविरोधिनी तु निद्रा चित्तावसादात्मैति ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सारा०ब०--उक्तमेवार्थं सन्नेपेण पुनर्दर्शयति-सत्त्वं कर्त्तुं
सुखे स्वीयफले आसक्तं जीवं सञ्जयति बलीकरोति निबध्ना-
तीत्यर्थः ; रजः कर्त्तुं कर्मणि आसक्तं जीवं बध्नाति ;
तमः कर्त्तुं प्रमादेऽभरतं तं ज्ञानमावृत्य अज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

गी०भू०--गुणाः स्वान्यद्वयोत्कृष्टाः सन्तः स्वकार्यं तन्वन्ती-
त्याह-सत्त्वमिति द्वाभ्याम् । सत्त्वमुत्कृष्टं सत् स्वकार्यं सुखं
पुरुषं संजयत्यासक्तं करोति, रज उत्कृष्टं सत् कर्मणि तं सञ्ज-
यति, तम उत्कृष्टं सत् प्रमादे तं सञ्जयति ज्ञानमावृत्त्याच्छा-
द्याज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सारा०ब०--उक्तं स्व-स्वकार्यं सुखादिकं प्रति गुणाः कर्त्तुं
प्रभवन्तीत्यपेक्षायामाह-रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य
सत्त्वं भवति-अदृष्टवशादुद्भवति ; एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति
गुणद्वयमभिभूय तादृशादृष्टवशादुद्भवति ; तमोऽपि सत्त्वं रज-
श्चोभावापि गुणावभिभूयोद्भवति ॥ १० ॥

गी०भू०--समेषु त्रिषु कथमकस्मादेकस्योत्कर्ष इति चेत्
प्राचीन-तादृशकर्मोद्व्यात्तादृशाहाराच्च स्वभवतीति भाववानाह-
रज इति । सत्त्वं कर्त्तुं रजस्तमश्चाभिभूयो तिरस्कृत्योत्कृष्टं भवति,
रजः कर्त्तुं सत्त्वं तमश्चाभिभूयोत्कृष्टं 'भवति' तमः कर्त्तुं सत्त्वं
रजश्चाभिभूयोत्कृष्टं भवति, यदोत्कृष्टं भवति, तदा पूर्वोक्तम-
साधारणं कार्यं करोतीति शेषः ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपाजयते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सारा०ब०--बद्धमानो गुण एव स्वापेक्षया क्षीणावितरौ
गुणावभिभवतीत्युक्तम् । अतस्तेषां वृद्धिलिङ्गान्याह-सर्व्वेति त्रिभिः ।
सर्व्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा प्रकाशः स्यात्, कीदृशः ?
ज्ञानं वैदिकशब्दादियथार्थज्ञानात्मकं तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनैव
सत्त्वं विवृद्धमिति जानीयात् । उत-शब्दादात्मोत्थसुखात्मकः
प्रकाशश्च यदेति ॥ ११ ॥

गी०भू०--उत्कृष्टानां सत्त्वादीनां लिङ्गान्यह-सर्व्वेति त्रिभिः ।
यदा सर्व्वेषु 'ज्ञानद्वारेषु श्रोत्रादिषु शब्दादियाथात्म्यप्रकाशरूपं
ज्ञानमुपजायते, तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनास्मिन् देहे सत्त्वं विवृद्धं
विद्यात् । उतैत्यप्यर्थ-सुखलिङ्गेनापि ताद्विद्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

सारा०ब०—प्रवृत्तिर्नाता प्रयत्नपरता कर्मणामारम्भो
गृहादिनिर्माणाद्यमः, अशमो विषयभोगानुपरतिः ॥ १२ ॥

गी०भू०—लोभः स्वद्रव्यात्यागपरता, प्रवृत्तिस्तद्वृद्धयत्न-
परता, कर्मणां गृहनिर्माणादीनामारम्भः, अशमो विषय-
भोगादिन्द्रियाणामनुपरतिः, स्पृहा विषयलिप्सा, एतैर्लिङ्गै रजो
विवृद्धं विद्यात् ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

सारा०ब०—‘अप्रकाशो’ विवेकाभावः, शास्त्राविहितशब्दा-
दिग्रहणम्, ‘अप्रवृत्तिः’ प्रयत्नमात्रराहित्यम्, ‘प्रमादः’ व. एठादि-
धृतेऽपि वस्तुनि नास्तीति प्रत्ययः ‘मोहो’ मिथ्याभिनिवेशः ॥ १३ ॥

गी०भू०—अप्रकाशो ज्ञानाभावः, शास्त्राविहितविषयग्रहरूपो-
ऽप्रवृत्तिः क्रियाविमुखता, प्रमादः करादिग्रथेऽप्यर्थे नास्तीति
प्रत्ययो मोहो मिथ्याभिनिवेशः एतैर्लिङ्गैस्तमो विवृद्धं
विद्यात् ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सारा०ब०—प्रलयं याति मृत्युं प्राप्नोति । तदा उत्तमं
विन्दन्ति लभन्त इत्युत्तमविदो हिरण्यगर्भाद्युपासकास्तेषां
लोकानमलान् सुखप्रदान् ॥ १४ ॥

गी०भू०—मृतिकाले विवृद्धानां गुणानां फलविशेषानाह-
यदेति द्वाभ्याम् । सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा देहभृज्जीवः प्रलयं
याति म्रियते, तदोत्तमविदां हिरण्यगर्भाद्युपासकानां लोकान्
दिव्यभोगोपेतान् प्रतिपद्यते लभते, अमलान् रजस्तमो-मलही-
नान् ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्घिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

सारा०ब०—कर्मसङ्घिषु कर्मासक्तमनुष्येषु ॥ १५ ॥

गी०भू०—रजसि प्रवृद्धे प्रलयं मरणं गत्वा जनः कर्मसङ्घिषु
काम्यकर्मासक्तेषु नृषु मध्ये जायते ; तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो
मृतो जनो मूढयोनिषु पश्यादिषु जायते ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सारा०ब०—सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकमेव
निर्मलं निरुपद्रवम् ; अज्ञानमचेतनता ॥ १६ ॥

गी०भू०—अथ गुणानां स्वानुरूपकर्मद्वारा विचित्रफलहेतु-
त्वमाह—कर्मण इति । सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो निर्मलं
फलमाहुर्गुणस्वभावविदो मुनयो मलदुःखमोहरूप-रजस्तमःफल-
लक्षणाभिर्गतं सुखमित्यर्थः, तच्च सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तम् ।
रजसो राजस्य कर्मणः फलं दुःखं कार्यस्य कारणानुरूप्याद्-
दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखमित्यर्थः । तमस्तामसस्य कर्मणो हिंसादेः
फलमज्ञानचैतन्यप्रायं दुःखमेवेत्यर्थः । तत्र रजस्तमःशब्दाभ्यां
राजसतामसकर्मणी लक्ष्ये—‘गोभिः प्रीणितमत्सरम्’ इत्यत्र यथा
गो-शब्देन गो-पयो लक्ष्यते । सात्त्विकादिकर्मणां लक्षणान्यष्टा-
दशो वक्ष्यन्ते—‘नियतं सङ्गरहितम्’ इत्यादिभिः ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

गी०भू०—ईदृक्फलवैचित्र्ये प्रागुक्तमेव हेतुमाह—सत्त्वा-
दिति । सत्त्वात् प्रकाशलक्षणं ज्ञानं जायते, अतः सात्त्विकस्य

कर्मणः प्रकाशप्रचुरं सुखं फलम् । रजसो लोभस्तृष्णा-विशेषो
यो विषयकोटिभिरप्याभिसेवितैर्दुःखपूरस्तस्य च दुःखहेतुत्वात्त-
त्पूर्वकस्य कर्मणो दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखं 'फलम्' । तमस्तु
प्रमादादीनि भवन्त्यतस्तत्पूर्वकस्य कर्मणोऽचैतन्यप्रचुरं दुःख-
मेव फलम् ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सारा०ब०—सत्त्वस्थाः सत्त्वतारतम्येनोर्ध्वं सत्यलोकपर्य-
न्तम्; मध्ये मनुष्यलोक एव । जघन्यश्चासौ गुणश्चेति तस्य
वृत्तिः प्रमादालस्यादिस्तत्र स्थिता अधोगच्छन्ति नरकं यान्ति ॥१८॥

गी०भू०—अथ सत्त्वादिवृत्तिनिष्ठानां तान्येव फलान्यूर्ध्व-
मध्याधो-भावेनाह-ऊर्ध्वमिति । तमसि वृत्ति-शब्दादितरयोश्च
वृत्तिर्बिबक्षिता । सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्तिनिष्ठाः सत्त्वतारतम्येनोर्ध्वं
सत्यलोकपर्यन्तं गच्छन्ति, राजसा रजोवृत्तिनिष्ठा मध्ये पुण्य-
पापमिश्रिते मनुष्यलोके तिष्ठन्ति-मनुष्या एव भवन्ति रजस्तार-
तम्येन । जघन्यः सत्त्वरजोऽपेक्षया निकृष्टो यो गुणस्तमःसंज्ञस्तद्-
वृत्तौ प्रमादादौ स्थितास्त्वधो गच्छन्ति-तमस्तारतम्येन पशु-
पक्षिस्थावरादियोनिं लभन्ते । तामसा इत्युक्तिस्तेषां सर्वदा
तमसि स्थितिं व्यनक्ति ॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

सारा०ब०—गुणकृतं संसारं दर्शयित्वा गुणातीतं मोक्षं
दर्शयति-नान्यमिति द्वाभ्याम् । गुणेभ्यः कर्त्तृकरणविषयाकारेण
परिणतेभ्योऽन्यं कर्त्तारं द्रष्टा जीवो यदा नानुपश्यति, किन्तु

गुणा एव सदैव कर्त्तार इत्येवमनुपश्यति, अनुभवतीत्यर्थः ।
गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तमेवात्मानं वेत्ति, तदा स द्रष्टा मद्भावं
मयि सायुज्यमधिगच्छति प्राप्नोति । तत्र तादृश ज्ञानानन्तर-
मपि मयि परां भक्तिं कृत्वैवेत्युपान्तश्लोकार्थदृष्ट्या ज्ञेयम् ॥१९॥

गी०भू०—एवं गुणविवेकात् संसारमुक्त्वा तद्विवेकान्मोक्ष-
साह-नान्यमिति द्वाभ्याम् । द्रष्टा तत्त्वयाथात्म्यदर्शी जीवो
यदा देहेन्द्रियात्मना परिणतेभ्यो गुणेभ्योऽन्यं कर्त्तारं नानु-
पश्यति-गुणान् कर्त्तुं न पश्यत्यात्मानं गुणेभ्यः परमकर्त्तारं
वेत्ति, तदा स मद्भावंमधिगच्छति । अयमाशयः-न खलु विज्ञा-
नानन्दो विशुद्धो जीवो युद्धयज्ञादिदुःखमयकर्मणां कर्त्ता, किन्तु
गुणमयदेहेन्द्रियबानेव संस्तथेति गुणहेतुकत्वाद्गुणनिष्ठं तत्क-
र्मकर्त्तृत्वं न तु विशुद्धात्मनिष्ठमिति यदानुपश्यति, तदा मद्भावं
मसंसारित्वं मत्परभक्तिं वा, लभत इति पुराप्येतदभाषि, इह
गुणहेतुकं कर्त्तृत्वं शुद्धस्य निषिद्धं, न तु शुद्धनिष्ठमिति, 'तस्य
द्रष्टा' इत्यादिनांक्तम् ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

सारा०ब०—ततश्च सोऽपि गुणातीत एवोच्यत इत्याह-
गुणानिति ॥२०॥

गी०भू०—मद्भावपदेनोक्तमर्थं स्फुटयति-गुणानिति । देही
देहमध्यस्थोऽपि जीवो गुणपुरुषविवेक-बलेनैतान् देहसमुद्भवान्
देहोत्पादकांस्त्रीन् गुणानतीत्योल्लङ्घ्य जन्मादिभिर्विमुक्तोऽमृत-
मात्मानमश्नुतेऽनुभवति । सोऽयमसंसारित्वलक्षणो मद्भावो
मत्परभक्तिपात्रता-लक्षणो वा, एवं वक्ष्यति-'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'
इत्यादि ॥२०॥

अर्जुन उवाच—

कैलिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

सारा०ब०—‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’ इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्ठमप्यर्थं पुनस्ततोऽपि विशेषवृत्तस्य पृच्छति—कैलिङ्गैः इत्येकः प्रश्नः, कैश्चिह्नैस्त्रीगुणातीतः स ज्ञेय इत्यर्थः ; किमाचारः इति द्वितीयः, ‘कथञ्चैतान्’ इति तृतीयः, गुणातीतत्वप्राप्तेः किं साधनमित्यर्थः । स्थितप्रज्ञस्य का भाषा इत्यादौ स्थितप्रज्ञो गुणातीतः कथं स्यादिति तदानीं न पृष्ठमिदानीं तु पृष्ठमिति विशेषः ॥ २१ ॥

गी०भू०—गुणातीतस्य लक्षणमाचारं च गुणात्ययसाधनञ्चाञ्जुनः पृच्छति—कैरित्यद्वैकेन । प्रथमः प्रश्नः—कैश्चिह्नैर्गुणातीतो ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः, किमाचार इति द्वितीयः—स किं यथेष्टाचारो नियताचारो वेत्यर्थः । कथं चैतानिति तृतीयः—केन साधनेन गुणानत्येतीत्यर्थः ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

सारा०ब०—तत्र कैलिङ्गैर्गुणातीतो भवतीति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—प्रकाशं सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायत इति सत्त्वकार्यम्, प्रवृत्तिश्च रजःकार्यम्, मोहश्च तमःकार्यम्—उपलक्षणमेतत् सत्त्वादीनाम्, सर्वत्रापि कार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वतःप्राप्तानि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, गुणकार्याण्येतानि निवृत्तानि भवन्तीति सुखबुद्ध्या च यो न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः । संप्रवृत्तानीति लीवत्वमार्थम् । ‘किमाचारः’ इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—उदासीनवदिति त्रिभिः । गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिर्यो न विचाल्यते स्वरूपावस्थानात् च्यवते अपि तु गुणा एव स्वकार्येषु वर्तन्त इत्येवेति, एभिर्मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यस्तूष्णीमवतिष्ठति—परमसैपदमार्थम्, नेङ्गते न कापि दैहिककृत्ये यतन्त । ‘गुणातीतः स उच्यते’ इति गुणातीतस्यैतानि चिह्नान्येतानाचारांश्च दृष्ट्वैव गुणातीतो बक्तव्यो न तु गुणातीतत्वोपपत्तिबावदूको गुणातीतो बक्तव्य इति भावः ॥ २२-२५ ॥

गी०भू०—यद्यपि ‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’ इत्यादिना पृष्ठमिदं ‘प्रजहाति यदा कामान्’ इत्यादिनोत्तरितञ्च, तथापि विशेषजिज्ञासया पृच्छतीति विधान्तरेण तस्य लक्षणादीन्याह भगवान्—प्रकाशं चेत्यादि पञ्चभिः, तत्रैकेन लक्षणं स्वसंवेद्यमाह—प्रकाशं सत्त्वकार्यम्, प्रवृत्तिं रजःकार्यम्, मोहं तमः—कार्यम्, एतानि त्रीणि संप्रवृत्तान्युत्पादकसामग्रीवशात् प्राप्तानि दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, बिनाशकसामग्रीवशान्निवृत्तानि निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सुखबुद्ध्या यो न काङ्क्षति, एतादृशद्वेषरागशून्यो गुणातीतः स उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः । स्वगतौ द्वेषतदभावौ रागतदभावौ च परो न वेदितु-

महतीति स्वसंवेद्यमिदं लक्षणम् । अथ परसम्बन्धलक्षणं बक्तुः
 'किमाचारः' इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह-उदासीनेति त्रिभिः ।
 उदासीनो मध्यस्थो यथा बिबादिनोः पक्षग्रहैः स्वमाध्यस्थ्यान्न
 बिचाल्यते, तथा सुखदुःखादिभावेन परिणतैर्गुणैर्यो नात्मा-
 बस्थितैर्विचाल्यते, किन्तु गुणाः स्वकार्येषु प्रकाशादिषु वर्तन्ते,
 मम तैर्न सम्बन्ध इति निश्चित्य तूष्णीमवतिष्ठते, नेङ्गते गुण-
 कार्यानुरूपेण न चेष्टते, गुणातीतः स उच्यते इति तृतीयेना-
 न्वयः । किञ्च, समेति - यतोऽयं स्वस्थः स्वरूपनिष्ठोऽतएव सम-
 दुःखसुखः समे अनात्मधर्मत्वात् तुल्ये सुखदुःखे यस्य सः,
 समान्यनुपादेयतया तुल्यानि लोष्ट्रादीनि यस्य सः, लोष्ट्रमृत्पण्ड-
 तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने वस्तुनी यस्य सः, धीरः प्रकृ-
 तिपुरुषविवेककुशलः, तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य सः-तत्प्रयोज-
 कयोर्दोषगुणयोरात्मगतत्वाभावादित्यर्थः । य ईदृशो, गुणातीतः
 स उच्यते इति द्वितीयेनान्वयः । मानेति स्फुटार्थः । निन्दास्तुती
 वागव्यापारेण साध्ये, मानापमानौ तु कायमनोव्यापारेणापि
 स्यातामिति भेदः । सर्व्वेति-देहयात्रामात्रादन्यत् सर्व्वकर्म
 प्राह्यम् । य ईदृशो गुणातीतः 'उदासीनवत्' इत्याद्युक्ता यस्या-
 चाराः परैरपि संवेद्याः, स गुणातीतो बोध्यो न तु तदुपपत्ति-
 बाधदूक इति भावः ॥२२-२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

सारा०ब०—'कथञ्चैतान् गुणानतिवर्त्तते' इति तृतीयप्रश्न-
 स्योत्तरमाह-माञ्चेति । 'च'-एवार्थे, मामेव श्यामसुन्दराकारं
 परमेश्वरं भक्तियोगेन यः सेवते, स एव ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय
 ब्रह्मानुभवायेति यावत्, "भक्त्याहमेकया प्राह्यः" इति मद्वाक्ये

एक्येति विशेषणोपन्यासात् "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां
 तर्न्ति ते" इत्यत्रापि एव-कार-प्रयोगात् भक्त्या विना प्रकारा-
 न्तरेण ब्रह्मानुभवो न भवतीति निश्चयात् । भक्तियोगेन
 कीदृशेन ? अव्यभिचारेण कर्मज्ञानाद्यमिश्रेण निष्कामकर्मणो
 न्यासश्रवणात्, "ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्" इति ज्ञानिनां चरम-
 दशायां ज्ञानस्यापि न्यासश्रवणात्, भक्तियोगस्य तु कापि
 न्यासश्रवणात् भक्तियोग एव सोऽव्यभिचारः । तेन कर्मयोग-
 मिव ज्ञानयोगमपि परित्यज्य यद्यव्यभिचारेण केवलेनैव भक्ति-
 योगेन सेवते, तर्हि ज्ञानी अपि गुणातीतो भवति ; नान्यथा ।
 अनन्यभक्तस्तु "निर्गुणो मदपाश्रयः" इत्येकादशोक्तेर्गुणातीतो
 भवत्येव । अत्रेदं तत्त्वम्,—"सार्व्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्वो
 राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥"
 इत्यत्रासङ्गितः कर्मिणो ज्ञानिनो वा सार्व्विकत्वेनैव साधक-
 त्वावगतेस्तत्साहचर्यात् "निर्गुणो मदपाश्रयः" इति भक्तः
 साधक एवावगम्यते, ततश्च ज्ञानी ज्ञानसिद्धः सत्रेव सार्व्विकत्वं
 परित्यज्य गुणातीतो भवति । भक्तस्तु साधकदशामारभ्यैव
 गुणातीतो भवतीत्यर्थो लभ्यते । "अत्र च-कारोऽवधारणार्थः"
 इति स्वामिचरणाः । "मामेवेश्वरं नारायणमव्यभिचारेण भक्ति-
 योगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते" इति मधुसूदनसरस्वती-
 पादाश्च व्याचक्षते स्म ॥ २६ ॥

गी०भू०—कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते इति तृतीयप्रश्न-
 स्योत्तरमाह-माञ्चेति । चोऽवधारणे । 'नान्यं गुणेभ्यः कर्त्ता-
 रम्' इत्याद्युक्त्या यो गुणपुरुषविवेकख्यातिमवाप, तयैव तस्या
 गुणात्ययो न संसिध्यति, किन्तु तद्वानपि यो मां कृष्णमेव माया-
 गुणास्पृष्टं माया-नियन्तारं नारायणादिरूपेण बहुधाविभूतं
 चिदानन्दघनं सार्व्वेश्यादि-गुणरत्नालयमव्यभिचारेणैकान्तिकेन

भक्तियोगेन सेवते श्रयति, स एतान् दुरत्ययानपि गुणानतीत्या-
क्रम्य ब्रह्मभूमाय कल्पते-गुणाष्टर्कावशिष्टत्वाय निजधर्माय
योग्यो भवति, तं धर्मं लभत इत्यर्थः । जीवे ब्रह्मशब्दस्तुक्त-
एव प्राक्, तथा च भक्तिशिरष्कयैव तद्विवेकख्यात्या जीवस्य
स्वरूपलाभो, न तु केवलया तयेत्युक्तम् । यत्तु ब्रह्मभूमाय
इत्यनेन मद्रूपतां स यातीति पार्थसारथिनोपदिष्टमिति व्याचष्टे,
तन्निरवधानमेव 'तेनैवेदं ज्ञानम्' इत्यादिना मोक्षेऽपि । स्वरूप-
भेदस्याभिहितत्वात् "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि-
श्रुतिष्वपि तत्र तस्य दृष्टत्वादगुत्वावभुत्वाद-नित्यधर्मकृतत्वेन
नित्यत्वाच्च तद्भेदस्य तस्माद्गुणाष्टर्कावशिष्टत्वमेव "ब्रह्मैव सन्
ब्रह्माप्तेति" इति श्रुतौ तु ब्रह्मसदृशः सन् ब्रह्माप्तेति प्राप्नो-
तीत्यर्थः-"एवौपम्येऽवधारणे" इति विश्वप्रकाशात्, "बबा यथा
तथैवेवं साम्ये" इत्यमरकोषाच्च, अन्यथा ब्रह्मभावोत्तरो ब्रह्मा-
प्ययो न संगच्छेत ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणा श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री
कृष्णाञ्जुनसंवादे गुणत्रयाविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।



सारांभः-ननु त्वद्भक्तानां कथं निर्गुणब्रह्मत्वप्राप्तिः, सा
त्वाद्वितीयतदेकानुभवेनैव सम्भवेत्तत्राह-ब्रह्मणो हीति ! यस्मात्
परमप्रतिष्ठात्वेन प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तस्याप्यहं प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठी-
यतेऽस्मिन्निति प्रतिष्ठा आश्रयोऽन्नमयादिषु श्रुतिषु सर्वत्रैव
प्रतिष्ठापदस्य तथार्थत्वात्, तथामृतस्य प्रतिष्ठा, किं स्वर्गीय-

मुधायाः न अव्ययस्य नाशरहितस्य मोक्षस्येत्यर्थः, तथा
शाश्वतस्य धर्मस्य साधनफलदशयोरपि नित्यस्थितस्य भक्त्या-
ख्यस्य परमधर्मस्याहं प्रतिष्ठा, तथा तत्प्राप्त्यस्यैकान्तिकभक्त-
सम्बन्धिनः सुखस्य प्रेम्णाश्चाहं प्रतिष्ठा, अतः सर्वस्यापि
मदधीनत्वात् कैवल्यकामनया कृतेन मद्भजनेन ब्रह्मणि लीयमानो
ब्रह्मत्वमपि प्राप्नोति । अत्र "ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं
यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्वर्थः" इति
स्वामिचरणाः । सूर्यस्य तेजोरूपत्वेऽपि यथा तेजस आश्रय-
त्वमप्युच्यते, एवं मे कृष्णस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिष्ठा-
त्वमपि । अत्र श्रीविष्णुपुराणमपि प्रमाणम्-"शुभाश्रयः स
चित्तम्य सर्वगस्य तथात्मनः" इति, व्याख्यातश्च तत्रापि स्वामि-
चरणैः-"सर्वगस्यात्मनः परः ब्रह्मणोऽप्याश्रयः प्रतिष्ठा, तदुक्तं
भगवता "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति । तथा विष्णुधर्मोऽपि
नरकद्वादशीप्रसङ्गे-"प्रकृतौ पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स
प्रभुः । यथैक एव पुरुषो बासुदेवो व्यवस्थितः ॥" इति । तत्रैव
मासर्गपूजाप्रसङ्गे-"यथाच्युतत्वं परतः परस्मात् स ब्रह्मभूतात्
परतः परात्मा" इति । तथा हरिवंशेऽपि विप्रकुमारानयनप्रसङ्गे
अञ्जुनं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् (विष्णुपर्वणि ११४ अः ११-१२)
"तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् । ममैव तद्वचनं
तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥" इति । ब्रह्मसंहितायामपि-"यस्य
प्रभा प्रभवतो जगदण्डकाटि-कोटिष्वशेषबसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं
मजामि ॥" इति । अष्टमस्कन्धे-"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति
शब्दितम् । वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥" इति
भगवदुक्तिश्च । मधुसूदनसरस्वतीपादाश्च व्याचक्षते स्म यथा-
"ननु त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः

सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याह-ब्रह्मणो हीति । प्रतिष्ठा पर्याप्ति-
रहमेवेति-पर्याप्तिः परिपूर्णता इत्यमरः । “पराकृतमनद्वन्द्वं परं
ब्रह्म नराकृति । मौन्द्ये-सार-सर्वस्वं बन्दे नन्दात्मजं महः ॥”
इत्युपश्लोकयामासुश्च ॥ २७ ॥

अनर्थ एव त्रैगुण्यं निस्त्रैगुण्यं कृतार्थता ।

तच्च भक्त्यैव भवतीत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

चतुर्दशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी०भू०—ननु तद्विवेकरूपाया त्वदेकभक्त्या च गुणातीतो
लब्धस्वरूपो ‘ब्रह्म’शब्दितो मुक्तः कथं तिष्ठेदिति चेत्तत्राह-ब्रह्मणो
हीति । हिनिश्चये । ब्रह्मणस्तत्पूर्वकया तया सत्त्वाद्यावरणात्य-
यादाविर्भावित-स्वगुणाष्टकस्यामृतस्य मृतिनिर्गतस्याव्ययस्य
ताद्रूप्यैकरसस्य मुक्तस्य मदतिप्रियस्याहमेव विज्ञानानन्दमूर्ति-
रनन्तगुणो निरवयः सुहृत्तमः सर्वेश्वरः । प्रतिष्ठा-‘प्रतिष्ठीयते-
ऽत्र ‘इति’ निरुक्तेः परमाश्रयोऽतिप्रियो भवामीति तादृशं मां
परया भक्त्यानुभवंस्तिष्ठतीति, न मत्तो विश्लेषलेशो, “न च
पुनरावर्त्तते”, “यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते”, “मुक्तानां परमा
गतिः” इति स्मृतिभ्यः । ननु मुक्तत्वां कथं श्रयेत् श्रयणफलस्य
मुक्तेर्लाभादिति चेदस्यतिशयितं फलमिति भावेनाह-शाश्वतस्य
चेत्यादि । नित्यस्य षडैश्वर्यशब्दितस्य धर्मस्यैकान्तिकस्य मद-
साधारणस्य सुखस्य च विचित्रलीला-रसस्याहमेव प्रतिष्ठेति ।
तीव्रानन्दरूप-तद्विभूतिमल्लीलानुभवाय मामेव समाश्रयतीत्येव-
माह श्रुतिः “रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति”
इति ॥ २७ ॥

संसारो गुणयोगः स्याद्विमोक्षस्तु गुणात्ययः ।

तात्सद्भिर्हरिभक्त्यैवेत्येतद्वुद्धं चतुर्दशात् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ।

पञ्चदशोऽध्यायः

—२४४—

श्रीभगवानुवाच—

उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

सारा०—संसारच्छेदकोऽसङ्ग आत्मेशांशः क्षराक्षरात् ।

उत्तमः पुरुषः कृष्ण इति पञ्चदशे कथा ॥ (१)

पूर्वाध्याये “माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥” इत्युक्तम् ।
तत्र तब मनुष्यस्य भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इति चेत् सत्यमहं
गुण्य एव किन्तु ब्रह्मणोऽपि तस्य प्रतिष्ठा परमाश्रय इत्यस्य
सूत्ररूपस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशाध्याय आरभ्यते, तत्र स
गुणान् समतीत्य इत्युक्तमिति गुणमयोऽयं संसारः कः कुतो
वायं प्रवृत्तास्तद्वक्त्या संसारमतिक्राम्यन् जीवो वा कः ब्रह्म-
भूयाय कल्पत इत्युक्तं ब्रह्म वा किं ब्रह्मणः प्रतिष्ठा त्वं वा क
इत्याद्यपेक्षायां प्रथममतिशयोक्त्यलङ्कारेण संसारोऽयमद्भुतो-
ऽव्ययवृक्ष इति वर्णयति—उर्ध्वं मूर्ध्वलोकोपरितले सत्यलोके
प्रकृतिबीजोत्थ—प्रथम—प्ररोहरूप-महत्—तत्त्वात्मकश्चतुर्मुख एक
एव मूलं यस्य तम्, अधः—स्वर्भुवोभूर्लोकेष्वनन्ता देवगन्धर्व-
किन्नरासुरराक्षसप्रेतभूतमनुष्यगवाश्वादिपशुपक्षि—कृमिकीट—पतङ्ग-
स्थावरान्ताः शाखा यस्य तमश्वत्थं धर्मादिचतुर्वर्गसाधक-
त्वादश्वत्थमुत्तमं वृत्तम्, श्लेषेण—भक्तिमतां न श्वः स्थास्य-
तीत्यश्वत्थं नष्टप्रायमित्यर्थोऽभक्तानां त्वव्ययमनश्वरम् । छन्दांसि
“वायव्यं श्वेतमालभेत, भूमिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत्

प्रजाकामः" इत्याद्याः कर्मप्रतिपादका वेदाः संसारबद्धकत्वात्
पर्णानि, - वृक्षो हि पर्णैः शोभते यस्तं जानाति, स वेदज्ञः ।
तथा च ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः इति
कठबल्लीश्रुतिः ॥ १ ॥

गी०भू०—संसारच्छेदि वैराग्यं जीवो मेऽंशः सनातनः ।

अहं सर्वोत्तमः श्रीमानिति पञ्चदशो स्मृतम् ॥

पूर्वत्र विज्ञानानन्दस्यौत्पत्तिकगुणाप्रकस्यापि जीवस्य कर्म-
रूपाणादिवासनानुगुणेन भगवत्संकल्पेन प्रकृतिगुणसङ्गः । स च
बहुविधस्तदत्ययश्च भगवद्भक्तिशिरष्केन विवेकज्ञानेन भवेत्तस्मिन्
सति संप्राप्तनिजस्वरूपो जीवो भगवन्तमाश्रित्य प्रमोदो सर्वदा
तस्मिन्निष्ठतीत्युक्तम् । अथ तद्विवेकज्ञानमर्थ्यकरं वैराग्यं जीवस्य
भजनीयभगवदंशत्वं भगवतः स्वेतर-सर्वोत्तमत्वं चोक्तेष्वर्थपू-
र्योगाय पञ्चदशोऽस्मिन् वर्ण्यते । तत्र तावद्गुणविरचितस्य
संसारस्य वैराग्यवैच्छेद्यत्वात् संसारं वृक्षत्वेन वैराग्यश्च शस्त्रत्वेन
रूपयन् वर्णयति भगवान्-ऊर्ध्वमूलमित्यादिभिस्त्रिभिः, संसार-
रूपमश्वत्थमूर्ध्वमूलमधःशाखं प्राहुः-ऊर्ध्वं सर्वोपरिसत्यलोके
'प्रधान'-बीजोत्थ-प्रथमप्ररोहरूप-महत्तत्त्वात्मक-चतुर्मुखरूपं मूलं
यस्य तम्, अधः सत्यलोकादर्वाचीनेषु स्वर्भूवर्भूतलोकेषु
देव-गन्धर्व-किन्नरासुर-यक्षराक्षस-मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-पतङ्ग-
स्थावरान्ता नानादिकप्रसृतत्वाच्छाखा यस्य तम्; चतु-
र्वर्गफलाश्रयत्वादश्वत्थमुत्तमवृक्षम् । तादृशेन विवेकज्ञानेन विना
निवृत्तेरभावादव्ययं प्रवाहरूपेण नित्यञ्च ; तमाहुः श्रुतयस्ताश्च-
"ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । ऊर्ध्वमूलम-
र्वाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति ॥" इत्यादिकाः । यस्य संसा-
राश्वत्थस्य छन्दसि काम्यकर्मप्रतिपादकानि श्रुतिवाक्यानि
वासनारूप-तन्निदानवर्द्धकत्वात् पर्णानि प्राहुस्तानि छन्दसि-

"वायव्यं श्वेतमालभेत, भूतिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्व्वपेत्
प्रजाकामः" इत्यादीनि बोध्यानि ; पत्रैस्तरुवेद्धते शोभते च
तमश्वत्थं यो वेद यथोक्तं जानाति, स एव वेदवित् ; वेदः खलु
संसारस्य वृक्षत्वं छेद्यत्वाभिप्रायेणाह-तच्छेदनोपायज्ञो वेदार्थ-
विदिति भावः ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्यस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धोनि मनुष्यलोके ॥२॥

सारा०ब०—अधः पश्चादियोनिषु ऊर्ध्वं देवादियोनिष्वप्रसृता-
स्य संसारवृक्षस्य शाखा, गुणैः सत्त्वादिवृत्तिभिर्जलसेकैरिव
प्रवृद्धा, विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया यासां ताः ।
किञ्च तस्य मूले सर्वलोकैरलक्षितो महानिधिः कश्चिदस्ती-
त्यनुमीयते यमेव मूलजटाभिरवलम्ब्य स्थितस्य तस्याश्वत्थवृक्ष-
स्यापि बटवृक्षस्येव शाखास्वापि बाह्या जटाः सन्तीत्याह-अध-
श्चेति । ब्रह्मलोकमूलस्यापि तस्याधश्च मनुष्यलोके कर्मानुबन्धिनी
कर्मानुलम्बीनि मूलान्यनुसन्ततानि निरन्तरं विस्तृतानि
भवान्त । कर्मफलानां यतस्ततो भोगान्ते पुनर्मनुष्यजन्मन्येव
कर्मसु प्रवृत्तानि भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

गी०भू०—किञ्चाध इति । तस्योक्तलक्षणस्य संसाराश्वत्थस्य
शाखा अध ऊर्ध्वं च प्रसृताः ; अधो मनुष्यपश्चादियोनिषु
सुकृतैरूर्ध्वं देवगन्धर्वादियोनिषु सुकृतैर्विस्तृताः ; गुणैः
सत्त्वादिवृत्तिभिरम्बुनिषेकैरिव प्रवृद्धाः स्थौल्यभाजः ; विषयाः
शब्दस्पर्शादयः प्रवालाः पल्लवा यासां ताः, शाखाप्र-स्थानीयाभिः
श्रोत्रादिवृत्तिभिर्योगादूरागाधिष्ठानत्वाच्च शब्दादीनां पल्लवस्था-
नीयत्वं, तस्याश्वत्थस्याधश्च शब्दादूर्ध्वं चावान्तराणि मूलान्यनु-
सन्तानि निस्तृतानि सन्ति, तानि च तत्ताद्वोगजनितरागद्वेषा-

दिवासनारूपाणि धर्माधर्मप्रवृत्तिकारित्वान्नूलतुल्यान्युच्यन्ते ; मुख्यं मूलं तादृक् चतुर्मुखस्तत्तादासनास्त्वबान्तरमूलानि न्यप्रो-
धस्यैव जटोपजटावृन्दानीति भावः । तानि कीदृशानीत्याह-
मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि यतस्ततः कर्मफलभोगावसाने सति
पुनर्मनुष्यलोके कर्महेतुभूतानि भवन्तीत्यर्थः ; स लोकः खलु
कर्मभूमिरिति प्रसिद्धम् ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरुद्धमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यास्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

सारा०ब०—किञ्चेह मनुष्यलोकेऽस्य रूपं स्वरूपं तथा
सनिश्चयं नोपलभ्यते-सत्योऽयं मिथ्यायं नित्योऽयमिति वादिमत-
वैविध्यादिति भावः । न चान्तोऽवसानोऽपर्यन्तत्वान्न चादि-
रनादित्वान्न च संप्रतिष्ठाश्रयः, किंवाधारः कोऽयमित्यपि नोप-
लभ्यते तत्त्वज्ञानाभावादिति भावः । यथा तथायं भवतु
जीवमात्रदुःखैकनिदानस्यास्य छेदकं शस्त्रमसङ्गं ज्ञात्वा तेनैतं
छित्त्वैवास्य मूलतलस्थो महानिधिरन्वेष्टव्य इत्याह-अश्वत्थमिति ।
असङ्गोऽत्रानासक्तिः सर्वत्रवैराग्यमिति यावत् तेन शस्त्रेण
कुठारेण छित्त्वा स्वतः पृथक्कृत्य ततस्तस्य मूलभूतं तत्पदं
वस्तु महानिधिरूपं ब्रह्म परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम् ; कीदृशं
तदत आह-यस्मिन् गता यत् पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न
निवर्तन्ते न चावर्तन्ति इत्यर्थः । अन्वेषणप्रकारमाह-यत् एषा
पुराणी चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता तमेवाद्यं
पुरुषं प्रपद्ये भजामीति भक्त्यान्वेष्टव्यमित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

गी०भू०—न रूपमिति - अस्याश्वत्थस्य रूपमिह मनुष्य-
लोके तथा नोपलभ्यते, यथोद्ध्वमूलत्वादिधर्मैकतया मयोप-
लभितम् ; न चास्यान्तो नाश उपलभ्यते-कथमयमनर्थव्रात-
जटिलो विनश्येदिति न ज्ञायते, न चास्यादिकारणमुपलभ्यते-
कुतोऽयमीदृशो जातोऽस्तीति, न चास्य संप्रतिष्ठा समाश्रयोऽप्यु-
पलभ्यते-किं समाश्रित्योऽयं सतिष्ठत इति । किन्तु 'मनुष्योऽहं
पुत्रो यज्ञदत्तास्य, पिता च देवदत्तास्य, तदनुरूपकर्मकारी सुखी
दुःखी, चास्मिन् देशेऽस्मिन् ग्रामे निवसामि' इत्येतावदेव विज्ञा-
यत इत्यर्थः । यस्मादेवं दुर्वोधोऽनर्थव्रते हेतुआयमश्वत्थस्तस्मात्
सत्प्रसङ्गलब्धवस्तुयाथात्म्यज्ञानेनैनमसङ्गशस्त्रेण वैराग्यकुठारेण
दृढेन विवेकाभ्यासानिशितेन छित्त्वा स्वतः पृथक्कृत्य तत्पदं परि-
मार्गितव्यमिति परेणान्वयः । सङ्गो विषयाभिलाषस्तद्विरोध्यसङ्गो
वैराग्यं, तदेव शस्त्रं तदभिलाषनाशकत्वात् सुविरुद्धमूलं पूर्वो-
क्तरीत्यात्यन्तं बद्धमूलम् । ततः संसाराश्वत्थमूलादुपरिस्थितं तत्पदं
परिमार्गितव्यं-सत्प्रसङ्गलब्धैः श्रवणादिभिः साधनैरन्वेष्टव्यम् ।
तत्पदं कीदृशम् ? तत्राह-यस्मिन्निति । यस्मिन् गतास्तैः साधनै-
र्यत् प्राप्ता जनास्ततो न निवर्तन्ते-स्वर्गादिव न पतन्ति । मार्ग-
णोपाधिमाह-तमेवेति । यतः पुराणी चिरन्तनीयं जगत्प्रवृत्तिः
प्रसृता विस्तृता, तमेव चाद्यं सर्वकारणं पुरुषं प्रपद्ये शरणं
भजामीति प्रपत्तिपूर्वकैः श्रवणादिभिस्तन्मार्गेणमुक्तम् । यो जग-
दहेतुर्यत्प्रपत्त्या संसारनिवृत्तिः, स खलु कृष्ण एव-'अहं सर्वस्य
प्रभवः' इत्यादेः, 'दैवी ह्येषा गुणमयी' इत्यादेश्च तदुक्तेः, 'न
तद्वासयते' इत्यादिना व्यक्तीभावितात्वाच्च ॥३-४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकासाः ।
इन्द्रविमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञेच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

सारा०ब०—तद्वक्तौ सत्यां जनाः कीदृशा भूत्वा तत्पदं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायामाह-निर्म्मानेति । अध्यात्मनित्या अध्यात्म-विचारो नित्यो नित्यकर्त्तव्यो येषां ते परमात्मालोचनतत्पराः ॥५॥

गी०भू०—तत्प्रपत्तौ सत्यां कीदृशाः सन्तस्तत्पदं प्राप्नुवन्तीत्याह-निर्म्मानेति । मानः सत्कारजन्यो गर्वः, मोहो मिथ्याभिनिवेशस्ताभ्यां निर्गताः, जितः सङ्गदोषः प्रियभार्यादिस्नेहलक्षणो यैस्ते, अध्यात्मं स्वपरात्मविषयको विमर्शः स नित्यो नित्यकर्त्तव्यो येषां ते, सुखादिहेतुत्वात्तात्संज्ञैर्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्विमुक्तास्तत्सहिष्णवः, अमूढाः-प्रपत्तिविधिज्ञाः ॥५॥

न तद्भसायते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

सारा०ब०—तत्पदमेव कीदृशमित्यपेक्षायामाह-न तदिति । औष्ण्यशैत्यादिदुःखरहितं तत् स्वप्रकाशमिति भावः । तन्मम परमं धाम सर्वोत्कृष्टमजडमतीन्द्रियं तेजः सर्वप्रकाशम् ; यदुक्तं हरिवंशे-“तत् परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् । ममेव तद्धनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥” इति ; न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥” इति श्रुतिभ्यश्च ॥ ६ ॥

गी०भू०—गन्तव्यं पदं विशिषन् परिचाययति-न तदिति । प्रपन्ना यद्गत्वा यतो न निवर्तन्ते, तन्ममैव धाम स्वरूपं परमं श्रीमत् । सर्वावभासका अपि सूर्यादयस्तत्र भासयन्ति प्रकाशयन्ति-“न तत्र सूर्यो भाति” इत्यादिश्रुतेश्च, सूर्यादिभिरप्रकाशयस्तेषां प्रकाशकः स्वप्रकाशक-चिद्विग्रहो लक्ष्मीपतिरहमेव पद-शब्दबोध्यः प्रपन्नैर्लभ्य इत्यर्थः ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

सारा०ब०—त्वद्वक्त्या संसारमतिक्राम्यन् तत्पदगामी जीवः क इत्यपेक्षायामाह-ममैवांश इति । यदुक्तं बाराहे-“स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधा यमिष्यते । विभिन्नांशस्तु जीवः स्यात्” इति । सनातनो नित्यः स च बन्धदशायां मन एव षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि प्रकृतावुपाधौ स्थितानि कर्षति, ममैवैतानीति स्वीयत्वाभिमानेन गृहीतां पादार्गलशृङ्खलामिव कर्षति ॥७॥

गी०भू०—ननु त्वत्प्रपत्त्या यस्तत्पदं याति, स जीवः क इत्यपेक्षायामाह-ममैवेति । जीवः सर्वेश्वरस्य ममैवांशो, न तु ब्रह्मरुद्रादेरीश्वरस्य, स च सनातनो नित्यो, न तु घटाकाशादिवत् कल्पितः, स च जीवलोके प्रपञ्चे स्थितो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कर्षति-पादादिशृङ्खला इव बहति, तानि कीदृशीत्याह-प्रकृतिस्थानि प्रकृतिविकारभूताहङ्कारकार्याणीत्यर्थः । तत्र मनः सात्त्विकाहङ्कारस्य, श्रोत्रादिकं तु राजसाहङ्कारस्य कार्यमिति बोध्यम् । भगवत्प्रपत्त्या प्राकृतकरणहीनो भगवद्भक्तो गतस्तु मागवतैर्देहकरणैर्विभूषणैरिव विशिष्टो भगवन्तं संश्रयन् निवसतीति सूच्यते-“स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिस्तुल्यं ब्रह्माभिसंपद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति” इति माध्यन्दिनायनश्रुतेः, “बसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वं वैकुण्ठमूर्त्तीयः” इत्यादि स्मृतेश्च, भगवत्संकरूप-सिद्धचिद्विग्रहस्तत्र भवतीति । यत्तु घटाकाशबज्जलाकाशबद्धा जीवे ब्रह्मणोऽंशोऽन्तःकरणेनावच्छेदात्तास्मिन् प्रतिबिम्बनाशाद्वा घटजलनाशे तत्तदाकाशस्य शुद्धाकाशत्ववदन्तःकरणनाशे जीवांशस्य शुद्धब्रह्मत्वमिति वदन्ति, न तत्सारम्-‘जीवभूतः’ ‘ममांशः’ ‘सना-

तनः' इत्युक्तिव्याकोपात्, परिच्छेदादिवादद्वयस्य 'देहिनोऽस्मिन् यथा' इत्यत्र प्रत्याख्यानाच्च, प्रति विम्बसादृश्यात्, तत्त्वं मन्तव्यमम्बुवदधिकरणविनिर्णयात् । तस्मात्, ब्रह्मोपसर्जनत्वं जीवस्य ब्रह्मांशत्वं विधुमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलमित्यादौ दृष्टं चेदमेकवस्त्वेकदेशत्वं चांशत्वमाहुः । ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु, ब्रह्मशक्तिः—'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्' इति पूर्वोक्तेरतस्तदेकदेशात्तादंशो जीवः ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्वानिवाशयात् ॥८॥

सारा०ब०—तान्याकृष्य किं करोतीत्यपेक्षायामाह—शरीरमिति । यत् स्थूलशरीरं कर्मवशादवाप्नोति, यच्च यस्माच्च शरीरादुत्क्रामति निष्क्रामति, ईश्वरो देहेन्द्रियादिस्वामी जीवः, तस्मात्तत्र एतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वैव संयाति वायुर्गन्वानिवेति वायुर्यथाशयाद्गन्धाश्रयात् स्रक्चन्दनादेः सकाशात् सूक्ष्मावयवैः सह गन्वान् गृहीत्वान्यत्र याति तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥

गी०भू०—जीवलोके स्थित इन्द्रियाणि कर्षति इत्युक्तम् ; तत् प्रतिपादयति—शरीरमिति । ईश्वरः शरीरेन्द्रियाणां स्वामी जीवो यद्यदा पूर्वशरीरादन्यच्छरीरमवाप्नोति, यदा चाप्ताच्छरीरादुत्क्रामति, तदैतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वा यात्याशयात् पुष्पकोशाद्गन्वान् गृहीत्वा वायुरिव स यथान्यत्र याति, तद्वत् ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

सारा०ब०—तत्र गत्वा किं करोतीत्यत आह—श्रोत्रमिति । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मनश्चाधिष्ठायान्ध्रित्य विषयान् शब्दादीनुपसेवते ॥ ९ ॥

गी०भू०—तानि गृहीत्वा किमर्थं याति ? तत्राह—श्रोत्रमिति । श्रोत्रादीनि समनस्कान्यधिष्ठायान्ध्रित्यायं जीवो विषयान् शब्दादीनुपसेवते—तदर्थं तद्ग्रहणमित्यर्थः । च-शब्दात् कर्मेन्द्रियाणां च पञ्च प्राणांश्चाधिष्ठायेत्यवगम्यम् ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

सारा०ब०—ननु यस्मात् देहान्निष्क्रामति यस्मिन् देहे वा तिष्ठति तत्र स्थित्वा वा यथा भोगान् भूङ्क्त इत्येवं विशेषं नोपलभामहे ? तत्राह—उत्क्रामन्तं देहान्निष्क्रामन्तम्, स्थितं देहान्तरे वर्त्तमानञ्च विषयान् भुञ्जानञ्च गुणान्वितमिन्द्रियादि-सहितं विमूढा अविवेकिनः ज्ञानचक्षुषो विवेकिनः ॥ १० ॥

गी०भू०—एवं शरीरस्थत्वेनानुभवयोग्यमविवेकिनस्तमात्मानं नानुभवन्तीत्याह—उदिति । शरीरादुत्क्रामन्तं तत्रैव स्थितं वा स्थित्वा विषयान् भुञ्जानं वा गुणान्वितं सुखदुःखमोहैरिन्द्रियादिभिर्व्वान्वितं युक्तमनुभवयोग्यमप्यात्मानं विमूढाश्चिरन्तन-वासनाकृष्टचित्ततया विवेकायोग्या नानुपश्यन्ति नानुभवन्ति । ज्ञानचक्षुषो विवेकज्ञाननेत्रास्तु तं पश्यन्ति—शरीरादिविचिक्तमनुभवन्ति ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽयकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

सारा०ब०—ते च विवेकिनो यतमाना योगिन एवेत्याह—

यतन्त इति । अकृतात्मानोऽशुद्धचित्ताः ॥ ११ ॥

गी०भू०—‘ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति’ इत्येतद्विवृण्वन् दुर्ज्ञानतां तस्याह—यतन्त इति । केचिद्योगिनो यतमानाः श्रवणाद्युपायाननुतिष्ठन्त आत्मनि शरीरेऽवस्थितमेनमात्मानं पश्यन्ति, केचिद्यतमाना अप्यकृतात्मानोऽनिर्मलचित्ता अतोऽवचेतसोऽनुदितविवेकज्ञाना एनं न पश्यन्तीति दुर्ज्ञेयमात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सारा०ब०—तदेवं जीवस्य बद्धावस्थायां यत् यत् प्राप्य-बस्तु तत्राहमेव सूर्यचन्द्राद्यात्मकः सन्नपकरोमीत्याह—यदिति त्रिभिः । आदित्यस्थितं तेज एबोदयपर्वते प्रातरुदित्य जीवस्य दृष्टादृष्टभोगसाधनकर्मप्रवर्त्तनार्थं जगद्भासयत एबच्च यच्चन्द्रमसि अग्नौ च तत्तादखिलं मामकमेव सूर्यादिसंज्ञोऽहमेव भवामीत्यर्थः । मत्तेजस एव तत्ताद्विभूतिरिति भावः ॥ १२ ॥

गी०भू०—अथ मदंशस्य जीवस्य संसाररक्तस्य मुमुक्षोश्च भोगमोक्षसाधनमहमेवेति भावेनाह—यदिति चतुर्भिः । आदित्यस्थितं यत्तेजो यच्चन्द्रेऽग्नौ च स्थितं सत् सर्वं जगत् प्रकाशयति, तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि—उदितेन सूर्येण ज्वलितेन च बहिनादृष्टभोगसाधनानि कर्माणि निष्पद्यन्ते, तिमिरजाड्यनाशादयश्च सुखहेतवो भवन्ति । उदितेन चन्द्रेण चौषधिपोषता पशान्ति—ज्योत्स्नाविहारास्तथाभूता भवन्तीति तेषां तत्तात्साधकं तेजो मत्तेजोविभूतिरित्यर्थः ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

सारा०ब०—गां पृथ्वी ओजसा स्वशक्त्या आविश्य अधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि तथाहमेवा-मृतरसमयः सोमो भूत्वा ब्रीह्याद्यौषधीः संबर्द्धयामि ॥ १३ ॥

गी०भू०—गामिति । पांशुमुष्टितुल्यां गां पृथिवीमोजसा स्वशक्त्याऽमाविश्य दृढीकृत्य भूतानि स्थिरचराणि धारयामि, मन्त्रवर्णैवेमाह—“येन द्यौरुमा पृथिवी च दृढा इति, अन्यथासौ सिकतामुष्टिर्वाद्दिशीर्येत निमज्जेद्वेति भावः । तथाहमेव रसात्मकः सोमोऽमृतमयश्चन्द्रो भूत्वा सर्वा ओषधीनिखिला ब्रीह्याद्याः पुष्णामि—स्वादुविविधरसपूर्णाः करोमि । तथा च भूमिलोके स्थितस्य जीवस्य विविध-प्रासाद-बाटिका-तडागादि-क्रीडास्थानानि निर्माय नानारसान् भुञ्जानस्य तत्तात्साधनमहमेवेति ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सारा०ब०—वैश्वानरो जठरानलः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सहितः चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चूष्यम्—भक्ष्यं दन्तछेद्यं भ्रष्टचणकादि, भोज्यं ओदनादि, लेह्यं गुडादि, चूष्यं इक्षुदण्डादि ॥ १४ ॥

गी०भू०—भोग्यानामन्नादीनां पाकहेतुश्चाहमेवेत्याह—अहमिति । वैश्वानरो जठराग्निस्तच्छरीरको भूत्वा प्राणिनां सर्वेषां देहमुदरमाश्रितः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां समायुक्तश्च सन्नहं तैर्भुक्तं चतुर्विधमन्नं पचामि पाकं नयामि, श्रुतिश्चैवमाह—“अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदं अन्नं पच्यते” इत्यादिना, तथा चाहमेव जाठराग्निशरीरस्तदुपकारीत्येवमाह सूत्रकारः, “शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च” इत्यादिना । अन्यस्य चातुर्विध्यं च—भक्ष्यं, भोज्यं, लेह्यं, चूष्यञ्चेति भेदात्—दन्त-

च्छेद्यं चणकपूपादि भक्ष्यं चर्यमिति चोच्यते, मोदकौदन-
सूपादि भोज्यं, पायसगुडमध्वादि लेह्यं, पक्वान्मेक्षुदण्डादि चूष्यं,
सोमवैश्वानरयोः स्वाभेदेनोक्तिः स्वव्याप्यत्वादिति बोध्यम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सारा०ब०—यथैव जठरे जठराग्निरहं तथैव सर्वस्य चरा-
चरस्य हृदि संनिविष्टो बुद्धितत्त्वरूपोऽहमेव यतः मत्तो बुद्धि-
तत्त्वादेव पूर्वानुभूतार्थविषयानुस्मृतिर्भवति, तथा विषयेन्द्रिय-
योगजं ज्ञानञ्च अपोहनं स्मृतिज्ञानयोरपगमश्च भवतीति । जीवस्य
बन्धावस्थायां स्वस्योपकारकत्वमुक्त्वा मोक्षावस्थायां यत्प्राप्यं
तत्राप्युपकारकत्वमाह—वेदैरिति । वेदव्यासद्वारा वेदान्तकृदहमेव
यतो वेदविद् वेदार्थतत्त्वज्ञोऽहमेव—मत्तोऽन्यो वेदार्थं न
जानातीत्यर्थः ॥ १५ ॥

गी०भू०—प्राणिनां ज्ञानाज्ञानहेतुश्चाहमेवेत्याह—सर्वस्य चेति ।
तयोः सामवैश्वानरयोः सर्वस्य च प्राणवृन्दस्य हृदि निखिलप्रवृत्ति-
हेतु-ज्ञानोदयदेहेऽहमेव नियामकत्वेन संनिविष्टः—“अन्तःप्रविष्टः
शास्ता जनानाम्” इत्यादिश्रवणात् । अतो मत्त एव सर्वस्य
स्मृतिः पूर्वानुभूतवस्तुविषयानुसन्धिज्ञानञ्च विषयेन्द्रियसन्निकर्ष-
जन्यं जायते, तयोरपोहनं प्रमोषश्च मत्तो भवति । एवमुक्तं
उद्धवेन—“त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तत्र शक्तिः” इति ।
एवं सांसारिकभोगसाधनतां स्वस्योक्त्वा मोक्षसाधनतामाह—
वेदैश्चेति । सर्वैर्निखिलैर्वेदैरहमेव सर्वेश्वरः सर्वशक्तिमान्
कृष्णो वेद्यः, “योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते” इति श्रुतेः, अत्र कर्म-
काण्डेन परम्परया ज्ञानकाण्डेन तु साक्षादिति बोध्यम् । कथ-
मेवं प्रत्येतव्यमिति चेत्तत्राह वेदान्तकृदहमेवेति । वेदानामन्तो-

अनिर्णयस्तत्कृदहमेव बादरायणात्मना । एवमाह सूत्रकारः—
“तत् समन्वयात्” इत्यादिभिः । नन्वन्ये वेदार्थमन्यथा व्याच-
क्ष्यते ? तत्राह—वेदविदेव चाहामत्यहमेव वेदविदिति, बाद-
रायणः सन् यमर्थमहं निरणैषं, स एव वेदार्थस्ततोऽन्यथा तु
प्रान्तिविजृम्भित इति, तथा च मोक्षप्रदस्य सर्वेश्वरतत्त्वस्य
वेदैरबोधनादहमेव मोक्षसाधनमिति ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

सारा०ब०—यस्मादहमेव वेदवित् तस्मात् सर्ववेदार्थ-
निकर्षं संक्षेपेण ब्रवीमि शृणु इत्याह—द्वाविमाविति त्रिभिः ।
लोके चतुर्दशभूवनात्मके जड़प्रपञ्चे इमौ द्वौ पुरुषौ चेतनौ
तः कौ तावत् आह—क्षरं स्वस्वरूपात् क्षरति विच्युतो भवतीति
क्षरो जीवः, स्वस्वरूपान्न क्षरतीत्यक्षर ब्रह्मैव,—“एतद्वै तदक्षरं
गार्गि ब्राह्मणा विबुधैर्षान्त” इति श्रुतेः “अक्षरं ब्रह्म परमम्”
इति स्मृतेश्च अक्षर-शब्दो ब्रह्मवाचक एव दृष्टः । क्षराक्षरयोरर्थ-
पुनर्विशदयति सर्वाणि भूतानि एको जीव एव अनाद्याविद्यया
स्वरूपाविच्युतः सन् कर्मपरतन्त्रः समष्ट्यात्मको ब्रह्मादस्थाब-
रान्तानि भूतानि भवतीत्यर्थः । जात्या वा एकवचनम् ।
द्वितीयपुरुषोऽक्षरस्तु कूटस्थ एकेनैव स्वरूपेणाविच्युतिमता
सर्वकलव्यापी । “एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः”
इत्यमरः ॥ १६ ॥

गी०भू०—बादरायणात्मना निर्णीतं वेदार्थं संक्षिप्याह—
द्वाविति । ‘लोक्यते तत्त्वमनेन’ इति व्युत्पत्तेर्लोके वेदे, द्वौ पुरुषौ
प्रथितौ इमाविति प्रमाणसिद्धता सूच्यते । तौ कावित्याह—क्षर-
श्चेति । शरीरक्षरणात् क्षरोऽनेकावस्थो ब्रह्मोऽविच्युतसंसर्गैकधर्म-

सम्बन्धादेकत्वेन निहिष्ठः, अक्षरस्तद्भावादेकावस्थो मुक्तोऽचि-
द्वियोगैकधर्मसम्बन्धादेकत्वेन निहिष्ठः । क्षराक्षरौ स्फुटयति-
सर्वाणि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि भूतानि क्षरः, कूटस्थः सदैकावस्थो
मुक्तस्त्वक्षरः । एकत्वनिर्देशः प्रागुक्तयुक्तेर्बोध्यः—“बहवो ज्ञान-
तपसा” इत्यादेः, “इदं ज्ञानमुपाश्रित्य” इत्यादेश्च बहुत्वसंख्याकः
सः ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

सारा०ब०—ज्ञानिभिरुपास्यं ब्रह्मोक्त्वा योगिभिरुपास्यं
परमात्मानमाह—उत्तम इति । तु-शब्दः पूर्ववैशिष्ट्यद्योतकः ।
ज्ञानिभ्यश्चाधिको योगीत्युपासकवैशिष्ट्यादेवोपास्यवैशिष्ट्यं च
लभ्यते । परमात्मतत्त्वमेव दर्शयति—य ईश्वर ईशानशीलोऽव्ययो
निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमाविश्य विभर्ति धारयति
पालयति च ॥ १७ ॥

गी०भू०—यदर्थं द्वौ पुरुषौ निरूपितौ, तमाह—उत्तम इति ।
अन्यः क्षराक्षराभ्यां, न तु तयोरेकैकः संकल्प इति भावः । तत्र
श्रुतिसम्प्रतिमाह—परमात्मेति । उत्तमताप्रयोजकं धर्ममाह—यो
लोकेति । न चैतज्जगद्विधारणपालनरूपमीशानं—बद्धस्य जीवस्य
कर्मसम्भवात्, न च मुक्तस्य “जगद्व्यापारबर्जम्” इति प्रति-
पेधाच्च ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

सारा०ब०—योगिभिरुपास्यं परमात्मानमुक्त्वा भक्तैरुपास्यं
भगवन्तं वदन् भगवत्त्वेऽपि स्वस्य कृष्णस्वरूपस्य पुरुषोत्तम

इति नाम व्याचक्षाणः सर्वोत्कर्षमाह—यस्मादिति । क्षरं पुरुषं
जीवात्मानम् अतीतः अक्षरात् पुरुषात् ब्रह्मत उत्तमादवि-
क्षरात् परमात्मनः पुरुषादप्युत्तमः । “योगिनामपि सर्वेषां
मदगतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो
मतः ॥” इति उपासकवैशिष्ट्यादेवोपास्य-वैशिष्ट्यलाभात्, च-
क्षराद्भगवतो वैकुण्ठनाथादेः सकाशादपि “एते चांशकलाः पुंसः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” इति सूताक्तेरहमुत्तमः । अत्र यद्यप्ये-
कमेव सच्चिदानन्द-स्वरूपं वस्तु ब्रह्मपरमात्मभगवत्शब्दैरुच्यते,
न तु वस्तुतः स्वरूपतः कोऽपि भेदोऽस्ति, “स्वरूपद्वयाभावात्”
(भा ६।६।३५) इति षष्ठस्कन्धोक्तेः, तदपि तत्तादुपासकानां
साधनतः फलतश्च भेददर्शनान् भेद इव व्यवहियते । तथा
हि ब्रह्मपरमात्मभगवदुपासकानां क्रमेण तत्तात्प्राप्तिसाधनं ज्ञानं
योगो भक्तिश्च, फलञ्च ज्ञानयोगयोर्वस्तुतो मोक्ष एव, भक्तेस्तु
प्रेमवत् पार्षदत्वञ्च ; तत्र भक्त्या बिना ज्ञानयोगाभ्यां “नैष्कर्म्य-
सम्यच्युतभावबर्जितं न शोभते” इति, “पुरेह भूपन् बहवोऽपि
योगिनः” इत्यादिदर्शनान् न मोक्ष इति । ब्रह्मोपासकैः परमात्मो-
पासकैः स्वमाध्यफलसिद्धयर्थं भगवतो भक्तिरवश्यं कर्तव्यैव
भगवदुपासकैस्तु स्वमाध्यफलसिद्धयर्थं न ब्रह्मोपासनापि परमात्मो-
पासना क्रियते,—“न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह”
इति, “यत् कर्मभिर्यत्तापसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ
“सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम
कथञ्चिद्यदि बाञ्छति ॥” इति, या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ-
चतुष्टये । तथा बिना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥” इत्यादि
वचनेभ्यः । अतएव भगवदुपासनया स्वर्गापवर्गप्रेमादीनि सर्व-
फलान्येव लब्धुं शक्यन्ते । ब्रह्म-परात्मोपासनया तु न प्रेमादीनी-
त्यत एव ब्रह्मपरमात्माभ्यां भगवदुत्कर्षः खलु अभेदेऽप्युच्यते ;

यथा तेजस्वेनाभेदेऽपि ज्योतिर्दीपाग्निपुञ्जेषु मध्ये शीताद्यार्चि-
क्षयाद्धेतोरग्निपुञ्ज एव श्रैष्ठ्य उच्यते तत्रापि भगवतः श्रीकृष्णस्य
तु परम एवोत्कर्षः, यथा अग्निपुञ्जादपि सूर्यस्य ; येन ब्रह्मो-
पासनापरिपाकतो लभ्यो निव्वाण-मोक्षः स्वद्वेषूभयोऽप्यधवक-
जरमन्वादिभ्यो महापापिभ्यो दत्ता इति । अतएव “ब्रह्मणो
हि प्रतिष्ठाहम्” इत्यत्र यथावदेव व्याख्यातं श्रीस्वामिचरणैः ।
श्रीमधुसूदन-मरस्वतीपादैरपि “चिदानन्दाकारं जलदरुचिसारं
श्रुतिगिरां, ब्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् । विहन्तुं
भूभारं विदधद्वतारं मुहुरहो, ततो बारं बारं भजत कुशलारम्भ-
कृतिनः ॥” इति, “वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बराद-
रुणविम्बफलाधरौष्ठात् । पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥” इति, “प्रमाण-
तोऽपि निर्णयं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् । न शङ्कुबन्ति ये सौढं,
ते मूढा निरयं गताः ॥” इत्युक्तबद्धिः कृष्णो सर्वोत्कर्ष एव
व्यवस्थापित इत्यतः “द्वाविमौ” इत्यादि श्लोकत्रयस्यास्य
व्याख्यायामस्यामभ्यसूया नाविष्कर्त्ताया नमोऽस्तु केवल-
विद्वयः ॥ १८ ॥

गी०भू०—अथ पुरुषोत्तम-नाम-निर्वचनं स्वस्य तत्त्वमाह-
यस्मादिति—उत्तम उत्कृष्टतमः । लोके पौरुषेयागमे—“लोक्यते
वेदार्थोऽनेन” इति निरुक्तेः, वेदे—“तावदेष संप्रमादोऽस्माच्छरी-
रात् समुत्थाय परं ज्योतीरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स
उत्तमः पुरुषः” इत्यादौ प्रथितः यत् परं ज्योतिः संप्रसादेनोप-
सम्पन्नः, स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्यर्थः । लोके च—“तैर्विज्ञा-
पितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः । अबतीर्णो महायोगी सत्य-
वत्यां पराशरात्” इत्यादौ प्रथितः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

मारा०व०—नन्वेतन्निमस्त्वया व्यवस्थापितेऽप्यर्थे वादिनो
विवदन्त एव तत्र, विवदन्तां ते मन्मायामोहिताः साधुस्तु न
मुह्यतीत्याह—यो मामिति । असंमूढो वादिनां वादैरप्राप्तसंमोहः ।
स एव सर्ववित् अनधीतशास्त्रोऽपि स एव सर्वेशास्त्रार्थ-
तत्त्वज्ञः । तदन्यः किलाधीताध्यापितमर्ब्वशान्त्रोऽपि संमूढः
सम्यङ्मुख एवेति भावः । तथा य एवं जानाति, स एव मां
सर्वतोभावेन भजति, तदन्यो भजन्नपि न मां भजतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

गी०भू०—तात्पर्यद्योतनाय पुरुषोत्तमत्व-वेत्तुः फलमाह—
यो मामिति । एवं मद्भुक्तनिरुक्त्या, न त्वश्वकर्णादिबन्तं संज्ञामात्र-
त्वेन, यो मां पुरुषोत्तमं जानात्यसंमूढः—प्रोक्ते पुरुषोत्तमत्वे
संशयशून्यः सन्, स श्लोकत्रयस्यैवार्थं जानन् सर्ववित्, निखि-
लस्य वेदस्य तत्रैव तात्पर्यात् । पुरुषोत्तमत्वज्ञो मां सर्वभावेन
सर्वप्रकारेण भजत्युपास्ते । सर्ववेदार्थवेत्तरि सर्वभक्त्यङ्गानुष्ठा-
तरि च यो मे प्रसादः, स तस्मिन् भवेदिति मे पुरुषोत्तमत्वे
सन्निधानस्त्वधीतसर्ववेदोऽप्यज्ञः, सर्वथा भजन्नप्यभक्त इति
भावः ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्या बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णा-
र्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

सारा०ब०—अध्यायार्थमुपसंहरति—इतीति । विंशत्या श्लोकै-
रेभिरतिरहस्यं शास्त्रमेव सम्पूर्णं मयांक्तम् ॥ २० ॥

जडचैतन्यवर्गाणां विवृतं कुर्वता कृतम् ।
कृष्ण एव महोत्कर्ष इत्यध्यायार्थ ईरितः ॥
इति सारार्थवर्णिकां हर्षिकां भक्तचेतनाम् ।
गीताम्बय पञ्चदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भ०—अथैतदपात्रेष्वप्रकाशयामिति भावेनाह—इतीति—
इत्येवं संक्षेपरूपं पुरुषोत्तमत्व-निरूपकमिदं त्रिश्लोकीशास्त्रं तुभ्यं
परमभक्ताय मयोक्तम् । हे अनघ ! त्वयाप्यपात्रेषु नैतत् प्रकाशय-
मिति भावः । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् परोक्षज्ञानी स्यात्, कृत-
कृत्योऽपरोक्षज्ञानी चेति पुरुषोत्तमत्व-ज्ञानमभ्यर्च्यते ॥२०॥

बद्धान्मुक्ताच्च यः पुंसो भिन्नस्तद्भृत्तदुत्तमः ।
स पुमान् हारिरेवेति प्राप्तं पञ्चदशादतः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ।

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

सारा०ब०—षोडशे सम्पदं दैवीमासुरीमप्यवर्णयत् ।

सर्गश्च द्विविधं दैवमासुरं प्रभुरक्षयात् ॥

अनन्तराध्याये “ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्” इत्यादिना वर्णितस्य
संसाराश्वत्थवृक्षस्य फलानि न वर्णितानि इत्यनुस्मृत्यास्मिन्न-
ध्याये तस्य द्विविधानं मोचकानि बन्धकानि च फलानि वर्ण-
यिष्यन् प्रथमं मोचकान्याह—अभयमिति त्रिभिः । त्यक्तपुत्र-
कलत्रादिक एकाकी निज्जने बने कथं जीविष्यामीति भयरा-
हित्यमभयम् ; सत्त्वसंशुद्धिः चित्तप्रसादः ; ज्ञानयोगे ज्ञानो-
पाये अमानित्वादौ व्यनाम्यतिः परिनिष्ठा, दानं स्वभोज्यस्या-
न्नादेर्यथोचितं साविभागः, ‘दमो’ बाह्येन्द्रियसंयमः, ‘यज्ञो’
देवपूजा, ‘स्वाध्यायः’ वेदपाठः आदीनि स्पष्टानि ; ‘त्यागः’
पुत्रकलत्रादिषु समता-त्यागोऽलोलुप्त्वं लोभाभावः—एतानि
षड्विंशतिरभयादीनि दैवी सार्विकी सम्पदमभिलक्ष्य जातस्य
सार्विक्याः सम्पदः प्राप्त्यव्यञ्जके क्षणे जन्म लब्धवतः पुंसो
भवन्ति ॥ १-३ ॥

गी०भू०—दैवी तथासुरी कृष्णः सम्पदं षोडशेऽब्रवीत् ।

उपादेयत्वहेयत्वे बोधयन् क्रमतस्तयोः ॥

पूर्वत्र “अश्वत्थमूलान्यनुसन्तर्तानि” इत्यादिना प्राचीनकर्म-
निमित्ताः शुभाशुभवासनाः संसारतरोरबान्तरमूलत्वेनोक्ताः ।
एता एव नवमे दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो निग-
दिताः । तत्र वैदिकार्थानुष्ठानहेतुः सार्विकी शुभवासना मोक्षो-
पयोगिनी दैवी प्रकृतिः, तैवेह दैवीसम्पत्तारोरुपादेयं फलम् ।
स्वाभाविकरागद्वेषानुसारिणी सर्वानर्थहेतू राजसी तामसी

पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्विधूताविद्या विमुच्यन्त इत्याह-मां
हीति । ये पापयोनयोऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्युस्तेऽपि मद्भ-
क्तप्रसङ्गेन मां सर्वेशं वसुदेवसुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य परां
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापिं यान्ति हि निश्चितमेतत् । एवमाह
श्रीमान् शुकः-“किरातहृणान्धपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवनाः
खशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभ-
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धचलीकादिमन्तस्ते-
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

सारा०ब०-ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०-किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं
यान्तीति किं पुनर्वाच्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-
त्त्वमपि राजर्षिरिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्वरम-
सुखमीषत्सुखं विनाशिन्यल्पसुखेऽस्मिँल्लोके राज्यस्पृहां विहाय
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्नुहीति त्वरात्र व्यज्यते । अत्रास्य
लोकस्थानित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरासात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

सारा०ब०-भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति-मन्मना इति ।
एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-
कृष्णाञ्जुनसंवादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।
सारा०ब०-पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्वशोधनम् ।

भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीदृयते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सत्ताम् ॥

गी०भू०-अथ परिनिष्ठितस्याञ्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-
शन्नुपसंहरति-मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-
लक्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि-
गुणवति वसुदेवसूनौ स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्ध्यानर्वाच्छन्न-
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-
स्यातिमात्रप्रियस्य ममर्चने निरतो भव ; तादृशं मामतिप्रेम्णा
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि
निवेश्य मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शात् सर्वाघनाशिनी ।

गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।



दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

चाशुभवासना आसुरी राक्षसी च प्रकृतिनिरयनिपातोपयोगिनी
सा, सा चासुर-सम्पत्तायोर्हेयं फलमित्येतद्वोधयितुं षोडशस्या-
रम्भः । अत्र दैवी सम्पदं भगवानुवाच-अभयमित्यादिना
त्रिकेण । चतुर्णांमाश्रमाणां वर्णानाञ्च धर्माः क्रमादिह कथ्यन्ते ।
सन्न्यासिनां तावदाह-अभयं निरुद्यमः कथमेकाकी जीविष्या-
मीति भयशून्यत्वम्, सत्त्वसंशुद्धिः स्वाश्रमधर्मानुष्ठानेन मनो-
नैर्मल्यम्, ज्ञानयोगे श्रवणादौ ज्ञानोपाये, व्यवास्थितिः परि-
निष्ठेति त्रयम्, अथ गृहस्थानामाह-दानं स्वभोग्यस्य न्याया-
जितस्य अन्नादेः सत्पात्रे यथायोग्यं समर्पणम्, दमो बाह्ये-
न्द्रियवर्गस्य यथायोग्यं संयमः, यज्ञाऽग्निहोत्रादेर्विहितस्यानुष्ठान-
मिति त्रयम्, अथ ब्रह्मचारिणामाह-स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः शक्ति-
मतो भगवतः प्रतिपादकोऽयमपौरुषेयोऽक्षरराशिरित्यनुस-
न्धाय वेदभ्यासनिष्ठतेत्येकम्, अथ वानप्रस्थानामाहतप-
इति, तच्च शरीरादित्रिभेदमित्यष्टादशे वक्ष्यमाणं बोध्य-
मित्येकम् अथ वर्णेषु विप्राणामाह-आर्जवं सारल्यम्, तच्च
श्रद्धालुभ्रोतृषु स्वज्ञातार्थागोपनं ज्ञेयम्, अहिंसा प्राणिजीविका-
नुच्छेदकता, सत्यमनर्थाननुबन्धयथाहृष्टार्थोवषयं वाक्यम्,
अक्रोधो दुर्जनकृते स्व-तिरस्कारेऽभ्युदितस्य कोपस्य निराधः,
त्यागो दुरुक्तेरपि तत्राप्रकाशः, शान्तिर्मनसः संयमः, अपैशुनं
परोक्षे परानर्थकारि-वाक्याप्रकाशनम्, भूतेषु दया तद्दुःखा-
सहिष्णुता, अलोलुप्त्वं निर्लोभता-पलोपश्रद्धादसः, मार्दवं कोम-
लत्वं सत्पात्रसङ्गबिच्छेदासहनम्, ह्योविकम्मणि लज्जा, अचा-
पलं व्यथेक्रियाविरह इति द्वादश । अथ क्षत्रियाणामाह-तज-
नुच्छज्जनानभिभाव्यत्वम्, क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये स्वासमानं
परिभावकं प्रति कोपानुदयः, धृतिः शरीरेन्द्रियेष्ववसन्नेष्वपि
तदुत्तम्भकः प्रयत्नो येन तेषां नावसादः स्यादात त्रयम् । अथ

वैश्यानामाह-शौचं व्यापारे बाणिज्ये मायानृतादि-राहित्यम्,
अर्द्राहः पराजिघांसया खड्गाद्यप्रहरणमिति द्वयम् । अथ शूद्राणा-
माह-नातिमानिता आत्मानं पूज्यत्वभावना-शून्यता विप्रादिषु
विषु नम्रतेत्येकमिति षड्विंशतिः । एते तत्र तत्र प्रधानभूता
बोध्या अनुक्तानामप्युपलक्षणार्थाः । देहारम्भकालोन्मुखैः सुकृ-
तैर्व्यक्तां दैवीं शुभवासनामभिलक्षीकृत्य जातस्य पुरुषस्य भवान्त-
रुदयन्ते-“पुण्यः पुण्ये कर्मणा भवति पापः पापेन” इति श्रुतेः ।
देवाः खलु परंशानुवृत्तिशीलास्तेषामियं सम्पदनया तत्प्रापक-
जातमात्तिसम्भवात् ससारतरोरुपादेयं फलमेतत् ॥१-३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

साराऽव०-बन्धकानि फलान्याह-‘दम्भः’ स्वस्याधार्मिक-
त्वेऽपि धार्मिकत्वप्रख्यापनम्, ‘दर्पो’ धनविद्यादिहेतुको गर्वोऽ-
भिमानोऽन्यकृतसम्पन्ननाकाङ्क्षित्वं कलत्रपुत्रादिष्वासत्तिर्वा,
‘क्रोधः’ प्रसिद्धः ‘पारुष्यं’ निष्ठुरता, अज्ञानमभिवेकः, आसुरी-
मित्युपलक्षणं राक्षसीमपि सम्पदमाभिजातस्य राजस्यास्ताम-
स्याश्च सम्पदः प्राप्तिसूचकक्षणे जन्मलब्धवतः पुंसः एतानि
सम्पदादीनि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गी०भू०-अथ नरकहेतुमासुरीं सम्पदमाह-दम्भ इत्येकेन ।
दम्भो धार्मिकत्वरूपातये धर्मानुष्ठानम्, दर्पो विद्याभिजनजन्यो
गर्वः, अभिमानः स्वगिमन्नभ्यर्चत्वबुद्धिः, क्रोधः प्रसिद्धः, पारुष्यं
अयत्तं रुक्षभाषितम्, चकारश्चापलादेः समुच्चायकः, अज्ञानं
कार्याकार्यविवेकधीशून्यत्वम्, चकारोऽधृत्यादेः समुच्चायकः ।
एते देहारम्भकालोन्मुखैर्दुष्कृतैर्व्यक्तमासुरीमशुभवासनामभि-
जातस्य पुरुषस्य भवान्त-“पापः पापेन” इति श्रुतेः ॥४॥

दैवी सम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

सारा०ब०—एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयति-दैवीति । हन्त हन्त शरप्रहारैर्वन्धून् जिघांसोः पारुष्यक्रोधादिमतो ममैवेयमासुरीसम्पत् संसारबन्धप्रापका दृश्यत इति खिद्यन्तमज्जुनमाश्वासयति--मा शुच इति । पाण्डवेति तब क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य संग्रामे, पारुष्यक्रोधाद्याः धम्मेशास्त्रे बिहिता एव, तदन्यत्रैव ते हिंसाद्या आसुरी सम्पादति भावः ॥ ५ ॥

गी०भू०—एतयोः सम्पदोः फलभेदमाह-दैवीत्यर्द्धकेन सुखं । बाणवृष्ट्या पूज्यान् द्रोणादीन् जिघांसोः क्रोधपारुष्यवतो ममेयमासुरी सम्पन्नरकं जनयेदिति शोचयन्तं पार्थमालक्ष्याह-मा शुच इति । हे पाण्डवेति क्षत्रियस्य ते युद्धे बाणनिक्षेपपारुष्यादिकं बिहितत्वात् दैव्येव सम्पत्ततोऽन्यत्र त्वासुरीति मा शुचः शोकं मा कुरु ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

सारा०ब०—तदपि विषयमज्जुनं प्रति आसुरीसम्पदं प्रपञ्चयितुमाह--द्वाविति । विस्तरशः प्रोक्त इति अभयं सत्त्वमशुद्धिरित्यादि ॥ ६ ॥

गी०भू०—तथाप्यनिवृत्तशोकं तमालक्ष्यासुरीं सम्पदं प्रपञ्चयति--द्वाविति । अस्मिन् कर्माधिकारिणि मनुष्यलोके द्विविधौ भूतसर्गौ मनुष्यसृष्टी भवतः । यदायं मनुष्यः शास्त्रात् स्वाभाविकौ रागद्वेषौ विनिर्धूय शास्त्रीयार्थानुष्ठायी तदा दैवः, यदा शास्त्रमुत्सृज्य स्वाभावात् रागद्वेषाधीनोऽशास्त्रीयान् धर्मान्

आचरति, तदा त्वामुरः, न हि धर्माधर्माभ्यामन्या कोटिस्तृतीयास्ति । अतिश्रुतैवमाह--“द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च” इत्यादिना । तत्र दैवो विस्तरशः प्रोक्तः ‘अभयम्’ इत्यादिना । अथासुरं शृणु विस्तरशो वक्ष्यामि ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

सारा०ब०—धर्मे प्रवृत्तिम्, अधर्मान्निवृत्तिम् ॥ ७ ॥

गी०भू०—आसुरं सर्गमाह-प्रवृत्तिश्चेति द्वादशभिः । आसुरा जना धर्मे प्रवृत्तिमधर्मान्निवृत्तिश्च न जानन्ति, चकाराभ्यां तयोः प्रतिपादके विधिनिषेधवाक्ये च न जानन्ति-वेदेष्वास्थाभावादित्युक्तम् । तेषु शौचं बाह्याभ्यन्तरं तत्प्रवृत्ति-तन्निवृत्त्युपयोगि न विद्यते । नाप्याचारो मन्वादिभिर्भुक्तः । न च सत्यं प्राणिनानुबन्धि यथादृष्टार्थविषयवाक्यमिति गृध्रगोमायुवत्तेषामुपदेशादि ॥७॥

अतश्चमप्रतिष्ठं ते जगद्गुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभृतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥८॥

सारा०ब०—अपुराणां मतमाह--असत्यं मिथ्याभूतं भ्रमोपलब्धमेव जगत्ते वदन्ति । ‘अप्रतिष्ठं’ प्रतिष्ठा आप्रयस्तद्रहितम्,--न हि स्वपुष्पस्य किञ्चिदधिष्ठानमस्तीति भावः । अनौश्वरं मिथ्याभूतत्वादेवेश्वरकर्तृकमेतन्न भवति । स्वेदजादीनामकस्मादेव जातत्वात् अपरस्परसम्भूतमन्यत् किं वक्तव्यम् ? कामहेतुकं--कामो वादिनामिच्छैव हेतुर्यस्य तत् । मिथ्याभूतत्वादेव ये यथा कल्पयितुं शक्नुवन्ति, तथैवैतदिति । केचित् पुनरेवं व्याचक्षते-असत्यं नास्ति सत्यं

वेदपुराणादिकं प्रमाणं यत्र तत् ; तदुक्तम्—“त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्डानिशाचराः” इत्यादि ; ‘अप्रतिष्ठ’ नास्ति धर्म्म-धर्म्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्था यत्र तत् धर्म्मधर्म्मावपि भ्रमो-पलव्याविति भावः । ‘अनोश्चरम्’ ईश्वरोऽपि भ्रमेणैवोपलभ्यत इति भावः । ननु स्त्रीपुंमयोः परस्परप्रयत्नविशेषात् जगदिदम् उत्पन्नं दृश्यते तत्र नैतदपीत्याह—अपरस्परसम्भूतमिति । मातापितृभ्यां बालक उत्पद्यत इत्यपि भ्रम एव कुलालस्य घटोत्पादने ज्ञानमिव मातापित्रोस्त्वादृशबालोत्पादने किल नास्ति ज्ञानमिति भावः । किमन्यदन्यत् किं वक्तव्यमिति भावः । तस्मादिदं जगत् कामहेतुकं कामेन स्वेच्छयैव हेतुका हेतुकल्पका यत्र तत् ; युक्तिबलेन ये यत् परमाणुमायेश्वरा-दिकं जल्पयितुं शक्नुवन्ति ते तदेव तस्य हेतुं वदन्तीत्यर्थः ॥८॥

गी०भू०—तेषां सिद्धान्तान् दर्शयति तत्रैकजीववादिना-माह—असत्यमिति । इदं जगदमत्यं शुक्तिरजतादिबद्भ्रान्ति-विजम्भितम् , अप्रतिष्ठं स्वपुष्पवन्निराश्रयम् , नास्त्येवेश्वरो जन्मादिहेतुर्यस्य तत् । सोऽपि तद्वद्भ्रान्तिरचित एव, पार-मार्थिके तस्मिन् स्थिते तन्निर्मितजगत्तादृदृष्टनष्टप्रायं न स्यात् ; तस्मादमत्यं जगत् त एव मन्यन्ते । एकैव निर्विशेषा सर्व-प्रमाणावेद्या चिद्भ्रमादेको जीवस्ततोऽन्यज्जड़जीवेश्वरात्मकं तदज्ञानात् प्रतिभाषते, आस्वरूपसाक्षात्काराद्विसम्बादि स्वा-प्रिकमिव हस्त्यश्वरथादिकमाजागरात् , सति च स्वरूपसाक्षात्कारे तदज्ञानकल्पितं तज्जीवत्वेन सह निवर्त्तेत स्वाप्रिकरथाश्वादीव सुषुप्ताविति । अथ स्वभाव-वादिनां बौद्धानामाह—अपरस्पर-सम्भूतमिति स्त्रीपुरुषसम्भोगजन्यं जगन्न भवति घटोत्पादने कुलालस्येव बालोत्पादने पित्रादेर्ज्ञानाभावात् सत्यप्यसकृत्स-म्भोगे सन्तानानुत्पत्तेश्च स्वेदजादीनामकस्मादुत्पत्तेश्च, तस्मान्

स्वभावादेवेदं भवतीति । अथ लोकायतिकानामाह—कामहेतुक-मिति । किमन्यद्वाच्यम् ? स्त्रीपुरुषयोः काम एव प्रवाहात्मना हेतुरस्येति स्वार्थेऽप्य , अथवा जैनानामाह—कामः स्वेच्छैव हेतु-स्येति । युक्तिबलेन यो यत् कल्पयितुं शक्नुयात् , स तदेव तस्य हेतुं वदतीत्यर्थः ॥९॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणि क्षयाय जगतोऽहिताः ॥१०॥

सारा०ब०—एवं वादिनोऽसुराः केचिन्नष्टात्मनः केचिदल्प-ज्ञानाः केचिदुग्रकर्माणि स्वच्छन्दाचारा महानारकिनो भवन्ती-त्याह—एतामित्येकादशभिः । अवष्टभ्यालम्ब्य ॥१॥

गी०भू०—स्व-स्व-मतनिर्णायकानि दर्शनानि च तैः कृतानि यान्यामथाय जगद्विनश्यतीत्याह—एतामिति जात्यैकवचनम् । एतानि दर्शनान्यवष्टभ्यालम्ब्याल्पबुद्धयस्तुच्छमतयो नष्टात्मानोऽ-ल्पदेहादिबिबिक्तात्मतत्त्वा उग्रकर्माणो हिंसा-पैशुन्यपारुष्यादि-कर्मनिष्ठा जगतोऽहिताः शत्रवश्च सन्तस्य क्षयाय प्रभवन्ति--परमार्थजगद्भ्रंशयन्तीत्यर्थः ॥१०॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचित्राः ॥१०॥

सारा०ब०—असद्ग्राहान् प्रवर्तन्ते कुमते एव प्रवृत्ता भवन्ति । अशुचीनि शौचाचारवर्जितानि व्रतानि येषां ते ॥१०॥

गी०भू०—अथ तेषां दुर्वृत्ततां दुराचारताञ्चाह—काममिति । दुष्पूरं कामं विषयतृष्णामाश्रित्य मोहान्न तु शास्त्रादसद्ग्राहान् गृहीत्वाशुचित्रताः सन्तः प्रवर्तन्ते । असद्ग्राहान् दुष्टनक्रवदात्म-विनाशकान् कल्पितदेवता-तन्मन्त्र-तदाराधननिमित्ताक-कामिनी-

पार्थिवनिध्याकर्षणरूपान् दुराग्रहानित्यर्थः, अशुचीनि श्मशान-
निषेवण-मद्यमांसविषयाणि व्रतानि येषां ते ; दम्भेनाधर्मिष्ठत्वे-
ऽपि धर्मिष्ठत्व-रूपापनेन मानेनापूज्यत्वेऽपि पूज्यत्व रूपापनेन मदे-
नानुत्कृष्टत्वेऽप्युत्कृष्टत्वारोपणेन चान्विताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

सारा०ब०—प्रलयान्तां प्रलयां मरणं तत्पर्यन्ताम् । एता-
वदितीन्द्रियाणि विषयसुखे मज्जन्तु नाम, का चिन्तेत्येतावदेव
शास्त्रार्थतात्पर्यमिति निश्चितं येषां ते ॥११॥

गी०भू०—अपरिमेयामपरा प्रलयान्ताञ्च मरणकालावधि-
साध्यवस्तुविषयां चिन्तामुपाश्रितः कामोपभोगः सम्यग्विषयसे-
वैव परमः पुमर्थो येषां ते ; एतावदेव कामोपभोगमात्रमेवैहिकम् ;
न त्वतोऽन्यत् पारलौकिकं सुखमस्तीति कृतनिश्चयाः ॥११॥

आशापाशशतैर्वद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

गी०भू०—आशेति स्पष्टम् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते अन्यायेन
कूटसाध्यं चौर्येण च ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१४॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालममावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

सारा०ब०—अशुचौ नरके वैतरण्यादौ ॥१६॥

गी०भू०—तेषां धनाशानुवृत्तिं मनोराज्योक्त्या विवृण्वन्
नरकनिपातमाह—इदमिति चतुर्भिः । इदं क्षेत्रं पशुपुत्रादि मयैवाद्य
स्वधी-बलेन लब्धम् ; इमं मनोरथं मनःप्रियमथं महमेव स्वबलेन
प्राप्स्यामि, स्वबलेनैव लब्धमिदं धनं मम सम्प्रत्यास्ति, इदमिष्य-
माणं धनमागामिबर्षं मद्वलेनैव मे भविष्यति, न त्वद्वृत्तबलेन
ईश्वरप्रसादेन वेत्यर्थः । एवं धनवृष्णां प्रपञ्च्य दुष्टं भावं प्रपञ्च-
यति-असाविति । यज्ञदत्तारूपाऽसौ शत्रुर्मयातिर्बलिना हतः,
अपरानपि शत्रूनहमेव हनिष्यामि, तेषां दारधनादि च नेष्यामीति
व-शब्दात्-मत्तो न कोऽपि जीवेदिति भावः । नन्वीश्वरेच्छाम-
ष्टं च कोचज्जयहेतुमाहुस्तत्राह-अहमेवेश्वरः स्वतन्त्रो यदहं भोगी
स्वतो निखिलभोगसम्पन्नः सिद्धोऽस्मीति, यदि कश्चिदीश्वरं वक्ष्य-
यति, तर्हि स मामेवेश्वरं वक्ष्यतु, न तु मत्तोऽन्यमनुपलब्धे-
रिति भावः । ननु सम्पदा कुलेन चान्ये त्वत्समा बीक्ष्यन्ते तत्
कथमीश्वरस्त्वामिति चेदाह-आढ्यः सम्पन्नः स्वतोऽहमस्यभि-
जनवान् कुलीनश्च, न तु केनाचिन्निमित्तोनातो मत्सदृशोऽन्यः
कोऽस्ति-न कोऽप्यहमेवेश्वरः, अतोऽहं स्वबलेनैव यक्ष्ये,
दिव्याङ्गनानां सङ्गतिं करिष्ये, दास्यामि, तासामधरादि खण्ड-
यिष्याम्येव मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः सन्तो नरके पतन्तीत्य-
प्रमेणान्वयः । अनेकेषु चिरप्रयाससाध्येषु वस्तुषु यच्चित्तां, तेन
विभ्रान्ता विक्षिप्ता मोहमयेन जालेन समावृता मत्स्या इव ततो
निगन्तुमक्षमाः, कामभोगेषु प्रसक्ता मध्ये मृताः सन्तो नरके
पतन्त्यशुचौ वैतरण्यादौ ॥१३-१६॥

आत्मसंभाविता स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

सारा०व०—आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीता न तु साधुभिः कैश्चिदित्यर्थः । अतएव स्तब्धा अनम्राः । नाममात्रेणैव ये यज्ञास्ते नामयज्ञास्तैः ॥१७॥

गी०भू०—आत्मनैव सम्भाविताः श्रेष्ठ्यं नीताः, न तु शास्त्रज्ञैः सांद्गः, स्तब्धाः अनम्राः, धनेन सम्पदा मानेन च परमहंसो महाश्रमणः श्रीपूज्यपादो महापूजाविदित्येवंलक्षणेन सत्कारेण यो मदो गर्वस्तेनान्विताः, नामयज्ञैर्नाममात्रेण यज्ञैः पूजाविधिभिः स्वकल्पिता देवता यजन्ते स्व-स्वकानां गृहिणामभ्युदयाय दम्भेन धर्मेध्वजित्वेन विशिष्टा विरक्तवेशाः सन्त इत्यर्थः । आविधिपूर्वकम् वेदाबाहितं यथा भवति तथा ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

सारा०व०—मां परमात्मानममानयन्त एव प्रद्विषन्तः, यद्वा आत्मपराः परमात्मपरायणाः साधवस्तेषां देहेषु स्थितं मां प्रद्विषन्तः साधुदेहद्वेषादेव मदद्वेष इति भावः । अभ्यसूयकाः साधूनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥१८॥

गी०भू०—सर्वथा वेद-तत्प्रतिपाद्येश्वरावमन्तारस्त इत्याह-अहङ्कारमात्रं । अहङ्कारादीन् संश्रितास्ते आत्मनः परेषाञ्च देहेषु नियामकतया भर्तृतया चावास्थितं मां सर्वेश्वरं मद्विषयकं वेदञ्च प्रद्विषन्तोऽवज्ञयापकुर्वन्तो भवन्ति, अभ्यसूयकाः कुटिलयुक्तिभिर्मम वेदस्य च गुणेषु दोषानारोपयन्तः । अहमेव स्वतन्त्रः करोमीत्यहङ्कारः, अहमेव पराक्रमीति बलम्, मत्तुल्यो

न कोऽप्यमतीति दर्पः, मदिच्छैव सर्वसाधिकेति कामः, मत्प्रतीप-महमेव हनिष्यामीति क्रोधश्च ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

गी०भू०—एषामासुरस्वभावात् कचिदपि विमोक्षो न भवतीत्याह-तानिति द्वाभ्याम् । आसुरीष्वेव हिंसातृष्णादियुक्तासु स्लेच्छव्याध-योनिषु तत्तत्कर्मनिगुणफलदः सर्वेश्वरोऽहमजस्र-पुनः पुनः क्षिपामि ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

सारा०व०—मामप्राप्यैवेति, न तु मां प्राप्येति । वैवस्वत-मन्वन्तरीयाष्टाविंशचतुर्युगद्वापरान्तेऽवतीर्णं मां कृष्णं कंसादि-रूपास्ते प्राप्य प्रद्विषन्तोऽपि मुक्तिमेव प्राप्नुवन्तीति भक्तिज्ञान-परिपाकतो लभ्यामपि मुक्तिं तादृशपापिभ्योऽप्यहमपारकृपासिन्धु-र्ददामि । “निभृत-मरुन्मोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपा-सते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्” इति श्रुतयोऽप्याहुः । अतः पूर्वोक्तो ममैव सर्वोत्कर्षो बरीवर्त्तीति भागवतामृतकारिका यथा—“मां कृष्णरूपिणं यावन्नाप्नुवन्ति मम द्विषः । तावदे-वाधमां योनिं प्राप्नुवन्तीति हि स्फुटम् ॥” इति ॥२०॥

गी०भू०—ननु बहुजन्मान्ते तेषां कदाचित्त्वदनुकम्पया-सुरयोनेर्बिमुक्तिः स्यादिति चेत्तत्राह-आसुरीमिति । ते मूढा जन्मन्यासुरीयोनिमापन्ना मामप्राप्यैव ततोऽप्यधमामतिनिकृष्टां आदियोनिं यान्ति ; मामप्राप्यैव, अत्र एवकारेण मदनुकम्पायाः सम्भावनापि नास्ति । तज्ज्ञाभोपाययोग्या सज्जातिरपि दुर्लभेति,

श्रुतिश्चैवमाह—“अथ व.पूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनि-
मापद्येरन् श्रयोनि वा शूकरयोनि वा चाण्डालयोनि वा” इत्या-
दिका । नन्वीश्वरः सत्यसंकल्पत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां शक्नु-
यात् कर्तुमिति चेत्, शक्नुयादेव ; यदि संकल्पयेत् बीजा-
भावान्न संकल्पयतीत्यतस्तस्या वैषम्यमाह सूत्रकारः—“वैषम्य-
नेर्घृण्येन” इत्यादिना ; ततश्च ‘तानहम्’ इत्यादद्वयं सूक्ष्मम् ।
एते नास्तिकाः सर्वदा नार्किको दर्शिताः ; ये तु शापादसुरा-
स्तदनुयायिनश्च राजन्याः प्रत्यक्षे उपेन्द्रनृहरि-बराहादौ बिष्णौ
स्वशत्रु-पक्षत्वेन बिद्धेषिणोऽपि वेदवैदिककर्मपराः सर्वनि-
यन्तारं कालशक्तिकमप्रत्यक्षं सर्वेश्वरं मन्यन्ते, ते तूपेन्द्रादि-
भिर्निहताः क्रमात् त्यजन्त्यासुरीयोनिम्, कृष्णेन निहतास्तु
विमुच्यन्ते चेति, न ते वेद बाह्याः ॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

सारा०ब०—तदेवमासुरीः सम्पत्तीर्विम्ताय्यं प्रोक्ता इत्यतः
साधूक्तम्—‘मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत’ इति,
किंवासुराणामेतत्त्रिकमेव स्वाभाविकमित्याह—त्रिविधमिति ॥२१॥

गी०भू०—नन्वासुरीं प्रकृतिं नरकहेतुं श्रुत्वा ये मनुष्यास्तां
परिहर्त्तुमिच्छन्ति, तैः किमनुष्ठेयमिति चेत्तत्राह—त्रिविधमिति-
एतत्त्रयपरिहारे तस्याः परिहारः स्यादित्यथेः ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

गी०भू०—तत्त्यागे फलमाह—एतैरिति । श्रेयः स्वाश्रम-
कर्मणादिश्रेयःसाधनम्, परां गतिं मुक्तम् ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

सारा०ब०—आस्तिक्यवत एव श्रेय इत्याह—य इति - काम-
चारतः ॥२३॥

गी०भू०—कामादित्यागः स्वधर्मद्विना न भवेत्, स्वधर्मश्च
शास्त्राद्विना न सिध्येदतः शास्त्रमेवास्थेयं सुधियेत्याह—य इति ।
कामचारतः स्वाच्छन्द्येन यो वर्तते—बिहितमपि न करोति,
निषिद्धमपि करोतीत्यर्थः, स सिद्धिं पुमर्थोपायभूतां हृद्विशुद्धिं
नैवाप्नोति, सुखमुपशमात्मकं च परां गतिं मुक्तिं कुतो वाप्नु-
यात् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम
षोडशोऽध्यायः ।

—ॐ—

सारा०ब०—आस्तिका एव बिन्दन्ति सद्गतिं सन्त एव ते ।

नास्तिका नरकं यान्तीत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु षोडशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

—ॐ—

गी०भू०—यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाद्यधीना प्रवृत्तिः
पुमर्थद्विभ्रंशयति, तस्मात्ताव कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कर्तव्यं

किमकर्त्तव्यमित्यस्मिन् विषये निर्दोषमपौरुषेयं वेदरूपं शास्त्रमेव प्रमाणम्, न तु भ्रमादिदोषवता पुरुषेणोत्प्रेक्षितं वाक्यम् । अतः शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादिति प्रवर्त्तनानिबर्त्तनात्मकेन लिङ्-तव्यादि-पदेनोक्तम् । कर्म विहितं निषिद्धञ्च ज्ञात्वा निषिद्धं तत् परित्यजन् इह कर्मभूमौ विहितकर्मग्निहोत्रादि युद्धादि च कर्त्तुमर्हसि लोकसंग्रहाय ॥४॥

वेदार्थनैष्ठिका यन्ति स्वर्गं मोक्षञ्च शाश्वतम् ।

वेदबाह्यास्तु नरकानिति षोडशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये षोडशोऽध्यायः ।

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

सारा०ब०—अथ सप्तदशे वस्तु सात्त्विकं राजसं तथा ।

तामसञ्च विबर्च्चित्तं पार्थप्रश्नोत्तरं यथा ॥ (१)

नन्वासुरसर्गमुक्त्वा तदुपसंहारे “यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥” इति त्वयोक्तम्, तत्राहमिदं जिज्ञास इत्याह—य इति । ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामचारतो वर्त्तन्ते, किन्तु कामभोगरहिता एव श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तपोयज्ञज्ञानयज्ञजपयज्ञादिकं कुर्वन्ति, तेषां का निष्ठा स्थितिः किमालम्बनमित्यर्थः । तत् किं सत्त्वम्, आहोस्वित् रज अथवा तमस्तद्ब्रूहीत्यर्थः ॥१॥

गी०भू०—सात्त्विकं राजसं वस्तु तामसञ्च विवेकतः ।

कृष्णः सप्तदशोऽवादीत पार्थप्रश्नानुसारतः ॥

वेदमधीत्य तद्विधिना तदर्थानुतिष्ठन्तः शास्त्रीयश्रद्धायुक्ता देवाः, वेदमवज्ञाय यथेच्छाचारिणो वेदबाह्यास्त्वासुरा इति पूर्वस्मिन्न-ध्याये त्वयोक्तम् । अथेयं मे जिज्ञासा-ये शास्त्रेति । ये जनाः पाठतोऽर्थतश्च दुर्गमं वेदं विदित्वा लस्यादिना तद्विधिमुत्सृज्य लोकाचारजातया श्रद्धयान्विताः सन्तो देवादीन् यजन्ते, तेषां शास्त्रविध्युपेक्षा-श्रद्धाभ्यां पूर्वनिर्णीतदैवासुरविलक्षणानां का निष्ठा ? सत्त्वं संश्रया तेषां स्थितिरथवा रजस्तमः-संश्रयेति कोटि-द्वयावबोधायाहो-शब्दो मध्ये निवेशितः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव ताममी चेति तां शृणु ॥२॥

सारा०ब०—भो अर्जुन ! प्रथमं शास्त्रविधिमनुत्सृज्य यजतां निष्ठां शृणु, पश्चात् शास्त्रावधित्यागिनां निष्ठां ते वक्ष्यामीत्याह-त्रिविधेति । स्वभावः प्राचीनसंस्कारविशेषस्तस्माज्जाता श्रद्धा, सा च त्रिविधा ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्टो भगवानुवाच-त्रिविधेति । आलस्यात् कोशाच्च शास्त्रविधिमुत्सृज्य ये श्रद्धया देवादीन् यजन्ते देहिनाः, सा तेषां स्वभावजा बोध्या, प्राक्तनः शुभाशुभसंस्कारः स्वभावस्त-स्माज्जातेत्यर्थः । अनादित्रिगुणप्रकृतिसंस्पृष्टानां देहिनामनादितो-जुष्टस्य संसारस्य सात्त्विकत्वादिना त्रैविध्यात्ताज्जातश्रद्धापि त्रिविधेत्याह-सात्त्विकीत्यादि । स्वभावमन्यथयितुं समर्था खलु भदुपदिष्टशास्त्रजन्या विवेकसन्वित्, सा तेषां नास्त्यतः स्वभावजा श्रद्धा त्रिविधा भवति । तादृक्शास्त्रजन्या श्रद्धा त्वन्यैव यथा

तदुक्तिविधिनैव तदर्थानुष्ठानम् ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

सारा०ब०—सत्त्वमन्तःकरणं त्रिविधम्—सात्त्विकं राजसं
तामसञ्च, तदनुरूपा सात्त्विकान्तःकरणानां सात्त्विक्येव श्रद्धा,
राजमान्तःकरणानां राजस्येव, तामसान्तः—करणानां तामस्ये-
वेत्यर्थः । यच्छ्रद्धो यस्मिन् यजनीये देवेऽसुरे राक्षसे वा श्रद्धा-
वान् यो भवति, स एव भवति तत्तच्छ्रद्धेनैव व्यपदिश्यत
इत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—यद्यपि श्रद्धा सत्त्वगुणवृत्तिस्तथाप्यन्तःकरण-
धर्मस्य स्वभावस्यान्तःकरणस्य च धर्मिणस्तत्रैविध्यात्तदुदिता-
यास्तस्यास्यैविध्यं सिद्धेदिति भावेनाह—सत्त्वानुरूपेति । सत्त्व-
मन्तःकरणं त्रिगुणात्मकं, तदनुरूपा सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा
भवति, सत्त्वप्रधानान्तःकरणस्य श्रद्धा सात्त्विकी, रजःप्रधानान्तः-
करणस्य राजसी, तमःप्रधानान्तःकरणस्य तु तामसीति । अतोऽयं
पूज्यपूजकरूपो लौकिकः पुरुषः श्रद्धामयस्त्रिविधश्रद्धा-प्रचुरो यः
पुरुषो यच्छ्रद्धो यस्मिन् पूज्ये देवादौ यक्षादौ प्रेतादौ च श्रद्धा-
वान् भवति, स पूजकोऽपि, स एव तत्तच्छ्रद्धेन व्यपदेश्य पूज्य-
गुणवान् पूजक इत्यर्थः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सारा०ब०—उक्तमर्थं स्पष्टयति—सात्त्विकान्तःकरणाः सात्त्विक-
कया श्रद्धया सात्त्विकशास्त्रविधिना सात्त्विकान् देवानेव यजन्ते,
देवेष्वेव श्रद्धावत्त्वाद्देवा एवोच्यन्ते । एवं राजसा राजसान्तः-

करणा इत्यादि विवरितव्यम् ॥४॥

गी०भू०—कार्यभेदेन सात्त्विकादिभेदं प्रपञ्चयति—यजन्त
इति । शास्त्रीयाविवेकसम्बद्धिहीना ये जनाः स्वभावजया श्रद्धया
देवान् सात्त्विकान् बसुरुद्रादीन् यजन्ते, तेऽन्ये सात्त्विकाः, ये
यक्षरक्षांसि कुवेरनिर्ऋत्यादीनि राजसानि यजन्ते, तेऽन्ये राजसाः,
ये प्रेतान् भूतगणांश्च तमसा यजन्ते, तेऽन्ये तामसाः । द्विजाः
स्वधर्मविभ्रष्टा देहपातोत्तरलब्धबायवीयदेहा उत्कामुखकट-
पूतनादिसंज्ञाः प्रेता मनूक्ताः पिशाचविशेषा चेति व्याख्यातार-
श्चात् सप्तमातृकादयः । एवमालस्यात्त्यक्तवेदाविधीनां स्वभावात्
सात्त्विकताया निरूपिताः, एते च बलबद्धैर्दिकसत्प्रसङ्गात् स्व-
भावान् विजित्य कदाचिद्देवेऽप्यधिकृतो भवन्तीति बोध्यम् ॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

सारा०ब०—यत्तया पृष्टं—“ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य काम-
भोगरहिताः) श्रद्धया यजन्ते तेषां का निष्ठा” इति, तस्योत्तर-
मधुना श्रुतिवत्याह—अशास्त्रेति द्वाभ्याम् । घोरं प्राणिभयकरं
तपस्तप्यन्ते कुर्वन्तीत्युपलक्षणमिदं जपयागादिकमप्यशास्त्रीयं
कुर्वन्ति । कामाचरण-राहित्यं श्रद्धान्वितत्वञ्च स्वत एव लभ्यते ।
दम्भाहंकारसंयुक्ता इति—दम्भाहंकाराभ्यां बिना शास्त्रविध्यु-
लङ्घनानुपपत्तेः ; कामः स्वस्याजरामरत्वरज्याद्यभिलाषः,
रागस्तपस्यासक्तिः, बलं हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव तपः-
करणसामर्थ्यं तैरन्विताः शरीरस्थमारम्भकत्वेन देहस्थितम् ।
भूतानां पृथिव्यादीनां मामं समूहं कर्षयन्तः कृशीकुर्वन्तो

माञ्च मदंशभूतं जीवञ्च दुःखयन्तः । आसुरनिश्चयान् असुरा-
णामेव निष्ठायां स्थितानित्यर्थः ॥ ५-६ ॥

गी०भू०—वेदवाह्यानां कदाचिदपि दुर्गतेर्निस्तारो नेति
पूर्वाध्यायोक्तं दृढयन्नाह-अशास्त्रेति द्वाभ्याम् । अशास्त्रेण
वेदविरुद्धेन स्वागमेन विहितं घोरं परपीडकं तपो ये तप्यन्ते
कुर्वन्ति कामरागो विषयस्पृहा बलं च मया शक्यमेतत् सिद्धं
कर्त्तुमिति दुराग्रहः शरीरस्थमारम्भकतया शरीरे स्थितं भूतप्रामं
पृथिव्यादिसंघातं कर्षयन्तो वृथोपवांसादिना कृशं कुर्वन्तो-
ऽन्तः-शरीरस्थं शरीरमध्यगतान्तर्गमिणं मां चावज्ञया कर्षयन्तो-
ऽचेतसः शास्त्रीयविवेकसम्बिद्धिहीनास्तान् वेदवाह्यानासुरनिश्च-
यान् निश्चयेनासुरान् विद्धोति पूर्वोक्तानां तेषां दुर्गतिरवर्जनी-
यैवेति भावः । भवभावजया श्रद्धया यत्क्षरक्षःप्रेतादीन् यजतां
बलबद्धैदिकसदनुग्रहे सति शास्त्रीयश्रद्धयासुरभावविनाशः स्या-
देव, देवान् यजतां तु वस्तुतः सात्त्विकत्वात्तदनुग्रहे सति शास्त्रीया
सुलभेति स्थितम् ॥५-६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

सारा०ब०—तदेवं ये शास्त्रविधित्यागिनः कामचारेण वर्त्तन्ते
पूर्वाध्यायोक्ता ये चास्मिन्नध्याये आसुरशास्त्राविधिना यत्क्षरक्षः-
प्रेतादीन् यजन्ते, ये चाशास्त्रीयं तप-आदिकं कुर्वन्ति ते सर्वे
आसुरसर्गमध्यगता एव भवन्तीति प्रकरणार्थः तथाप्याहारादीनां
बन्धयमाणानां त्रैविध्यात्तद्वतां यथायोगं दैवमासुरश्च सर्गं स्वयमेव
विबिच्य जानीत्याह--आहारस्त्वित्यादि-त्रयोदशाभिः ॥ ७ ॥

गी०भू०—एवं स्थिते तदाहारादीनामपि त्रैविध्यमाह--
आहारस्त्विति । श्रद्धावत् सर्वस्य प्रियोऽन्नादिराहारोऽपि

त्रिविधो भवति, एवं यज्ञादीनि च त्रिविधानि । तेषामाहारा-
दीनां चतुर्णाम् ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।

स्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

सारा०ब०—आयुरिति—सात्त्विकाहारबतामायुर्वर्द्धत इति
प्रसिद्धः, सत्त्वमुत्साहो रस्या इति केवलगुडादीनां रस्यत्वेऽपि
सत्त्वमत्त आह-स्निग्धा इति, दुग्धफेनादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वे-
ऽप्यस्यैवमत आह-स्थिरा इति, पनसफलादीनां रस्यत्वस्निग्ध-
त्वस्थिरत्वेऽपि हृदुदराद्यहितत्वमत आह-हृद्या हृदुदर-हिता
इति, तेन स-गव्यशर्करा शालिगोधुमान्नादय एव रस्यत्वादि-
चतुष्टयगुणवत्त्वात् सात्त्विकलोकप्रिया ज्ञेयास्तेषां प्रियत्वे सत्येव
सात्त्विकत्वञ्च ज्ञेयम् । किञ्च, गुणचतुष्टयवत्त्वेऽप्यपावित्र्ये सति
सात्त्विकप्रियतादर्शनादत्र पावित्र्या इत्यापि विशेषणं देयम्,
तामसप्रियेष्वमेध्य-पद-दर्शनात् ॥ ८ ॥

सारा०ब०—अति-शब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि सम्बध्यते ।
अतिकटुनिम्बादिरस्यम्ललवणोष्णः प्रांसद्ध एवातितीक्ष्णो मूलि-
काबषादर्मरीच्याद्या वा, अतिरूक्षो हिङ्गुको द्रवादिर्विदाही
दाहकरो भृष्टचणकादिः एते दुःखादिप्रदाः । तत्र दुःखं तात्-
कालिको रसनाकण्ठादिसन्तापः शोकः पञ्चाङ्गाविदौर्मनस्थ-
मामयो रोगः ॥ ९ ॥

सारा०ब०—यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेस्तद्या-
तयामं शैत्यावस्थां प्राप्तमित्यर्थः, गतरसं त्यक्तस्वाभाविकरसं
निष्पीडितरसं पक्वाम्रत्वगृथादिकं वा, पूति दुर्गन्धम्, पर्युषितं
दिनान्तरं पक्वमुच्छिष्टं गुर्वदिभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टममेध्यम-
मद्यं कलञ्जाद । ततश्चैवं पर्यालोच्य स्वहितैषिभिः सात्त्विक-
काहार एव सेव्य इति भावः । वैष्णवैस्तु सोऽपि भगवद-
निवेदितस्त्याज्य एव, भगवान्नवेदितमन्नादिकन्तु निर्गुणभक्त-
लोकप्रियमिति श्रीभागवताज्ज्ञेयम् ॥ १० ॥

गी०भू०—तत्र सात्त्विकाहारमाह—आयुरिति । आयुश्चर-
जीवनं सत्त्वं चित्तधैर्यं बलं देहसामर्थ्यं सुखं तृप्तिः प्रीतिरभि-
रुचिः । एतासां विबद्धेनाः रस्यत्वादगुणबन्तः सगव्यशर्कराः
शालिगोधूमादयः सात्त्विकानां प्रियारतैरुपादेया इत्यर्थः । रस्या
इति नीरसानां चणकादीनां, सिनग्धा इति रुक्षाणां गुडादीनां,
स्थिरा इत्यस्थिराणां, दुग्धफेनादीनां, हृद्येत्यहृद्यानां पनसफला-
दीनाञ्च व्यावृत्तिः, जुहुदराद्यहितत्वमहृद्यत्वम् । अत्र पवित्रा
इति ज्ञेयं—तामसपिषेण्वमेध्यपद दशेनात् । राजसाहारमाह-
कट्विति । सप्तस्वतिशब्दो योज्यः । अतिकटुरिति तिक्तो निम्बा-
दिने च मरिचादिभ्यस्तस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तेरत्यम्लोऽतिलवणो-
ऽत्युष्णश्च, ख्यातोऽतितीक्ष्णो मरीचादिरतिरुक्षः कङ्गुकादिरति-
विदाही राजिकादिः, एते राजसस्येष्टाः, सात्त्विकानां तु हेयाः ।
दुःखं तात्कालिकं जिह्वाकण्ठादिशोषणजं, शोको दौर्मनस्यं
पाश्चात्यमामयो रुधिरकोपः । तामसाहारमाह—यातेति । यातो-
ऽतिक्रान्तो यामः प्रहरो यस्य राक्षस्यान्नादेस्तद्यातयामं, गतरसं
वैरस्यवत्, पूतिः दुर्गन्धं, पर्युषितं पूर्वोऽहि राक्षमुच्छिष्टं गुरो-
रन्येषां भुक्तावशिष्टममेध्यमपावत्रं कलञ्जाद । ईदृग्भोजनं ताम-
सानां प्रियं सात्त्विकानां त्वतिदूरतो हेयम् । ८-१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

सारा०ब०—अथ यज्ञस्य त्रैविध्यमाह—अफलाकाङ्क्षभिरिति ।
फलाकाङ्क्षाराहित्ये कथं यज्ञे प्रवृत्तिरत आह—यष्टव्यमेवेति ।
मानुष्यत्वेन शास्त्रोक्तत्वादवश्यकर्त्तव्यमेतदिति मनः
समाधाय ॥ ११ ॥

गी०भू०—अथ यज्ञत्रैविध्यमाह—अफलेति त्रिभिः । अफला-
काङ्क्षिभिः फलेच्छाशून्यैर्यो यज्ञ इज्यते क्रियते विधिदिष्टो विधि-
वाक्याज्जातः, स सात्त्विकः । ननु फलेच्छां विना तत्र कथं
प्रवृत्तिस्तत्राह—यष्टव्यमेवेति । मां प्रति वेदेनोक्तत्वात् तत् यजनमेव
कार्यं, न तु तेन फलं माध्यमिति मनः—समाधायैकाग्रं कृत्वे-
त्यर्थः ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

गी०भू०—फलं स्वर्गादिकमभिसन्धाय यदिज्यते दम्भार्थं
वा स्वमहिमख्यापनाय, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

सारा०ब०—असृष्टान्नमन्नदानरहितम् ॥ १३ ॥

गी०भू०—विधीति - असृष्टान्नमन्नदानरहितं मन्त्रहीनं स्वरतो
वर्णितं हीनेन मन्त्रणोपेतं श्रद्धा-विरहितं ऋत्विग्विद्वेषात् ॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

सारा०ब०—तपसस्त्रैविध्यं बद्धं प्रथमं सात्त्विकस्य तप-
सस्त्रैविध्यमाह-देवेत्यादित्रिभिः ॥ १४ ॥

गी०भू०—क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं बद्धं तस्यादौ
शारीरादिभावेन त्रैविध्यमाह-देवेति त्रिभिः । देवा बभूवुर्द्रादयो
द्विजा ब्राह्मणश्रेष्ठा गुरवो भार्तापितृदैशिकाः प्राज्ञा विदितवेद-
वेदाङ्गाः परेऽत्र तेषां पूजनम्, शौचं द्विविधमुक्तम्, आर्जवं
विहितनिषिद्धयोरैक्यरूप्येण प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं
विहितमैथुनञ्च-एतच्छारीरं शरीरनिर्वर्त्य तपः ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकर वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव बाहुमयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

सारा०ब०—अनुद्वेगकरम्-सम्बोध्यभिन्नानामप्यनुद्वेजकम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—अनुद्वेगकरमुद्वेगं भयं कस्यापि यन्न करोति, सत्यं
प्रमाणिकं, श्रोतुः प्रियं, परिणामे हितं च । एतद्विशेषणचतुष्टय-
बद्धाक्यं तथा स्वाध्यायस्य वेदस्याभ्यासनञ्च बाहुमयं वाचा
निर्वर्त्य तपः ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

गी०भू०—मनसः प्रसादो वैमल्यं विषयस्मृत्यवैयग्रम्, सौम्य-
त्वमक्रौर्यं सर्वसुखेच्छुत्वम्, मौनमात्ममननम्, आत्मनो
मनसो विनिग्रहो विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्विवहारे
निष्कपटता-एतन्मानसं मनसा निर्वर्त्य तपः ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

सारा०ब०—त्रिविधमुक्तलक्षणं कायिकवाचिकमानसम् ॥ १७ ॥

गी०भू०—उक्तस्य तपसः सात्त्विकादितया त्रैविध्यमाह—
श्रद्धयेति त्रिभिः । तदुक्तं त्रिविधं तपः फलाकाङ्क्षाशून्यैर्युक्तै-
रेकाग्रचित्तैर्नरैः परया श्रद्धया तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकम् ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं अलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सारा०ब०—सत्कारः साधुरयमित्यन्यैः कर्त्तव्या वाक्पूजा,
मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिरन्यैः कर्त्तव्या दैहिकी पूजा,
पूजान्यैर्दीया मानैर्धेनादिभिर्भाविनी या मानसी पूजा, तदर्थं
दम्भेन च यत् क्रियते तदराजसं तपः, चलं किञ्चित् कालिकम्-
ध्रुवमनियतसत्कारादिफलकम् ॥ १८ ॥

गी०भू०—सत्कारः साधुरयं तपस्वीति स्तुतिर्मानः प्रत्युत्था-
नादिरादरः, पूजा चरणप्रक्षालनधनदानादिस्तदर्थं यत्तपो दम्भेन
च क्रियते, तदराजसं प्रोक्तम्, चलं किञ्चित्कालिकमध्रुवमनिय-
तसत्कारादिफलकम् ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

सारा०ब०—मूढग्राहेण मौढ्यग्रहणेन परस्योत्सादनार्थं
विनाशार्थम् ॥ १९ ॥

गी०भू०—मूढग्राहेणाविवेकजेन दुराग्रहेणात्मना देहेन्द्रि-
यादेः पीडया च यत्तापः परस्योत्सादनार्थं विनाशाय वा क्रियते,
तामसम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

सारा०ब०—दातव्यमित्येवं निश्चयेन, न तु फलाभिसन्धिना यद्दानम् ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति । निश्चयेन यद्दानमनुपकारिणे पात्रे विद्यातपोभ्यां दातु रक्षकाय ब्राह्मणाय यद्दीयते तद्दानं सार्त्त्विकम्, अनुपकारिणे प्रत्युपकारमनुद्दिश्ये-
त्यर्थः । देशे तीर्थे काले च संक्रान्त्याद्यौ ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

सारा०ब०—परिक्लिष्टं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तम्, यद्वा दित्साया अभावेऽपि गुर्व्याद्याज्ञानुरोध-
वशादेव दत्तम्, परिक्लिष्टमकल्याणद्वयकर्मकं वा ॥ २१ ॥

गी०भू०—यत्तु प्रत्युपकारार्थं दृष्टफलार्थं फलं वा स्वर्गादिक-
मदृष्टमुद्दिश्यानुसन्वाय दीयते तद्दानं राजसम्, परिक्लिष्टं कथ-
मेतावद्व्ययितव्यमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा स्यात्ताथा गुरुवा-
क्यानुरोधाद्वा यद्दीयते, तद् राजसम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—असत्कारोऽवज्ञायाः फलम् ॥ २२ ॥

गी०भू०—अदेशोऽशुचिस्थाने, अकालेऽशुचिसमये यदपात्रेभ्यो
नटादिभ्यो दीयते, देशादि-सम्पत्तावपि यदसत्कृतं चरणप्रक्षाल-
नादि-सत्कारशून्यमवज्ञातं तूँकाराद्यनादरभाषणोपेतं च यद्दानं,
तत्तामसम् ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सतत ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

सारा०ब०—तदेवं तपोयज्ञादीनां त्रैविध्यं सामान्यतो मनुष्य-
मात्रमधिकृत्योक्तम् । तत्र ये सार्त्त्विकेऽपि मध्ये ब्रह्मवादिन-
स्तेषान्तु ब्रह्मनिर्देशपूर्वका एव यज्ञादयो भवन्तीत्याह—ॐ तत्
सदित्येवं ब्रह्मणो निर्देशो नाम्ना व्यपदेशः स्मृतः, शिष्टैर्दिशितः ।
तत्र ओमिति सर्वश्रुतिषु प्रसिद्धमेव ब्रह्मणो नाम । जगत्-
कारणत्वेनातिप्रसिद्धेरतन्निरसनेन च प्रसिद्धेस्तदिति च, “सदेव
सौम्येदमग्र आसीत्” इति श्रुतेः सदिति च । यस्मात् ॐ
तत् सत् शब्दवाच्येन ब्रह्मणैव ब्राह्मणा वेदा यज्ञाश्च विहिताः
कृतान्तस्मात् ओमिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्योच्चार्य वर्त्तमानानां
ब्रह्मवादिनां यज्ञादयः प्रवर्तन्ते ॥ २३-२४ ॥

गी०भू०—तदेव यज्ञ-तपो-दानानां त्रैविध्यकथनेन सार्त्त्व-
कानां तेषामुपादेयत्वं, राजसादीनां हेयत्वञ्च दर्शितम् । अथ
सार्त्त्विकाधिकारिणां यज्ञादीनि बिष्णुनामपूर्वकारण्येव भवन्ती-
त्युच्यते—ओमिति । ओमित्यादिकार्त्त्राबधो ब्रह्मणो बिष्णोर्नि-
र्देशो नामधेयं शिष्टैः स्मृतः, “ओमित्येतद्ब्रह्मणो निर्दिष्टं नाम”
इति श्रुतेः ओमित्येकं नाम, “तत्त्वमसि” इति श्रुतेः तदिति
द्वितीयं नाम, “सदेव सौम्य” इति श्रुतेः सदिति तृतीयं नाम
उपलक्षणमिदम् । बिष्णवादिनाम्नां तेन त्रिविधेन निर्देशेन
ब्राह्मणा वेदा यज्ञाश्च पुरा चतुर्मुखेन विहिताः प्रकटितास्तस्मा-
न्महाप्रभावोऽयं निर्देशस्तत्पूर्वकारणां यज्ञादीनां नाङ्गवैगुण्यं,
तेन फलवैगुण्यञ्च नेति ॥ २३ ॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मादोमिति निर्देशमुदाहृत्योच्चार्या-
नुष्ठिता ब्रह्मवादिनां सार्त्त्विकानां त्रैविधिकानां यज्ञाद्याः क्रियाः
प्रवर्तन्ते—अङ्गवैकल्येऽपि साङ्गतां भजन्तीति ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फल यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

सारा०ब०—तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः । अनभिसन्धाय फलाभिसन्धिमकृत्वा ॥ २५ ॥

गी०भू०—तदिति - निर्देशमुदाहृत्य फलमनभिसन्धाय यज्ञादिक्रिया मोक्षकाङ्क्षिभिस्तैः क्रियन्ते अनुष्ठीयन्ते । निष्काम-तया मुमुक्षासम्पादनान्महाप्रभावस्तच्छब्दः ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

सारा०ब०—ब्रह्मवाचकः सच्छब्दः प्रशस्तेष्वपि वर्तते, तस्मात् प्रशस्तमात्रे कर्मणि प्राकृतेऽप्राकृतेऽपि सच्छब्दः प्रयोक्तव्य इत्याशयेनाह-सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे ब्रह्मवादित्वे प्रयुज्यते संगच्छत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

सारा०ब०—यज्ञादौ स्थितियेज्ञादितात्पर्येणावस्थानमित्यर्थः । तदर्थीयं कर्म ब्रह्मपरिचर्योपयोगि यत् कर्म भगवन्मन्दिर-मार्ज्जनादिकम्, तदपि ॥ २७ ॥

गी०भू०—सदिति निर्देशः प्रशस्तेष्वर्थान्तरेषु वर्तते, तस्मात् प्रशस्ते कर्ममात्रे स प्रयोज्य इति भावेनाह-सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे च ब्रह्मज्ञत्वेऽभिधायकतया सच्छब्दः प्रयुज्यते—“सदेव सौम्यः” इत्यादौ, “सतां प्रसङ्गात्” इत्यादौ च, तथा प्रशस्ते उपनयनाबवाहादिके च भाङ्गालिके कर्मणि सच्छब्दो युज्यते सङ्गच्छते, यज्ञादौ या तेषां स्थिति-

स्तात्पर्येणावस्थितिस्तदपि सदित्युच्यते, यस्येदं नाम त्रयं, तदर्थीयं कर्म च तन्मन्दिरनिर्माण-तद्विमाज्जेनादि सदित्याभिधीयते । अत्र त्रिविधोऽयं निर्देशः स्मर्त्तव्य इति विधिः कल्प्यते । “वषट्कर्त्तुः प्रथमं भक्ष्यः” इत्यादाविव वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायाद्यज्ञदानादिसंयोगाच्चास्य तद्वैगुण्यमेव फलम्—“प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥” इति स्मरणाच्च ॥२६-२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।

सारा०ब०—सत् कर्म श्रुतम्, तथासत् कर्म किमित्यपेक्षायामाह-अश्रद्धयेति । हुतं हवनं, दत्तं दानं, तपस्तप्तं कृतं यदन्यच्चापि कर्म कृतं तत् सर्वमसदिति हुतमप्यहुतमेव दत्तमप्यदत्तमेव तपोऽप्यतपमेव कृतमप्यकृतमेव, यतस्तत् न प्रेत्य न परलोके फलति नापोहलोके फलति ॥ २८ ॥

उक्तेषु विविधेष्वेव सार्त्त्विकं श्रद्धया कृतम् ।

यत् स्यात्तदेव मोक्षार्हमित्यध्यायाथे ईरितः ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वयं सप्तदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०—अथ सार्त्त्विक्या श्रद्धया सर्वेषु कर्मसु प्रवर्त्ति-

तव्यम्, तथा बिना कृतं सर्वं व्यर्थमिति निन्दति-अश्रद्धयेति ।
हुतं होमो दत्तं दानं, तप्तमनुष्ठितं यच्चान्यदपि स्तुतिप्रणत्यादि-
कर्म कृतं, तत् सर्वमसन्निव्यमित्युच्यते । कुत इत्यत्राह-न
चेति । हेतौ च-शब्दो यतोऽश्रद्धया कृतं, तत् प्रेत्य परलोके न
फलति विगुणान्तस्मात् पूर्वानुत्पत्तेर्नापीह लोके कीर्तिः, सद्भि-
र्निन्दितत्वात् ॥२८॥

श्रद्धां स्वभावजां हित्वा शास्त्रजां तां समाश्रितः ।

निःश्रेयसाधिकारी स्यादिति सप्तदशी स्थितिः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ।



अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच -

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

सारा०ब०-संन्यासज्ञानकर्मादेर्मैत्रैविध्यं मुक्तिर्निर्णयः ।

गुह्यसारतमा भक्तिरित्यष्टादश उच्यते ॥

अनन्तराध्याये “तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥” इत्यत्र
भगवद्वाक्ये मोक्षकाङ्क्षशब्देन संन्यासिन एवोच्यन्ते, अन्ये
वा यद्यन्य एव ते, तर्हि “सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु
यतात्मवान्” इति त्वदुक्तानां सर्वकर्मफलत्यागिनां तेषां स
त्यागः कः ? संन्यासिनाश्च को वा संन्यासः ? इति विवेकतो
जिज्ञासुराह-संन्यासस्येति । पृथगिति यदि संन्यासत्याग-
शब्दौ भिन्नार्थौ तदा संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वे-

दितुमिच्छामि । यदि त्वेकार्थौ तावपि त्वन्मते वा अन्यमते
वा तयोरैक्यार्थमर्थादेकार्थत्वमिति पृथग्वेदितुमिच्छामि ।
हे हृषीकेशेति मद्वुद्धेः प्रवर्त्तिकत्वात् त्वमेव इमं सन्देह-
मुत्थापयसि । ‘केशिनिसूदनः’ इति तच्च सन्देहं त्वमेव केशिन-
मिव बिदारयसीति भावः । ‘महाबाहो’ इति त्वं महाबाहुवला-
न्वितोऽहं किञ्चिद्बाहुवलान्वित इत्येतदंशेनैव मया सह सख्यं
तव, न तु साव्यज्ञाद्यादिभिरंशैरतस्त्वदत्त-किञ्चित्सख्यभावादेव
प्रश्ने मम निःकृतेति भावः ॥ १ ॥

गी०भू०-गीतार्थानिह संगृह्यन् हरिरष्टादशोऽखिलान् ।

भक्तेस्तत्र प्रपत्तोश्च सोऽब्रवीदिति गोप्यताम् ॥

“सर्वकर्मणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी” इत्यादौ
संन्यास-शब्देन किमुक्तं “त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्” इत्यादौ
त्याग-शब्देन च किमुक्तं भगवता तत्र सन्दिहानोऽर्जुनः
पृच्छति-संन्यासस्येति । ‘संन्यास’-‘त्याग’-शब्दौ शैल-तरु-
शब्दाविव बिजातीयार्थौ किंवा कुरु-पाण्डव-शब्दाविव सजा-
तीयार्थौ ? यद्याद्यस्तर्हि संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वेदितु-
मिच्छामि ; यद्यन्तस्तर्हि तत्रावान्तरोपाधिमात्रं भेदकं भावि, तच्च
वेदितुमिच्छामि । हे महाबाहो कृष्ण, हृषीकेशेति धीवृत्तिप्रेरकत्वा-
त्त्वमेव मत्सन्देहमुत्पादयसि ; केशिनिसूदनेति त्वं मत्सन्देहं केशि-
नमिव बिनाशयेति ॥१॥

श्रीभगवानुवाच-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

सारा०ब०-प्रथमं प्राच्यं मतमाश्रित्य संन्यासत्यागशब्द-
योर्भिन्नजातीयार्थत्वमाह-काम्यानामिति । “पुत्रकामो यजेत”

“स्वर्गकामो यजेत” इत्येवं कामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपेणैव त्यागं सन्न्यासं विदुर्न तु नित्यानामपि सन्न्योपास्त्यादीनामिति भावः । सर्वेषां काम्यानां नित्यानामपि कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं केषामपीति भावः । नित्यानामपि कर्मणां फलं “कर्मणा पितृलोकः” इति, “धर्मेण पापमपनुदति” इत्याद्याः श्रुतयः प्रतिपादयन्त्येवेत्यतस्त्यागे फलाभिसन्धिरहितं सर्वकर्मकरणम् । सन्न्यासे तु फलाभिसन्धिरहितं नित्यकर्मकरणम्, काम्यकर्मणां तु स्वरूपेणैव त्याग इति भेदो ज्ञेयः ॥ २ ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच—काम्यानामिति । “पुत्रकामो यजेत स्वर्गकामो यजेत” इत्येवं कामोपबन्धेन विहितानां पुत्रेष्टिज्योतिष्टोमादीनां कर्मणां न्यासं स्वरूपेण त्यागं कवयः पण्डिताः सन्न्यासं विदुर्न तु नित्यानामग्निहोत्रादीनामित्यर्थः । तेषु विचक्षणास्तु सर्वेषां काम्यानां नित्यानाञ्च कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं सन्न्यासलक्षणं त्यागं प्राहुः । नित्यकर्मणां च फलमस्ति—“कर्मणा पितृलोको धर्मेण पापमपनुदति” इत्यादि-श्रवणात् । यद्यपि “अहरहः सन्न्यामुपासीत”, “यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहाति” इत्यादौ “पुत्रकामो यजेत” इत्यादाविव फलविशेषो न श्रुतस्तथापि “विश्वजिता यजेत” इत्यादाविव विधिः किञ्चिन् फलमाक्षिपेदेव ; इतरथा पुरुषप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्दुष्परिहरतापत्तिः । तथा च काम्यकर्मणां स्वरूपतस्त्यागो, नित्यकर्मणां तु फलत्यागः सन्न्यास-शब्दार्थः ; सर्वेषां कर्मणां फलेच्छां त्यक्त्वानुष्ठानं खलु त्याग-शब्दार्थः । पूर्वोक्तरीत्या ज्ञानोदयफलस्य सत्त्वादप्रवृत्तेर्दुष्परिहरत्वं प्रत्युक्तम् ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

सारा०ब०—त्यागे पुनरपि मतभेदमुपक्षिपति—त्याज्यमिति । दोषवत् हिंसादिदोषवत्त्वात् कर्म स्वरूपत एव त्याज्यमित्येके सांख्याः । परे मीमांसका यज्ञादिकं कर्मशास्त्रे विहितत्वात् त्याज्यमित्याहुः ॥ ३ ॥

गी०भू०—त्यागे पुनरपि मतभेदमाह—त्याज्यमिति । एके मनीषिणो “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इति श्रुतिदर्शिनः कापिलाः कर्मदोषवत् पशुहिंसादि दोषयुक्तं भवत्यतस्त्याज्यं स्वरूपतो हेयमित्याहुः, “अग्नीषोमीयं पशुमालभेत” इति श्रुतिस्तु हिंसायाः क्रत्वङ्गत्वमाह, त्वनर्थहेतुत्वं तस्या निवारयति । तथा च द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसायाः सम्भवात्, सर्वं कर्म त्याज्यमिति । अपरे जैमिनीयास्तु यज्ञादिकर्म न त्याज्यं, तस्य वेदविहितत्वेन निर्दोषत्वादित्याहुः—यद्यपि हिंसानुग्रहात्मकं कर्म, तथापि तस्य वेदेन धर्मत्वाभिधानात् दोषवत्त्वमतः कार्यमेवेत्यर्थः । “न हिंस्यात्” इति सामान्यतो निषेधस्तु क्रतोरन्यत्र तस्याः पापतामाहेति न किञ्चिदबध्यम् ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

सारा०ब०—स्वमतमाह—निश्चयमिति । त्रिविधः—सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति । अत्र त्यागस्य त्रैविध्यमुत्क्रम्य “नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥” इति तस्य एव तामसभेदैः सन्न्यासशब्दप्रयोगाद्भगवन्मते त्याग-सन्न्यासशब्दयोरैक्यार्थमेवेत्यवगम्यते ॥ ४ ॥

गी०भू०—एवं मतभेदमुपबर्ण्य स्वमतमाह—निश्चयमिति ।

मतभेदप्रस्ते त्यागो मे परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य निश्चयं शृणु । ननु
त्यागस्य ख्यातत्वात्तत्र श्रोतव्यं किमस्ति ? तत्राह-त्यागो हीति ।
हि यतस्त्यागस्तामसादि-भेदेन विज्ञैस्त्रिविधः संप्रकीर्तितो विवि-
च्योक्तः । तथा च दुर्बोधोऽसौ श्रोतव्य इति त्यागत्रैविध्यम्—
'नियतस्य तु' इत्यादिभिरग्रे बाच्यम् ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

सारा०ब०—काम्यानामपि मध्ये भगवन्मते सात्त्विकानि
यज्ञदानतपांसि फलाकाङ्क्षारहितैः कर्तव्यानीत्याह-यज्ञादिकं
कर्तव्यमेव । तत्र हेतुः-पावनानीति चित्तशुद्धिकरत्वा-
दित्यर्थः ॥ ५ ॥

गी०भू०—प्रथमं तस्मिन् स्वनिश्चयमाह-यज्ञेति द्वाभ्याम् ।
यज्ञादीनि मनीषिणां कार्याण्येव न त्याज्यानि, यदमूनि विष-
तन्तुबदन्तरभ्युदितज्ञानद्वारा पावनानि संसृतिदोषविनाशकानि
भवन्ति ॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

सारा०ब०—येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति
तं प्रकारं दर्शयति-एतान्यपीति । सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं
फलाभिसन्धिञ्च ; फलाभिसन्धि-कर्तृत्वाभिनिवेशयोस्त्याग एव
त्यागः सन्न्यासश्चोच्यत इति भावः ॥ ६ ॥

गी०भू०—यज्ञादीनां पावनताप्रकारमाह-एतान्यपीति । सङ्गं
कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि च प्रतिपदोक्तानि पितृलोकादीनि च
सर्वानि त्यक्त्वा केवलमोश्वरार्चनधिया कर्तव्यानीति मे मया

निश्चितमत उत्तममिदं मतम् । कर्तृत्वाभिनिवेशत्यागस्यापि
प्रवेशात् पार्थसारथेर्मतं बरीयः ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

सारा०ब०—प्रक्रान्तस्य त्रिविधत्यागस्य तामसं भेदमाह-
नियतस्य नित्यस्य । मोहात् शास्त्रतात्पर्याज्ञानात् । सन्न्यासी
काम्यकर्मण्यावश्यकत्वाभावात् परित्यजतु नाम, नित्यस्य तु
कर्मणस्त्यागो नोपपद्यत इति तु-शब्दाथेः । मोहादज्ञानात्,
तामस इति तामसत्यागस्य फलमज्ञानप्राप्तिरेव, न त्वभीप्सित-
ज्ञानप्राप्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

गी०भू०—प्रतिज्ञातं त्यागत्रैविध्यमाह-नियतस्येति त्रिभिः ।
काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात्तत्यागो युक्तः । नियतस्य नित्य-
नैमित्तिकस्य महायज्ञादेः कर्मणः सन्न्यासस्त्यागो नोपपद्यते ।
आत्मोद्देशाद्विशोर्णादिबदन्तर्गतज्ञानस्य तस्य मोचकत्वाद्देहया-
त्रासाधकत्वाच्च तत्त्यागो न युक्तः । तेन हि देवताभगवद्विभूति-
रञ्जितां तच्छेषैः पूतैः मिद्धा देहयात्रा तत्त्वज्ञानाय सत्त्वज्ञानाय
संपद्यते । वैपरीत्ये पूर्वमभिहितं 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इत्या-
दिभिस्तृतीये तस्यापि मोहाद्बन्धकमिदमित्यज्ञानात् परितः स्व-
रूपेण त्यागस्तामसो भवति-मोहस्य तमोधर्मत्वात् ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयाभ्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सारा०ब०—दुःखमित्येवेति । यद्यपि नित्यकर्मणामावश्यक-
मेव तत्करणे गुण एव, न तु दोष इति जानाम्येव, तदपि
तैः शरीरं मया कथं वृथा क्लेशयितव्यमिति भावः । त्याग-
फलं ज्ञानं न लभेत ॥ ८ ॥

गी०भू०--निष्कामतयानुष्ठितं विहितं कर्म मुक्तिहेतुरिति जानन्नपि द्रव्योपार्जनप्रातःस्नानादिना दुःखरूपमिति कायक्लेश-भयाच्चैतन्मुमुक्षुरपि त्यजेत् । स त्यागो राजसः-दुःखस्य रजो-धर्मत्वात् । तं त्यागं कृत्वापि जनस्तस्य फलं ज्ञाननिष्ठां न लभते ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

सारा०ब०--कार्यमवश्यकर्तव्यमिति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म, सात्त्विक इति त्यागात्यागफलं ज्ञानं स लभेतैवेति भावः ॥ ९ ॥

गी०भू०--कार्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म नियतं यथा भवति, तथा सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च निखिलं त्यक्त्वा क्रियत इति यत् स त्यागः सात्त्विकस्तादृशज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषजते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

सारा०ब०--एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह-न द्वेष्टीति । अकुशलमसुखदं शीते प्रातःस्नानादिकं न द्वेष्टि, कुशले सुखग्रीष्मस्नानादौ ॥ १० ॥

गी०भू०--सात्त्विकत्यागिनो लक्षणमाह--द्वेष्टीति । अकुशलं दुःखदं हेमन्तप्रातःस्नानादि न द्वेष्टि, कुशले सुखदे निदा-घमध्याह्ने स्नानादौ न सज्जते ; यतः सत्त्व-समाविष्टोऽतिधारो मेधावी स्थिरधीश्छिन्नो विहितानि कर्माणि क्लेशेनानुष्ठितानि ज्ञानं जनयेयुर्न वेत्येवंलक्षणः संशयो येन सः । ईदृशः सात्त्विक-त्यागी बोध्यः ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

सारा०ब०--इतोऽपि शास्त्रीयं कर्मे न त्याज्यमित्याह-न हीति । त्यक्तुं न शक्यं न शक्यानि, तदुक्तम्-'न हि काश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इति ॥ ११ ॥

गी०भू०--नन्वादिशात् फलत्यागात् स्वरूपतः कर्मत्यागो बरीयान् विक्षेपाभावेन ज्ञाननिष्ठा साधकत्वादात चेत्तत्राह-न हीति । देहभृता कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं न हि शक्यं न शक्यानि ; यदुक्तं-'न हि काश्चित् क्षणमपि' इत्यादि ; तस्मादयः कर्माणि कुर्वन्नेव तत्फलत्यागी, स एव त्यागीत्युच्यते । तथा च सानिष्ठो-ऽधिकारी कर्तृत्वाभिनिवेशफलेच्छा-शून्यो यथाशाक्तः सर्वाणि कर्माणि ज्ञानार्थी सन् बुध्यतांदात पार्थसारथेर्मतम् ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

सारा०ब०--एवम्भूतत्यागाभावे दोषमाह-अनिष्टं नरक-दुःखमिष्टं स्वर्गसुखं मिश्रं मनुष्यजन्मनि सुखदुःखमत्यागिना-मेवम्भूत-त्यागरहितानामेव भवति, प्रेत्य परलोके ॥ १२ ॥

गी०भू०--ईदृशत्यागाभावे दोषमाह-अनिष्टमिति । अनिष्टं नारकित्वम्, इष्टं स्वर्गित्वम्, मिश्रं मनुष्यत्वम्, दुःखसुख-योगीति त्रिविधं कर्मफलम् । अत्यागिनामुक्तत्यागरहितानां प्रेत्य परकाले भवति, न तु संन्यासिनामुक्तत्यागवताम्, तेषां तु कर्मन्तर्गतेन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति त्यागफलमुक्तम् ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

सारा०ब०—ननु कर्म कुर्वन्तः कर्मफलं कथं न भवेदित्या-
शङ्क्य निरहङ्कारत्वे सति कर्मलोपो नास्तीत्युपपादयितुमाह-
पञ्चैतानीति पञ्चभिः । सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तय इमानि
पञ्चकारणानि मे मम वचनान्निबोध जानीहि-सम्यक् परमा-
त्मानं ख्याति कथयतीति सांख्यमेव सांख्यं वेदान्तशास्त्रं
तस्मिन्, -कीदृशो-कृतं कर्म तस्यान्तो नाशो यस्मात्तस्मिन्
प्रोक्तानि ॥ १३ ॥

गी०भू०—ननु कर्माणि कुर्वन्तां तत्फलानि कुतो न स्युरिति
चेत् स्वस्मिन् कर्त्तृत्वाभिनिवेशत्यागेन परमेश्वरे मुख्यकर्त्तृत्व-
निश्चयेन भवन्तीत्याशयेनाह-पञ्चैतानीति पञ्चभिः । हे महाबाहो !
सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये एतानि पञ्चकारणानि मे मतो
निबोध जानीहि । प्रमाणमाह-सांख्य इति । सांख्यं ज्ञानं तत्प्रति-
पादकं वेदान्तशास्त्रं सांख्यं तस्मिन्, कीदृशीत्याह-कृतान्ते
कृतनिर्णये, सर्वेषां कर्महेतूनां प्रवर्त्तिकः परमात्मा तं निर्णय-
कारिणीत्यर्थः । अन्तर्यामि-ब्रह्मणे विदितमेतत्, इहापि 'सर्वस्य
चाहं हृदि' इत्याद्युक्तं वक्ष्यते च, 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'
इत्यादि ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

सारा०ब०—तान्येव गणयति-अधिष्ठानं शरीरम्, कर्त्ता
चिज्जड़प्रस्थिरहङ्कारः, करणं चक्षुःश्रोत्रादि, पृथग्विधमनेक-
प्रकारम्, पृथक् चेष्टा प्राणापानादीनां पृथग्व्यापाराः, दैवं
सर्वप्रकोऽन्तर्यामी च ॥ १४ ॥

गी०भू०—तानि गणयति-अधीति । अधिष्ठीयते जीवेनेत्य-
धिष्ठानं शरीरम्, कर्त्ता जीवः, अस्य ज्ञातृत्वकर्त्तृत्वे श्रुतिराह-

"एष हि द्रष्टा स्रष्टा" इत्यादिना, सूत्रकारश्च-"ज्ञोऽत एवेति कर्त्ता
शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि च । करणं श्रोत्रादिसमनस्कम्, पृथ-
ग्विधं कर्मनिष्पत्तौ पृथग्व्यापारम्, विविधा च पृथक् चेष्टा
प्राणापानादीनां नानाविधा व्यापाराः, दैवश्चेत्यत्र कर्मनिष्पादके
हेतुप्रचये दैवं सर्वाराध्यं परं ब्रह्म पञ्चमम् । कर्मनिष्पत्तावन्त-
र्यामी हरिर्मुख्यो हेतुरित्यर्थः । देहेन्द्रियप्राणजीवोपकरणोऽसौ
कर्मप्रवर्त्तिक इति निश्चयवतां कर्म तत्फलेषु कर्त्तृत्वाभिनिवेश-
स्पृहा-विरहितानां कर्माणि न बन्धकानीति भावः । ननु जीवस्य
कर्त्तृत्वे परेशायत्ते सति तस्य कर्म स्वनियोज्यत्वापत्तिः, काष्ठादि-
तुल्यत्वात् ? विधिनिषेधशास्त्राणि च व्यर्थानि स्युः ? स्वधिया
प्रवर्त्तितुं च शक्तो नियोज्यो दृष्टः ? उच्यते-परेशेन दत्तौर्देहेन्द्रि-
यादिभिस्तेनैवाहितशक्तिभिस्तदाधारभूतो जीवस्तदाहित-शक्तिकः
सन् कर्मसिद्धये स्वच्छयैव देहेन्द्रियादिकमधितिष्ठति । परेशस्तु
तत्सर्वान्तःस्थस्तस्मिन्ननुमतिं ददानस्तं प्रेरयतीति जीवस्य स्व-
धिया प्रवृत्ति-निवृत्तिमत्त्वमस्तीति न किञ्चिच्चोद्यम् । एवमेव सूत्र-
कारो निर्णीतवान्-"परान्तात्तच्छक्तेः" इत्यादिना । ननु मुक्तस्य
जीवस्य कर्त्तृत्वं न स्यात्, तस्य देहेन्द्रियप्राणानां विगमादिति
चेन्न-तदा संकल्पसिद्धानां दिव्यानां तेषां सत्त्वात् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

सारा०ब०—शरीरादिभिरिति शारीरं वाचिकं मानसं चेति
कर्म त्रिविधम्, तच्च सर्वं द्विविधम्-न्याय्यं धर्म्यं, विप-
रीतमन्याय्यमधर्म्यं, तस्य सर्वस्यापि कर्मणा एते पञ्चहेतवः ॥ १५ ॥

गी०भू०—शरीरेति - न्याय्यं शास्त्रीयं, विपरीतमशास्त्रीयम् ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

सारा०ब०—ततः किमत आह-तत्र सर्वस्मिन् कर्मणि पञ्चैव हेतव इत्येवं सति केवलं वस्तुतो निःसङ्गमेवात्मानं जीवं यः कर्तारं पश्यति, सोऽकृतबुद्धित्वादसंस्कृतबुद्धित्वाददुर्मति-
नैव पश्यति सोऽज्ञानी, अन्य एवोच्यत इति भावः ॥ १६ ॥

गा०भू०—ततः किमत आह-तत्रेति । एवं सति जीवस्य कर्त्तृत्वे परेशानुमतिपूर्वके तद्देहादिसापेक्षे च सति, तत्र कर्मणि केवलमेवात्मानं जीवमेव यः कर्तारं पश्यति, स दुर्मति-
रकृतबुद्धित्वादलब्धज्ञानत्वान्न पश्यति यथान्वः ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

सारा०ब०—कस्तर्हि सुमतिश्चक्षुष्मानित्यत आह-यस्येति-
अहंकृतोऽहङ्कारस्य भावः स्वभावः कर्त्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्त्यतएव यस्य बुद्धिर्न लिप्यत इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु नास-
ज्जति, स हि कर्मफलं न प्राप्नोतीति किं वक्तव्यम् ? स हि कर्म
भद्राभद्रं कुर्वन्नपि नैव करातीत्याह-हत्वापीति । स इमान्
सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि स्वदृष्ट्या नैव हन्ति,
निरभिसन्धित्वादिति भावः, अतो न बध्यते कर्ममूलं न
प्राप्नोतीति ॥ १७ ॥

गी०भू०—कस्तर्हि चक्षुष्मान् सुमतिस्तत्राह-यस्येति । यस्य
पुरुषस्य मनावृत्तिलक्षणो भावो नाहंकृतः स्वकर्त्तृत्वे परेशायत्तो-
ऽनुमन्विते सति कर्म्मण्यहमेव करामात्यभिमानकृतो न भवेत् ।
यस्य च बुद्धिर्न लिप्यते कर्मफलसदृश्या, स इमाँल्लोकान्न केवलं

भीष्मादीन् हत्वापि न हन्ति, न च तेन सर्वलोकहननेन कर्मणा
निबध्यते लिप्यते ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाना त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तृति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

सारा०ब०—तदेवं भगवन्मत उक्तलक्षणः सात्त्विकस्त्याग
एव सन्न्यासो ज्ञानिनां, भक्तानाम् तु कर्मयोगस्य स्वरूपेणैव
त्यागोऽवगम्यते, यदुक्तमेकादशे भगवतैव—“आज्ञायैव गुणान्
दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्म्मान् संत्यज्य यः सर्वान्
मां भजेत् स च सत्तमः ॥” इत्यस्यार्थः स्वामिचरणैर्व्याख्यातो
यथा—“मया वेदरूपेणादिष्टानपि स्वधर्म्मान् संत्यज्य यो मां
भजेत् स च सत्तम इति किमज्ञानतो नास्तिक्याद्वा ? न,
धर्म्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे दोषान् प्रत्य-
वायांश्चाज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ध्यानविशेषकतया मद्धक्त्यैव सर्वं
भविष्यतीति दृढनिश्चयेनैव धर्म्मान् संत्यज्य” इति । अत्र
धर्म्मान् धर्मफलानि संत्यजेति नु व्याख्या न घटते, न हि
धर्मफलत्यागे कश्चिदत्र प्रत्यवायो भवेदित्यवधेयम् । अयं भावो
भगवद्वाक्यानां तद्व्याख्यातृणाञ्च-ज्ञानं हि चित्ताशुद्धिमवश्य-
मेवापेक्षते, निष्काकर्मभिश्चित्ताशुद्धिनारतम्ये वृत्त एव ज्ञानो-
दयतारतम्यं भवेन्नान्यथा । अतएव सम्यग् ज्ञानोदयसिद्धयर्थं
सन्न्यासिभिरपि निष्कामकर्म कर्त्तव्यमेव, कर्मभिः सम्यक्तया
चित्ताशुद्धौ वृत्तायां तु तैरपि कर्म न कर्त्तव्यमेव । यदुक्तं
—“आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव
शमः कारणमुच्यते ॥” इति, “यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तिश्च
मातवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्य कार्यं न विद्यते ॥” इति ।
भक्तिरुपरता सन्न्यासो महाप्रबला चित्तशुद्धि नैवापेक्षते यदुक्तं

—“विक्रीडितं ब्रजबधूभिरिदं विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयात्”
इत्यादौ “भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्व-
पहिनोत्यचिरेण धीरः ॥” इति । अत्र त्वात्मप्रत्ययेन हृद्रोग-
वत्त्वे बाधिकारिणि परमाया भक्तेरपि प्रथममेव प्रवेशस्त-
तस्तत्रैव कामादीनामपगमश्च, तथा “प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां
भावसरोरुहम् । धुनाति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥”
इति च इत्यतो भक्त्यैव यदि तादृशी चित्ताशुद्धिः स्यात्
तदा भक्तैः कथं कर्म कर्तव्यमिति । अथ प्रकृतमनुसरामः—
किञ्च न केवलं देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानमेव ज्ञानं तथा-
त्मतत्त्वमपि ज्ञेयं, तादृश-ज्ञानाश्रय एव ज्ञानी, किस्त्वंतत्त्रिके
कर्मसम्बन्धो वर्तते, तदपि सन्न्यासिभिर्ज्ञेयमित्याह—ज्ञानमिति ।
अत्र चोदना-शब्देन विधिरुच्यते, यदुक्तं भट्टैः—“चोदना
चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः” इति । उक्तं श्लोकाद्ध स्वय-
मेव व्याचष्टे—करणमिति यज्ज्ञानं तत् करण-कारकम्, ज्ञाय-
तेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पत्तेः, यज्ज्ञेयं जीवात्मतत्त्वं, तदेव
कर्म-कारकम्, यस्तस्य परिज्ञाता स ‘कर्त्ता’ इति त्रिविधः,
‘करणं’ ‘कर्म’ ‘कर्त्ता’ इति त्रिविधं कारकमित्यर्थः । कर्म-
संग्रहः—कर्मणा निष्कामकर्मानुष्ठानेनैव संगृह्यत इति कर्म-
चोदना-पदव्याख्या । ज्ञानत्वं ज्ञेयत्वं ज्ञातृत्वं चैतत्त्रयं निष्काम-
कर्मानुष्ठानमूलकमिति भावः ॥ १८ ॥

गी०भू०—ज्ञानकाण्डवत् कर्मकाण्डेऽपि ज्ञानादित्रयमस्ति,
नञ्च सनिष्ठेन कर्मठेन बोध्यमिति उपदिशति—ज्ञानमिति । ज्ञानं
ज्ञेयं परिज्ञातेत्येवंत्रिकयुक्ता कर्मचोदना ज्योतिष्टोमादिकर्मविधिः—
“चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः” इत्यभियुक्तोक्तेः ।
तत्त्रिकं स्वयमेव व्याख्याति—करणमिति । यज्ज्ञानं, तत् करणं
‘ज्ञायतेऽनेन’ इति निरुक्तेः करणकारकमित्यर्थः, यज्ज्ञेयं कर्त्तव्यं

ज्योतिष्टोमादि तत् कर्मकारकम् ; यस्तु तस्य परितोऽनुष्ठानेन
ज्ञाता, स कर्त्तुं कर्त्ता कारकम् । एवं कर्मसंग्रहो ज्योतिष्टोमादि
कर्मविधिस्त्रिविधः करणादिकारकत्रयसाध्यश्चोदना-संग्रहशब्द-
योरैक्यार्थः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गी०भू०—ज्ञानमिति - गुणसंख्याने गुणनिरूपके शास्त्रे
चतुर्दशे ‘तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्’ इत्यादिना गुणानां बन्ध-
कता-प्रकारः ; सप्तदशे ‘यजन्ते सात्त्विका देवान्’ इत्यादिना
गुणकृतस्वभावभेदश्चोक्तः । इह तु गुणसंज्ञानां ज्ञानादीनां त्रैवि-
ध्यमुच्यत इति बोध्यम् ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

सारा०व०—सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति । एकं
भावमेकमेव जीवात्मानं नानाविधफलभोगार्थं क्रमेण सर्वभूतेषु
मनुष्यदेवतिर्यगादिषु वर्त्तमानमव्ययं नश्वरेष्वपि तेष्वनश्वरं
विभक्तेषु परस्परं विभिन्नेष्वप्यविभक्तमेकरूपं येन कर्म-
सम्बन्धना ज्ञानेनेक्षते, तत् सात्त्विकं ज्ञानम् ॥ २० ॥

गी०भू०—सात्त्विकज्ञानमाह—सर्वेति । सर्वभूतेषु देवमान-
वादिषु देहेषु नानाकर्मफलभोगात् क्रमेण वर्त्तमानभावं जीवा-
त्मानं येनैकं बीक्ष्यते । अव्ययं नश्वरेषु तेष्वनश्वरं, विभक्तेषु
मिथोभिन्नेषु तेष्वविभक्तमेकरूपञ्च येन तं बीक्ष्यते, तज्ज्ञानं
सात्त्विकमौपनिषद्वाचित्वात्मज्ञानं तदित्यर्थः ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

सारा०ब०—राजसं ज्ञानमाह—सर्वेषु भूतेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानमिति । देहनाश एवात्मनो नाश इत्यसुराणां मतम् । अतएव पृथक्पृथग् देहेषु पृथक् पृथगेवात्मेति, तथा शास्त्रकारणात् पृथग् विधानं नानाभावान् नानाभिप्रायान् । आत्मा सुखदुःखाश्रय इति, सुखदुःखाद्यनाश्रय इति, जड़ इति, चेतन इति, व्यापक इति, अणुस्वरूप इति, अनेक इति—इत्यादि कल्पान् येन एक इत्यादि वेद तद्वराजसम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—राजसज्ञानमाह—पृथक्त्वेनाति । सर्वेषु भूतेषु देवमनुष्यादिदेहेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानं देहविनाश एवात्मविनाश इति यज्ज्ञानमित्यर्थः, येन च नानाविधान् भावानभिप्रायान् वेत्ति, देह एवात्मेति, देहादन्यां देहपरिमाण आत्मेति, क्षणिकविज्ञानमात्मेति, नित्याविज्ञानमात्रविभुरात्मेति, देहादन्यो नवाविशेषगुणाश्रयोऽजडो विभुरात्मेत्येवं लौकायतिक-जैन-बौद्ध-मायितार्किकादबादान् येन जानाति, तद्वराजसं ज्ञानम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकमिन्द्रकार्ये सत्तमहैतुकम् ।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

सारा०ब०—तामसं ज्ञानमाह—यत्तु ज्ञानमहैतुकमौत्पत्तिकमेवातएवैकस्मिन् कार्ये लौकिक एव स्नानभोजनपानस्त्री-सम्भोगे तत्साधने च कर्माणि सक्तं, न तु वैदिके कर्माणि यज्ञदानादौ । अतएवातत्त्वार्थवत् तत्र तत्त्वरूपोऽर्थः कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अल्पं पशुनामिव यत् क्षुद्रम्, तत् तामसं ज्ञानम् । देहाद्यतिरिक्तत्वेन तत्-पदार्थज्ञानं सात्त्विकम्, नानावादप्रतिपादकं न्यायादशास्त्रज्ञानं राजसम्, स्नानभोजना-

दिव्यवहारिकज्ञानं तामसमिति सङ्क्षेपः ॥ २२ ॥

गी०भू०—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति । यत्तु ज्ञानमहैतुकं स्वाभाविकं, न तु शास्त्राद्वेतोर्ज्ञानम्, अतएवैकस्मिन् लौकिके स्नान-भोजन-योषिप्रसङ्गादौ कार्ये, न तु वैदिके यागदानादौ सक्तं कृत्स्नवत् पूर्णं नातोऽधिकमस्तीत्यर्थः । अतएवातत्त्वार्थवद्यत्र तत्त्वरूपोऽर्थो नास्ति, अल्पं पश्यादिसाधारण्यात्तु च्छं तल्लौकिकस्नान-भोजनादिज्ञानं तामसम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्वराजसमुदाहृतम् ॥२४॥

सारा०ब०—त्रिविधं ज्ञानमुक्त्वा त्रिविधं कर्माह—नियतं नित्यतया विहितं सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यमतएवारागद्वेषतो रागद्वेषाभ्यां विनैव कृतमफलप्रेप्सुना फलाकाङ्क्षारहितेनैव कर्त्ता कृतं कर्म यत् सात्त्विकम् ॥ २३ ॥

सारा०ब०—कामेप्सुनाऽल्पाहङ्कारवत्तेत्यर्थः, साहङ्कारेणात्यहङ्कारवत्तेत्यर्थः ॥ २४ ॥

गी०भू०—अथ कर्मत्रैविध्यमाह—नियतमिति त्रिभिः । नियतं स्ववर्णाश्रमविहितम्, सङ्गरहितं कर्त्ता त्वाभिनिवेशवर्जितम्, अरागद्वेषतः कृतं कीर्त्तौ रागादकीर्त्तौ द्वेषाच्च यन्न कृतं, किन्त्वीश्वराच्च नतयैवाफलप्रेप्सुना फलेच्छाशून्येन यत् कर्म कृतं, तत् सात्त्विकम् ॥२३॥

गी०भू०—यत् कामेप्सुना फलाकाङ्क्षिणा साहङ्कारेण कर्त्ता त्वाभिनिवेशना जनेन बहुलायसमतिकलेशयुक्तं कर्म क्रियते, तद्वराजसम् ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसापनपेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

सारा०ब०—अनुकर्मानुष्ठानानन्तरमायत्यां भाविनं बन्धं राजदस्युयमदूतादिभिर्वन्धनं क्षयं धर्मज्ञानाद्यपचयम्, हिंसा स्वस्य नाशञ्चानपेक्षयापर्यालोच्य पौरुषं व्यवहारिकपुरुषमात्र-कर्त्तव्यं कर्म मोहादज्ञानादेव यदारभ्यते तत्तामसम् ॥२५॥

गी०भू०—अनु कर्मानुष्ठानानन्तरं बन्धं राजदूतयमदूत-कृतम्, क्षयं धर्मादिविनाशम्, हिंसां प्राणिपीडाम्, पौरुषं सबलञ्चानवेक्ष्य यत् कर्म मोहादारभ्यते, तत्तामसम् ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

सारा०ब०—त्रिविधं कर्मोत्तमं, त्रिविधं कर्त्तारमाह-मुक्त-सङ्ग इति ॥ २६ ॥

गी०भू०—अथ कर्त्ता त्रैविध्यमाह-मुक्तेति त्रिभिः - मुक्तसङ्गः कर्त्ता त्वाभिनिवेशफलच्छाशून्यः, अनहंवादी गढ्वोत्तिशून्यः, धृतिरारब्धकर्मपूर्त्तापर्यन्ताबर्जनीयदुःखसाहाय्यता, उत्साहस्त-दनुष्ठानोद्यतचित्तता ताभ्यां समन्वितः, आनुषाङ्गिकस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः-सुखेन दुःखेन च राहितः, ईदृशः कर्त्ता सात्त्विकः ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

सारा०ब०—रागी कर्मण्यासक्तः लुब्धो विषयासक्तः ॥२७॥

गी०भू०—रागी स्त्रीपुत्रादिष्वासक्तः, कर्मफलप्रेप्सुः पशु-पुत्रान्नस्वर्गादिष्वातिष्ठहयालुः, लुब्धः कर्म्मपेक्षितद्रव्यव्ययाक्षमः,

हिंसात्मकः परान् प्रपीड्य कर्म कुर्वणः, अशुचिः कर्मपेक्षित-विहितशुद्धिशून्यः कर्मफलमिद्वि-तदसिद्धयोर्हर्षशोकाभ्या-मन्वितः, ईदृशः कर्त्ता राजसः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

सारा०ब०—अयुक्तोऽनौचित्यकारी प्राकृतः प्रकृतौ स्व-स्व-भाव एव वर्त्तमानः, यदेव स्वमनसि आयाति तदेवानुतिष्ठति, न तु गुरोरपि वचः प्रमाणयतीत्यर्थः । नैष्कृतिकः परापमान-कर्त्ता । तदेवं ज्ञानिभिरुक्तलक्षणः सात्त्विक एव त्यागः कर्त्तव्यः सात्त्विकमेव कर्मनिष्ठं ज्ञानमाश्रयणीयं सात्त्विकमेव कर्म कर्त्तव्यं सात्त्विकेनैव कर्त्ता भवितव्यं, -एष एव सन्न्यासो ज्ञानिना-मिति मे ज्ञानं प्रकरणार्थनिष्कर्षः । भक्तानां तु त्रिगुणातीत-मेव ज्ञानं त्रिगुणातीतं मे कर्म भक्तियोगाख्यं त्रिगुणातीता एव कर्त्तारः, यदुक्तं भगवतैव श्रीमद्भगवते-“कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं तु यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्त्रिष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥” इति, “लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्ये-त्युदात्तम्” इति “सात्त्विकः कारकोऽमङ्गो रागान्वो राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदवाश्रयः ॥” इति । किञ्च न केवलमेव सात्त्विकमेव भक्तिमते गुणातीतमपि तु भक्ति-सम्बन्धि सर्वमेव गुणातीतम्, यदुक्तं तत्रैव-“सात्त्विक्या-ध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यवर्म्म या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा ॥” इति, “वनन्तु सात्त्विको बासः प्रामो राजस उच्यते । तामसं व्युत्सदनं मन्त्रिकेनन्तु निर्गुणम् ॥” इति, “सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयात्थन्तु राजसम् । तामसं मोहैः स्यात्थं निर्गुणं मदवाश्रयम् ॥” इति । तदेवं गुणातीतानां

भक्तानां भक्तिसम्बन्धीनि ज्ञानकर्मश्रद्धादौ स्व-सुखादीनि
सर्वान्येव गुणातीतानि । सात्त्विकानां ज्ञानिनां ज्ञानसम्बन्धीनि
तानि सर्वाणि सात्त्विकान्येव, राजसानां कर्मिणां तानि
सर्वाणि राजसान्येव, तामसानामुच्छृङ्खलानां तानि सर्वाणि
तामसान्येवेति श्रीगीता-भागवताथेष्टया ज्ञेयम् । ज्ञानिना-
मपि पुनरन्तिमदशायां ज्ञानसन्न्यासान्तरमुर्वारितया केवलया
भक्त्यैव गुणातीतत्वं चतुर्दशध्याय उक्तम् ॥ २८ ॥

गी०भू०—अयुक्तोऽनौचित्यकृत्, प्राकृतः प्रकृतौ स्वभावे
वर्त्तमानः स्व-प्रकृत्यनुसारेणैव, न तु शास्त्रानुसारेण कर्मकृदि-
त्यर्थः, स्तब्धोऽनम्रः शठः स्वशक्तिगोपनकृत्, नैऋतिकः परापमान-
कृत्, अलसः प्रारब्धे कर्मणि शिथिलः, बिषादी शोकाकुलः,
दीर्घसूत्री दिवसैककर्त्तव्यं वर्षेणापि यो न करोति, ईदृशः कर्त्ता
तामसः ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं भृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

सारा०ब०—ज्ञानिभिः सर्वमपि वस्तु सात्त्विकमेवोपादेय-
मिति ज्ञापयितुं बुद्ध्यादीनामपि त्रैविध्यमाह-बुद्धेरिति ॥ २९ ॥

गी०भू०—एवं ज्ञानज्ञेयपरिज्ञातृणां त्रैविध्यमुक्त्वा बुद्धि-
धृत्योस्तद्वक्तुं प्रतिजानीते । बुद्धेरिति स्फुटार्थम् ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

सारा०ब०—भयाभये संसारासंसार-हेतुके ॥ ३० ॥

गी०भू०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह-प्रवृत्तिश्चेति त्रिभिः । या
बुद्धिर्धर्मं प्रवृत्तिमधर्माद्निवृत्तिश्च वेत्ति, यया वेत्तीति वक्तव्ये

या वेत्तीति करणे कर्त्ता त्वमुपचरितम्, कुठारश्छिनत्तीतिवत् ।
निष्कामं कर्म कार्यं सकामं त्वकार्यमात कार्याकार्यं या
वेत्ति, अशास्त्रीय-प्रवृत्तितो भयं शास्त्रीयप्रवृत्तितस्तवभयमिति
भयाभये या वेत्ति, बन्धं संसारयाथात्म्यं मोक्षं तच्छेदयाथात्म्यं
च या वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

सारा०ब०—अयथावदसम्यक्तयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

गी०भू०—राजसी बुद्धिमाह-ययेति । अयथावदसम्यक्त्वेन ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

सारा०ब०—या मन्यत इति—कुठारश्छिनत्तीतिवत् यया
मन्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

गी०भू०—तामसी बुद्धिमाह-अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी
बुद्धिस्तामसीत्यर्थः । सर्वार्थान् विपरीतानिति साधुमसाधुम-
धुश्च साधुं, परं तत्त्वमपरम्परञ्च तत्त्वं परमित्येवं सर्वार्थान्
विपरीतान्मन्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

सारा०ब०—धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येति ॥ ३३ ॥

गी०भू०—धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येति त्रिभिः । यया मनः-
प्राणेन्द्रियाणां योगोपायभूताः क्रियाः पुरुषो धारयते, सा धृतिः
सात्त्विकी । कीदृशेत्याह-योगेनेति । योगः परात्मचिन्तनं, तेना-

व्यभिचारिण्या तदन्यं विषयमगृह्णत्येत्यर्थः ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

गी०भू०—सकामबिद्वत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी पुरुषः, यया धर्मादीन् तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयते, सा धृतिः राजसी ॥३४॥

गी०भू०—यया स्वप्नादीन् विमुञ्चति दुर्मेधास्तान् धारयत्येव, सा धृतिस्तामसी । स्वप्ना निद्रा, मदो विषयभोगजो गर्वः, स्वप्नादिशब्दैस्तद्धेतुभूता विषया लक्ष्यास्तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया यया धारयते, सा तामसी धृतिरित्यर्थः ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भातर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सारा०ब०—सात्त्विकं सुखमाह-सार्द्धेन-अभ्यासात् पुनरनुशीलनादेव रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्यैव रमत इत्यर्थः । दुःखान्तं निगच्छति यस्मिन् रममाणः संसारदुःखं तरतीत्यर्थः ॥३६॥

गी०भू०—अथ सुखत्रैविध्यं प्रतिजानीते-सुखं त्वित्यर्द्धकेन । तत्र सात्त्विकं सुखमाह-अभ्यासादिति सार्द्धकेन । अभ्यासात् पुनःपुनःपरिशीलनाद्यत्र रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्या, यस्मिन् रममाणो दुःखान्तं निगच्छति-संसारं तरति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

सारा०ब०—विषमिवेति-इन्द्रियमनो-निरोधो हि प्रथमं दुःखद एव भवतीति भावः ॥ ३७ ॥

गी०भू०—यच्चाग्रे प्रथमं विषमिव मनःसंयमवलेषसत्त्वाद्धि-वित्तात्मप्रकाशाच्चातिदुःखावर्हामव भवति, परिणामे समाधिपरि-पाके सत्यमृतोपमं विवित्तात्मप्रकाशात् पीयूषप्रवाहनिपातवद्भवति । यच्चात्मसम्बन्धिन्या बुद्धेः प्रमादाज्जायते, तत्सात्त्विकं सुखम्, तत्प्रसादश्च विषयसम्बन्धमालिन्यविनिवृत्तिः ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

सारा०ब०—यदमृतोपमं परस्त्रीसम्भोगादिकम् ॥ ३८ ॥

गी०भू०—विषयैर्युवतिरूपस्पर्शादिभिः सहेन्द्रियाणां चक्षु-स्त्वगादीनां संयोगात् सम्बन्धात् यदग्रे पूर्वममृतोपममस्ति स्वादु-परिणामेऽवसाने तु निरयहेतुत्वाद्धिषोपममस्ति दुःखावर्हं भवति, तदराजसं सुखम् ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

गी०भू०—यदग्रेऽनुभवकाले अनुबन्धे पश्चाद्विपाककाले चात्मनो मोहनं वस्तुयाथात्म्यावरकं, यच्च निद्रादिभ्य उत्तिष्ठति जायते तत्तामसं सुखम् । आलस्यमिन्द्रियव्यापारमान्द्यम्, प्रमादः कार्यकार्यावधानाभावः ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

सारा०ब०—अनुत्तमपि संगृह्यन् प्रकरणार्थमुपसंहरति-नेति ।

तत् सत्त्वं प्राणिजातमन्यच्च वस्तुमात्रं कापि नास्ति यदेभिः
प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं स्यादतः सर्वमेव वस्तुजातं
त्रिगुणात्मकं, तत्र सात्त्विकमेवोपादेयं, राजसतामसे तु नोपादेय
इति प्रकरणतात्पर्यम् ॥ ४० ॥

गी०भू०—प्रकरणार्थमुपसंहरन्ननुक्तमपि संगृह्णाति-न तदिति ।
पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि स्वर्गादौ देवेषु च प्रकृतिं संसृष्टेषु
ब्रह्मादिस्तम्बान्तेष्वित्यर्थः । तत् सत्त्वं प्राणिजातं, अन्यच्च वस्तु
नास्ति । यदेभिः प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं विरहितं स्यात् । तथा
च त्रिगुणात्मकेषु वस्तुषु सात्त्विकस्यैवोपयोगित्वात्तदेव प्राह-
मन्यत्वात् त्याज्यमिति प्रकरणार्थः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

सारा०ब०—किञ्च, त्रिगुणात्मकमपि प्राणिजातं स्वाधिकार-
प्राप्तेन विहितकर्मणा परमेश्वरमाराध्य कृतार्थीभवतीत्याह-
ब्राह्मणेति षट्भिः । स्वभावेनोत्पत्त्यैव प्रभवन्ति प्रादुर्भवन्ति
ये गुणाः सत्त्वाद्यस्तैः प्रकर्षेण विभक्तानि पृथक्कृतानि कर्माणि
ब्राह्मणादीनां विहितानि मन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

गी०भू०—यद्यपि सर्वाणि वस्तूनि त्रिगुणात्मकानि, तथापि
ब्राह्मणादयश्चेत् स्वविहितानि कर्माणि भगवदाराधनभावे-
नानुतिष्ठेयुस्तदा तानि ज्ञाननिष्ठा मुत्पाद्य मोचकानि भवन्तीति
वक्तुं प्रकरणमारभते-ब्राह्मणेति षट्केन । शूद्राणां समासात्
पृथक्करणं द्विजत्वाभावात् । ब्राह्मणादीनां चतुर्णां कर्माणि स्व-
भावप्रभवैर्गुणैः सह शास्त्रेण प्रविभक्तानि-स्वभावः प्राक्तन-
मंस्कारस्तस्मात् प्रभवन्ति ये गुणाः सत्त्वाद्यास्तैः सह शास्त्रेण
तेषां कर्माणि विभज्योक्तानि । एवंगुणक-ब्राह्मणादयस्तेषामेतानि

कर्माणीति, तत्र सत्त्वप्रधानो ब्राह्मणः प्रशान्तत्वात्, सत्त्वोप-
सर्जनरजःप्रधानः क्षत्रिय ईश्वरस्वभावत्वात्, तमउपसर्जनरजः
प्रधानो बिट् इहाप्रधानत्वात् रजउपसर्जनतमप्रधानः शूद्रः मूढ-
स्वभावत्वात् । कर्माणि त्वमे वाच्यानि ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं दान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

सारा०ब०—तत्र सत्त्वप्रधानानां ब्राह्मणानां स्वभाविकानि
कर्माण्याह-शम इति । शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, दमो बाह्येन्द्रि-
यनिग्रहस्तपः शारीरादि, ज्ञानविज्ञाने शास्त्रानुभवोत्थे, आस्तिक्यं
शास्त्रार्थे दृढविश्वास एवमादि ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्य कर्म
स्वभावजं स्वाभाविकम् ॥ ४२ ॥

गी०भू०—ब्राह्मणस्य स्वाभाविकं कर्म हि-शम इति । शमो-
ऽन्तःकरणस्य संयमः, दमो बहिःकरणस्य, तपः शास्त्रीयकाय-
क्लेशः, शौचं द्विविधमुक्तम्, क्षान्तिः सहिष्णुता, आर्जवम-
वक्रत्वम्, ज्ञानं शास्त्रात् परावरतत्वावगमः, विज्ञानं तस्मादेव
तदेकान्तधर्माधिगमः, आस्तिक्यं सर्ववन्देद्यो हरिर्निखिलैक-
करणं स्वविहितैः कर्मभिराराधितः केवलया भक्त्या च सन्तो-
षितः स्वपर्यन्तं सर्वमपेयतीति शास्त्राधिगतेऽर्थे सत्यत्ववि-
निश्चयः-एतत् स्वाभाविकं ब्रह्मकर्म । यद्यपि सत्त्वबृद्धौ क्षत्रि-
यादेरप्येते धर्मा भवन्ति, तथापि सत्त्वप्राधान्याद्ब्राह्मणस्येति
भणितिः । एवमुक्तं बिष्णुना-“क्षमा सत्यं दमः शौचं दान-
मिन्द्रियसंयमः । अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥ आर्जवं
लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसूया च तथा धर्मसामान्य
पच्यते ॥” इति ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

सारा०ब०—सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानानां क्षत्रियाणां कर्माह—शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यमीश्वरभावो लोकनियन्तृत्वम् ॥४३॥

गी०भू०—क्षत्रियस्याह-शौर्यमिति । शौर्यं युद्धे निर्भया प्रवृत्तिः, तेजः परैरधृष्यत्वम्, धृतिर्महत्यापि सङ्कटे देहेन्द्रियानवसादः, दाक्ष्यं क्रियासिद्धिकौशलम्, युद्धे स्वमृत्युनिश्चयेऽप्यपलायनं तत्रावैमुख्यम्, दानमसङ्कोचेन स्ववित्तात्यागः, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु शासनातिगेषु प्रभुत्वशक्तिप्रकाशः-एतत् क्षत्रियस्य स्वाभाविकं कर्म ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

सारा०ब०—तमउपसर्जनरजःप्रधानानां कर्माह कृषीति-गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गोरक्ष्यम् । रजउपसर्जनतमः प्रधानानां शूद्राणां कर्माह-परिचर्यात्मकं ब्राह्मणक्षत्रियाविशां परिचर्यारूपम् ॥ ४४ ॥

गी०भू०—वैश्यस्याह-कृषीति-अन्नाद्युत्पाद्ये हलादिना भूमेर्विलेखनं कृषिः, पाशुपाल्यं गोरक्षम्, वाणिज्यकर्म वाणिज्यं क्रयविक्रय लक्षणम्, वृद्धौ धनप्रयोगः कुशीदमप्यत्रान्तर्गतम्-एतत् स्वभावसिद्धं वैश्यकर्म । अथ शूद्रस्याह-परीति - ब्राह्मणादीनां द्विजन्मनां परिचर्या शूद्रस्य स्वाभाविकं कर्म । एतानि चातुराश्रम्यकर्माणामुपलक्षणानि ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

गी०भू०—उक्तानां कर्मणां ज्ञानहेतुतामाह-स्वे स्वे इति । स्व-स्व-वर्णाश्रमविहिते कर्मण्यभिरतस्तदनुष्ठाता नरः संसिद्धिं विशतन्तुवत् कर्मान्तर्गतां ज्ञाननिष्ठां लभते । ननु बन्धकेन कर्मणा विमोचिका ज्ञाननिष्ठा कथमिति चेद्बुद्धिविशेषादित्याह-स्वकर्ममिति ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

सारा०ब०—यतः परमेश्वरात्, तमेवाभ्यर्च्येत्यनेन कर्मणा परमेश्वरस्तुष्ट्यविति मनसा तदर्पणमेव तदभ्यर्चनम् ॥ ४६ ॥

गी०भू०—यत इति । यतः परमेश्वराद्भूतानां जन्मादिलक्षणा प्रवृत्तिर्भवति, येन चेदं सर्वं जगत्तत् व्याप्तं, तमिन्द्रादिदेवतात्मनाबस्थितं स्वविहितेन कर्मणाभ्यर्च्य 'एतेन कर्मणा स्वप्रभुस्तुष्टयतु' इति मनसा तस्मिन्तत् समर्प्य मानवः सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमर्थात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

सारा०ब०—न च क्रियादिभिः स्वधर्मं राजसं च वीक्ष्य तत्रानभिरुच्या सात्त्विकं कर्म कर्त्तव्यमित्याह-श्रेयानिति । परधर्मान् श्रेष्ठादपि स्वनुष्ठितात् सम्यगनुष्ठितादपि स्वधर्मो विगुणो निकृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठितुमशक्योऽपि श्रेष्ठः । तेन बन्धुबन्धादि-दोषवत्त्वात् स्वधर्मं युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनादिरूप-परधर्मस्त्वया नानुष्ठेय इति भावः ॥ ४७ ॥

गी०भू०—ननु क्षत्रियादिधर्माणां राजसादित्वात्तेषु रुचि-शून्यैः क्षत्रियादिभिः सात्त्विको ब्रह्मधर्म एवानुष्ठेय इति चेत्त-

ब्राह्म-श्रेयानिति । स्वधर्म्मो विगुणो निष्कृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठितो-
ऽपि वा परधर्म्मादुत्कृष्टात् स्वनुष्ठिताच्च श्रेयानतिप्रशस्तो विहि-
तत्वात् । न च हिंसानृतादि-दोषयुक्ताद्युद्धबाणिज्यादेः स्वधर्म्मा-
च्छिलोच्छ्रवृत्त्यादिः परधर्म्मस्तद्दोषविरहात् श्रेयानिति मन्तव्यम्,
यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियतं नियमेन विहितं कर्म्म कुर्वन्
जनः किल्बिषं दोषं नाप्नोति । क्रत्वङ्गहिंसाया विहितत्वाद्यथा
न दोषत्वं, तथा युद्धाद्यङ्गस्य हिंसानृतादेर्विहितत्वादेव न तदिति
भावः । व्याख्यातं चैतद्विस्तरेण तृतीये ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सारा०ब०—न च स्वधर्म्म एव केवलं दोषोऽस्तीति मन्तव्यम्
यतः परधर्म्मेऽपि दोषः कश्चित् कश्चिदस्त्येवेत्याह-सहजं स्व-
भावविहितं हि यतः सर्वेऽप्यारम्भा दृष्टादृष्टसाधनानि कर्म्मणि
दोषेणावृता एव, यथा धूमेन दोषेणावृत एव बहिर्दृश्यते ।
अतो धूमरूपं दोषमपाकृत्य तस्य ताप एव तमःशीतादिनि-
वृत्तये यथा सेव्यते तथा कर्म्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांश
एव सत्त्वशुद्धये सेव्य इति भावः ॥ ४८ ॥

गी०भू०—न खलु क्षत्रियादिधर्म्मा एव युद्धादयः सदोषाः,
ब्रह्मधर्म्माश्च तथेत्याह, सहजमिति । सहजं स्वभावप्राप्तं कर्म्म
सदोषमपि हिंसादिमिश्रमपि न त्यजेदपि तु विहितत्वात् कुर्व्या-
देव-निर्दोषत्वबुद्ध्या ब्रह्मकर्म्मणा चरेदित्यर्थः, यतः सर्वेति ।
सर्वेषां ब्राह्मणादि-वर्णानामारम्भाः कर्म्मणि त्रिगुणात्मक-
त्वाद्द्रव्यसाध्यताच्च सामान्यतः केनचिदोषेणावृता व्याप्ता एव
भवन्ति । धूमेनेवाग्निरिति यथाग्नेर्धूमांशमपाकृत्य शीतादि-
निवृत्तये तापः सेव्यते, तथा कर्म्मेणां भगवदर्पणेन दोषांशं

निर्धूयात्मदर्शनाय ज्ञानजनकत्वांशः सेव्य इति भावः ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सारा०ब०—एवं सति कर्म्मणि दोषांशान् कर्त्तृत्वाभि-
निवेशकलाभिसन्धिलक्षणान् त्यक्तवतः प्रथममन्यासिनस्तस्य
कालेन साधनपरिपाकतो योगारूढत्वदशायां कर्म्मेणां स्वरूपेणापि
त्यागरूपं द्वितीयं संन्यासमाह-असक्तबुद्धिः सर्वत्रापि प्राकृत-
वस्तुषु न सक्ता आमक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य सः, अतो जितात्मा
बशीकृतचित्तो विगता ब्रह्मलोकपर्यन्तेऽपि सुखेसु स्पृहा यस्य
सः; ततश्च संन्यासेन कर्म्मेणां स्वरूपेणापि त्यागेन नैष्कर्म्यस्य
परमां श्रेष्ठां सिद्धिमधिगच्छति प्राप्नोति, योगारूढदशायां तस्य
नैष्कर्म्यमतिशयेन सिद्धं भवतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

गी०भू०—एवमारुरुक्षुः सन्निष्ठो ज्ञानगर्भया कर्म्मनिष्ठयानु-
भूतस्वरूपस्ततः कर्म्मनिष्ठां स्वरूपतस्त्यजेदित्याह-असक्तेति ।
सर्वत्रात्मातिरिक्तेषु वस्तुष्वसक्तबुद्धिर्यतो जितात्मा स्वात्मा-
नन्दात्वादेन बशीकृतमना अतएव विगतस्पृह आत्मातिरिक्त-
वस्तुसाध्येषु नानाविधेष्वानन्देषु स्पृहाशून्यः । स्वात्मानन्दात्वाद्-
विक्षेपकाणां कर्म्मेणां संन्यासेन स्वरूपतस्त्यागेन परमां नैष्क-
र्म्यलक्षणां सिद्धिमधिगच्छति योगारूढः सन् । एवमेवोक्तं
तृतीये-“यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्” इत्यादिना ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सारा०ब०—ततश्च यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति
ब्रह्मानुभवतोत्यर्थः । यैरज्ञानस्य निष्ठा परा परमोऽन्त इत्यर्थः;

—“निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः” इत्यमरः । अविद्यायामुपरत-
प्रायासां विद्याया अप्युपरमारम्भे येन प्रकारेण ज्ञानसन्न्यासं
कृत्वा ब्रह्मानुभवेत्तं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥ ५० ॥

गी०भू०—सिद्धिमिति - विहितेन कर्मणा हरिमाराध्य तत्-
प्रसादजां सर्वकर्मत्यागान्तामात्मध्याननिष्ठां प्राप्नो यथा येन
प्रकारेण स्थितो ब्रह्म प्राप्नोति-आविर्भावितगुणाष्टकं स्वरूप-
मनुभवति, तथा तं प्रकारं समासेन गदतो मे मत्तो निबोध ।
ज्ञानस्य या परा निष्ठा परेशविषया ज्ञाननिष्ठा त्वां प्रति मयो-
च्यते, ताञ्च शृणु ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्वात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

सारा०ब०—बुद्ध्या विशुद्ध्या सात्त्विक्या धृत्यापि सात्त्विक्या-
त्मानं मनो नियम्य । ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनैव यः परो
योगस्तत्परायणः, बलं कामरागयुक्तं न तु सामर्थ्यम् ।
अहङ्कारादीन् विमुच्येत्यविद्योपरमः, शान्तः सत्त्वगुणस्याप्युप-
शान्तिमानिति कृतज्ञानमन्न्यास इत्यर्थः,—“ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्”
इत्येकादशोक्तेः । अज्ञानज्ञानयोरुपरमं विना ब्रह्मानुभवानुप-
पत्तिरिति भावः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मानुभवाय कल्पते समर्थो
भवति ॥ ५१-५३ ॥

गी०भू०—तं प्रकारमाह-बुद्धयेति । विशुद्ध्या सात्त्विक्या

बुद्ध्या युक्तस्तादृश्या धृत्या चात्मानं मनो नियम्य समाधियोग्यं
कृत्वा, शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा तान् सन्निहितान् विधाय राग-
द्वेषौ च तद्धेतुकौ व्युदस्य दूरतः परिहृत्य, विविक्तसेवी निर्ज-
नस्थः, लब्धाशी मितभुक्, यतानि ध्येयाभिमुखीकृतानि बागा-
दीनि येन सः, नित्यं ध्यानयोगपरो हरिचिन्तननिरतः, वैराग्यमात्मे-
तरबस्तुमात्रविषयकम्, अहमिति । अहङ्कारो देहात्माभिमानः,
बलं तद्धृदयं बासनारूपम्, दर्पस्तद्धेतुकः प्रारब्धशेषवशादुपा-
गतेषु भोग्येषु कामोऽभिलाषः, तेष्वन्यैरपहृतेषु क्रोधः, परिग्रहश्च
तत्कर्मकः, तानेतानहङ्कारादीन् विमुच्य निर्ममः सन् ब्रह्मभूयाय
गुणाष्टकविशिष्टसात्मरूपत्वाय कल्पते तदनुभवति । शान्तो निस्त-
रङ्गसिन्धुरिव स्थितः ॥ ५१-५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

सारा०ब०—ततश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतोऽनावृत्तचैतन्य-
त्वेन ब्रह्मरूप इत्यर्थः, गुणमालिन्यापगमात् । प्रसन्नश्चासावात्मा
चेति सः, ततश्च पूर्वदशायांसिव नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं
काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावादिति भावः । सर्वेषु भूतेषु
भद्राभद्रेषु बालक इव ‘समः’ बाह्यानुसन्धानाभावादिति भावः ।
ततश्च निरिन्धनाग्नाविव ज्ञाने शान्तेऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां
मद्भक्तिं श्रवणकीर्त्तिनादिरूपां लभते, तस्या मत्स्वरूपशक्ति-
वृत्तित्वेन मायाशक्तिभिन्नत्वादविद्याविद्ययोरपगमेऽप्यनपगमात् ।
अतएव परां ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्कामकर्मज्ञानाद्युर्वरितत्वेन
केवलामित्यर्थः । लभत इति पूर्वं ज्ञानवैराग्यादिषु मोक्षसिद्धयर्थं
कलया वर्त्तमानाया अपि सर्वेभूतेष्वन्तर्ग्यामिन इव तस्याः
स्पष्टोपलब्धिर्नासीदिति भावः । अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा

लभत इति प्रयुक्तम्, - माषमुद्गादिषु मिलितां तेषु नष्टेष्व-
प्यनश्वरां काञ्चनमणिकामिव तेभ्यः पृथक्तया केवलां लभत
इतिवत् । सम्पूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवो-
ऽस्ति, नापि तस्याः फलं सायुज्यमित्यतः पराशब्देन प्रेमलक्षणेति
व्याख्येयम् ॥ ५४ ॥

गी०भू०—तस्य ब्रह्मभूयोत्तरभाविनं लाभमाह—ब्रह्मेति-
ब्रह्मभूतः साक्षात्कृताष्टगुणकस्वस्वरूपः, प्रसन्नात्मा क्लेशकर्मविपा-
काशयानां विगमादतिस्वच्छः—‘नद्यः प्रसन्नसलिलाः’ इत्यादावति-
वैमल्यं ‘प्रसन्न’शब्दार्थः, स एवंभूतो मदन्यान् कांश्चित् प्राति न
शोचति न च तान् काङ्क्षति, सर्वेषु मदन्येषूच्चावचेषु भूतेषु
समः—हेयत्वाविशेषाल्लोष्ट्रकाष्ठवत्तानि मन्यमानः, ईदृशः सन् परां
मद्वक्तिं लभते—‘निष्ठा ज्ञानस्य या परा’ इत्युक्तां मदनुभवलक्षणां
मद्वीक्षणसमानाकारां साध्यां भक्तिं विन्दतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सारा०व०—ननु तथा लब्धया भक्त्या तदानीं तस्य किं
स्यादित्यतोऽर्थान्तरन्यासेनाह—भक्त्येति । अहं यावान् यश्चास्मि
तं मां तत्पदार्थं ज्ञानी वा नानाविधो भक्तो वा भक्त्यैव
तत्त्वतोऽभिजानाति । ‘भक्त्याहमेकया ग्राह्यः’ इति मदुक्तेः ।
यस्मादेवम् तस्मात् प्रस्तुतः स ज्ञानी, ततस्तथा भक्त्यैव
तदनन्तरं विद्योपरमादुत्तरकाल एव मां ज्ञात्वा मां विशति
मत्सायुज्यसुखमनुभवति मम मायातीतत्वादविद्यायाश्च माया-
त्वाद् विद्ययाप्यहमवगम्य इति भावः । यत्तु “सांख्ययोगौ
च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे । पञ्चपदैव विद्या” इति
नारदपञ्चरात्रे विद्यावृत्तित्वेन भक्तिः श्रूयते, तत् खलु ह्यादिनी-

शक्तिवृत्तेर्भक्तेरेव कला काचिद्विद्यासाफल्यार्थं विद्यायां प्रविष्टा
कर्मसाफल्यार्थं कर्मेयोगेऽपि प्रविशति, तथा विना कर्मज्ञान-
योगादीनां श्रममात्रत्वोक्तेः । यतो निर्गुणा भक्तिः सद्गुण-
मय्या विद्याया वृत्तिर्वस्तुतो न भवत्यतो ह्यज्ञाननिवृत्तत्वेनैव
विद्यायाः कारणत्वं तत्पदार्थज्ञाने तु भक्तेरेव । किञ्च, “सत्त्वात्
संजायते ज्ञानम्” इति स्मृतेः सत्त्वजं ज्ञानं सत्त्वमेव तच्च
सत्त्वं विद्या-शब्देनोच्यते यथा तथा भक्त्युत्थं ज्ञानं भक्तिरेव,
सैव कचित् भक्ति-शब्देन, कचित् ज्ञान-शब्देन चोच्यत
इति ज्ञानमपि द्विविधं द्रष्टव्यम् । तत्र प्रथमं ज्ञानं संन्यस्य,
द्वितीयेन ज्ञानेन ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयादित्येकादशस्कन्धपञ्चविंशत्य-
ध्यायदृष्ट्यापि ज्ञेयम् । अत्र केचिद्भक्त्या विनैव केवलेनैव
ज्ञानेन सायुज्याथिनस्ते ज्ञानिमानिनः क्लेशमात्रफला अति-
विगीता एव; अन्ये तु भक्त्या विना केवलेन ज्ञानेन न
मुक्तिरिति ज्ञात्वा भक्तिमिश्रमेव ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवांस्तु
मायोपाधिरेवेति भगवद्वपुर्गुणमयं मन्यमाना योगारूढत्व-
दशामपि प्राप्तास्तेऽपि ज्ञानिनो विमुक्तमानिनो विगीता एव
यदुक्तम्—“मुखबाहुरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह । चत्वारो जज्ञिरे
वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ य एवं पुरुषं साक्षादात्मप्रभव-
मीश्वरम् । न भजन्त्यबजानन्ति स्यानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥”
इति । अस्यार्थः—ये न भजन्ति, ये च भजन्तोऽप्यबजानन्ति
ते सन्न्यासिनोऽपि विनष्टाविद्या अप्यधःपतन्ति, तथा ह्युक्तम्
—“येऽप्येऽगविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्तवयस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य वृच्छाण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रयः”
इति । अत्र अङ्घ्रिपदं भक्त्यैव प्रयुक्तं विवक्षितम्, अनाहत-
युष्मदङ्घ्रय इति—तनोर्गुणमयत्वबुद्धिरेव तनोरनादरः, यदुक्तम्
—“अबजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्” इति, वस्तुतस्तु

मानुषी सा तनुः सच्चिदानन्दमप्येव; तस्या दृश्यत्वन्तु दुरतवर्ततदी-
यकृपाशक्तिप्रभावादेव यदुक्तं नारायणाध्यात्मवचनम्—“नित्या-
व्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः । तामृते परमानन्दं कः
पश्येत्तमिमं प्रभुम् ॥” इति । एवञ्च भगवत्तानोः सच्चिदानन्दमयत्वे
“क्लृप्तं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुह--तलासीनम्”
इति, “शाब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्” इत्यादि श्रुति--स्मृतिपरसहस्र-
वचनेषु प्रमाणेषु सत्त्वापि “मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु
महेश्वरम्” इति श्रुतिदृष्टयैव भगवानपि मायोपाधारितं मन्यन्ते
किन्तु स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायारूपया युतः—“अतो
मायामयं विष्णुं प्रबदन्ति सनातनम्” इति माध्वभाष्यप्रमाण-
तश्रुतेः । मायान्वित्यत्र माया-शब्देन स्वरूपभूता चिच्छक्ति-
रेवाभिधीयते न त्वस्वरूपभूता त्रिगुणमय्येव शक्तिरिति तस्याः
श्रुतेरर्थं न मन्यन्ते, यद्वा प्रकृतिं दुर्गां मायिनन्तु महेश्वरं
शम्भुं विद्यादित्यर्थमपि नैव मन्यन्ते । अतो भगवदपराधेन
जीवन्मुक्तत्वदशां प्राप्ता अपि तेऽधःपतन्ति, यदुक्तं बासना-
भाष्यधृतं परिशिष्टवचनम्—“जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसार-
वासनाम् । यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ॥” इति ।
ते च फलप्राप्तौ सत्यामर्थात् नास्ति साधनोपयोग इति मत्वा
ज्ञानसन्न्यासकाले ज्ञानं तत्र गुणीभूतां भक्तिमपि संत्यज्य
मिथ्यैवापरोक्षब्रह्मानुभवं त्वस्य मन्यन्ते । श्रीविग्रहापराधेन
भक्त्या अपि ज्ञानेन सार्द्धमन्तर्द्वानाद्भक्तिं ते पुनर्नैव लभन्ते
भक्त्या विना च तत्पदार्थाननुभावान्मृषा-समाधयो जीवन्मुक्त-
मानिन एव ते ज्ञेयाः, “यदुक्तम्—येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त-
मानिनः” इति । ये तु भक्तिमिश्रं ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवन्मूर्तिं
सच्चिदानन्दमयीमेव मन्यमानाः क्रमेणाविद्याविद्ययोरुपरमे
परां भक्तिं न लभन्ते, ते जीवन्मुक्ता द्विविधाः—एके सायु-

व्यर्थं भक्तिं कुर्वन्तस्तथैव ‘तत्’ पदार्थमपरोक्षीकृत्य तस्मिन्
सायुज्यं लभन्ते ते संगीता एव, अपरे भूरिभागा यादृच्छि-
कशान्तमहाभागवतसङ्गप्रभावेण त्यक्तमुमुक्षाः शुकादिवद्भक्ति-
रसमाधुर्यास्वाद एव निमज्जन्ति, ते तु परमसंगीता एव ।
यदुक्तम्—“आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्य-
हेतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥” इति । तदेवं चतुर्विधा
ज्ञानिनो द्वये विगीताः पतन्ति, द्वये संगीतास्तरन्ति संसार-
मिति ॥ ५५ ॥

गी०भू०—ततः किं तदाह-भक्त्येति । स्वरूपतो गुणतश्च
योऽहं विभूतितश्च यावानहमस्मि तं मां परया भक्त्या तत्त्व-
भिजानात्यनुभवति । ततो मत्परभक्तितो हेतोरुक्तलक्षणं मां
तत्त्वतो याथात्म्येन ज्ञात्वानुभूय तदनन्तरं तत एव हेतोर्मां विशते
मया सह युज्यते । ‘पुरं प्रविशति’ इत्यत्र पुरसंयोग एव प्रती-
यते न तु पुरात्मकत्वम् । अत्र तत्त्वतोऽभिज्ञाने प्रवेशे च भक्ति-
रेव हेतुरुक्तो बोध्यः—‘भक्त्या त्वनन्यया शक्यः’ इत्यादि पूर्वोक्तेः ।
तदनन्तरमिति मत्स्वरूपगुणविभूति-तत्त्विकानुभवादुत्तरस्मिन्
काले इत्यर्थः, यद्वा, परया भक्त्या मां तत्त्वतो ज्ञात्वा ततस्तां
भक्तिमादायैव मां विशते “त्यवलोपे कर्मणि पञ्चमी” । मोक्षे-
ऽपि भक्तिरस्तीत्याह सूत्रकृत—“आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्”
इति—“आप्रायणादामोक्षात्तत्रापि मोक्षे च भक्तिरनुवर्तते” इति
श्रुतौ दृष्टमिति सूत्रार्थः । भक्त्या विनष्टाविद्यानां भक्त्याः स्वादो
विवर्द्धते—सितया नष्टपित्तानां सितास्वादवदिति रहस्यविदः ।
इत्यञ्च सनिष्ठानां साधनसाध्यपद्धतिरुक्ता ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्भक्तपाश्र्वयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

सारा०ब०—तदेवं ज्ञानी यथाक्रमेणैव कर्मफलसन्न्यास-
कर्मसन्न्यास-ज्ञानसन्न्यासैर्मत्-सायुज्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् । मद्भक्त-
स्तु मां यथा प्राप्नोति तदपि शृण्वत्याह-सर्व्वेति । मद्भक्त्या-
श्रयो मां विशेषतोऽपकर्षेण सकामतयापि य आश्रयते सोऽपि
किं पुनर्निष्कामभक्त इत्यर्थः । सर्व्वकर्माण्यापि नित्यनैमित्तिक-
काम्यानि पुत्रकलत्रादि-पोषणलक्षणानि व्यवहारिकाण्यापि
सर्व्वार्णि कुर्व्वानः किं पुनस्त्यक्तकर्मयोगज्ञानदेवतान्तरोपासना-
न्यकामान्यभक्त इत्यर्थः । अत्राश्रयते सम्यग् सेवते इति आहु-
पसर्गेन सेवायाः प्रधानीभूतत्वम् । कर्माण्यपीत्यपि-शब्देनाप-
कर्षबोधकेन कर्मणां गुणीभूतत्वम् । अतोऽयं कर्ममिश्रभक्ति-
मान्, न तु भक्तिमिश्रकर्मवानिति प्रथमषट्कोक्ते कर्माणि
नातिव्याप्तिः । शाश्वतं महत्पदं मद्धाम वैकुण्ठमथुराद्वारकायोध्या-
दिकमवाप्नोति । ननु महाप्रलये तत्तद्धाम कथं स्थास्यति ?
तत्राह-अव्ययं महाप्रलये मद्धाम्नः किमपि न व्ययति, मदतर्क्य-
प्रभावादिति भावः । ननु ज्ञानी खल्वनेकैर्जन्मभिरनेकतपश्चादि-
क्लेशैः सर्व्वविषयेन्द्रियोपरामेणैव नैष्कर्म्यं सत्येव यत् सायुज्यं
प्राप्नोति, तस्य ते नित्यं धाम सकर्मकत्वे सकामकत्वेऽपि
त्वदाश्रयणमात्रेणैव कथं प्राप्नोति ? तत्राह-मत्प्रसादादिति-
मत्प्रसादस्यातर्क्यमेव प्रभावत्वं जानीहीति भावः ॥ ५६ ॥

गी०भू०—अथ परिनिष्ठितानामाह-सर्व्वेति सार्द्धद्वया-
भ्याम् । मद्भक्त्याश्रयो मदेकान्तो सर्व्वार्णि स्वविहितानि कर्माणि
यथायोगं कुर्व्वानः, अपि शब्दाद्गौणकाले-मदेकान्तितन्यस्य
मुख्यकालाभावात् । एवमाह सूत्रकारः—“सर्व्वथापि तत्र बोधय-
लिङ्गात्” इति । ईदृशः स मत्प्रसादान्मदत्यनुग्रहात् शाश्वतं नित्य-
मव्ययमपरिणामिज्ञानानन्दात्मकं पदं परमव्योमाख्यमवाप्नोति
लभते ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्व्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सारा०ब०—ननु तर्हि मां प्रति त्वं निश्चयेन किमाज्ञापयसि ?
—किमहमनन्यभक्तो भवानि, किंवानन्तरोक्तलक्षणः सकाम-
भक्त एव ? तत्र सर्व्वप्रकृष्टोऽनन्यभक्तो भवितुं त्वं न प्रभ-
विष्यसि, नापि सर्व्वभक्तेष्वपकृष्टः सकामभक्तो भव किन्तु
त्वं मध्यमभक्तो भवेत्याह-चेतसेति । सर्व्वकर्माणि स्वाश्रम-
धर्मान् व्यवहारिककर्माणि च मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परो-
ऽहमेव परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य स निष्काम इत्यर्थः ;
यदुक्तं पूर्व्वमेव—“यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि
यत् । यत्तापस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥” इति ।
बुद्धियोगं व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगम्, सततं मच्चित्तः
कर्मानुष्ठानकालेऽन्यदापि मां स्मरन् भव ॥ ५७ ॥

गी०भू०—तादृशत्वादेव त्वं सर्व्वार्णि स्वविहितानि कर्माणि
कर्त्ता त्वाभिमानादिशून्येन चेतसा स्वामिनि मयि संन्यस्यार्पयित्वा
मत्परो मदेकपुरुषार्थो मामेव बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं कर्मा-
नुष्ठानकाले मच्चित्तो भव । एतच्च त्वां प्रति प्रागप्युक्तं “यत् करोषि”
इत्यादिना-अर्पयित्वैव कर्माणि कुरु, न तु कृत्वार्पयेति ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्व्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

सारा०ब०—ततः किमत आह-मच्चित्त इति ॥ ५८ ॥

गी०भू०—एवं मच्चित्तास्त्वं मत्प्रसादादेव सर्व्वार्णि दुर्गाणि
दुस्तराणि संसारदुःखानि तरिष्यसि, तत्र ते न चिन्ता । तान्यहं
भक्तबन्धुरपनेष्यामि दास्यामि चात्मानमिति परिनिष्ठितानां

साधनसाध्यपद्धतिरुक्ता । अथ चेदहङ्कारात् कृत्याकृत्यविषयक-
ज्ञानाभिमानात्त्वं मदुक्तं न श्रोष्यसि, नहिं विनङ्गदयसि-स्वार्थात्
विभ्रष्टो भविष्यसि । न हि कश्चित् प्राणिनां कृत्याकृत्ययोर्विज्ञाता
ऽशास्ता वा मत्तोऽन्यो वर्त्तते ॥५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

सारा०ब०—ननु क्षत्रियस्य मम युद्धमेव परो धर्मस्तत्र
बन्धुबधपापाद्धीत एव प्रवर्तितुं नेच्छामीति तत्र सतर्ज्जनमाह
—यदहमिति । प्रकृतिः स्वभावः । अधुना त्वं मदुचनं न
मानयसि, यदा तु महावीरस्य तव स्वाभाविको युद्धोत्साहो
दुर्वार एवोद्भवति, तदा युध्यमानः स्वयमेव भीष्मादीन्
गुरून् हनिष्यन् मया हसिष्यस इति भावः ॥ ५९ ॥

गी०भू०—यद्यपि क्षत्रियस्य युद्धमेव धर्मस्तथापि गुरु-
विप्रादिबधहेतुकात् पापाद्धीतस्य मे न तत्र प्रवृत्तिरिति कृत्या-
कृत्यविज्ञातृत्वाभिमानमहङ्कारमाश्रित्य 'नाहं योऽस्ये' इति यदि
त्वं मन्यसे, तर्हि तवैष व्यवसायो निश्चयो मिथ्या निष्फलो
भावी-प्रकृतिर्मन्माया रजोगुणात्मना परिणता मद्वाक्याबहेति न
त्वां गुर्वादिवधे निमित्ते युद्धे नियोक्ष्यति प्रवर्त्तयिष्यत्येव ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कतुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

सारा०ब०—उक्तमेवार्थं निबृणोति--स्वभावः क्षत्रियत्वे
हेतुः, पूर्वसङ्कारस्तस्माज्जातेन स्वीयेन कर्मणा शौर्यादिना
निबद्धो यन्त्रितः ॥ ६० ॥

गी०भू०—उक्तमुपपादयति-स्वभावेति - यदि त्वं मोहाद-

ज्ञानान्मदुक्तमपि युद्धं कर्तुं नेच्छसि, तदा स्वभावजेन स्वेन
कर्मणा शौर्येण मन्मयोद्भासितेन निबद्धोऽवशस्तत् करि-
ष्यसि ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

सारा०ब०—श्लोकद्वयेन स्वभाववादिनां मतमुक्त्वा स्वमत-
माह-ईश्वरो नारायणः सर्वान्तर्गामी--“यः पृथिव्यां तिष्ठन्
पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं,
यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति ।” “यच्च किञ्चित् जगत् सर्वं
दृश्यते श्रयतेऽपि वा । अन्तर्वहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः
स्थितः ॥” इत्यादि-श्रुतिप्रतिपादित ईश्वरोऽन्तर्गामी हृदि
तिष्ठति, किं कुर्वन् ? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या
भ्रामयन् तत्तत् कर्माणि प्रवर्त्तयन्, यथा सूत्रसञ्चारादि-
यन्त्रमारूढानि कृत्रिमाण पाञ्चालिकारूपाणि सर्वभूतानि माया
विभ्रमयति तद्वदित्यर्थः, यद्वा यन्त्रारूढाणि शरीरारूढानि
सर्वजीवानित्यर्थः ॥ ६१ ॥

गी०भू०—विज्ञातृत्वाभिमानमिबालद्यार्जुनमत्याज्यत्वादि-
धान्तरेणोपदिशति-ईश्वर इति द्वाभ्याम् । हे अर्जुन ! त्वं चेत्
त्वं विज्ञं मन्यसे तर्ह्यन्तर्गामीब्रह्मणात्त्वया ज्ञातो य ईश्वरः
सर्वभूतानां ब्रह्मादस्थावरान्तानां हृद्देशे तिष्ठति मायया स्व-
शक्त्या तानि भ्रामयन् सन् । सर्वभूतानि विशिनष्टि-यन्त्रेति-
यत् कर्मानुगुणं माया-निर्मितं देहेन्द्रियप्राणलक्षणं यन्त्रं तदा-
रूढानि । रूपकेणोपमात्र व्यज्यते-यथा सूत्रधारो दारुयन्त्रा-
रूढानि कृत्रिमाण भूतानि भ्रामयन्ति, तद्वत् ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

सारा०ब०—एतज्ज्ञापनप्रयोजनमाह—तमेवेति । परामविद्या विद्ययोर्निवृत्तिम्, ततश्च शाश्वतं स्थानं वैकुण्ठम् । इयमन्तर्ग्यामिशरणापत्तिरन्तर्ग्याभ्युपासकानामेव, भगवदुपासकानान्तु भगवच्छरणापत्तिरग्रे वक्ष्यत एवेति केचिदाहुः । अन्यस्तु यो यदिष्टदेवः श्रीकृष्णः स एव मदगुरुर्मा भक्तियोगं तदनुकूलं हितञ्चोपदेशमुपदिशति च, तमहं शरणं प्रपद्ये तथा कृष्ण एव मदन्तर्ग्यामी, सोऽपि मां तत्र तत्र प्रवर्त्तयितुं तज्ज्ञाहं शरणं प्रपद्ये इत्यनिशं भावयति । यदुक्तमुद्धवेन—“नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश, ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्वाहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्य्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥” इति ॥ ६२ ॥

गी०भू०—तर्हि तमेवेश्वरं सर्वभावेन कायादिब्यापारेण शरणं गच्छ, ततः किमिति चेत्तत्राह—तदिति । परां शान्तिं निखिलकलेशविश्लेषलक्षणाम्, शाश्वतं नित्यं स्थानं च—“तद्विष्णोः परमं पदम्” इत्यादि श्रुतिगीतं तद्धाम प्राप्स्यसि । स चेश्वरोऽहमेव त्वत्सखः “सर्वस्य चाहं हृदि सान्नाबिष्टः” इत्यादि मत्पूर्वोक्तेर्देवर्ष्यादिसम्प्रतिप्राहिणा त्वयापि ‘परं ब्रह्म परं धाम’ इत्यादिना स्वीकृतत्वाच्च, विश्वरूपदर्शने प्रत्यक्षितत्वाच्च । तस्मान्मदुपदेशो तिष्ठेति ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतर मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

सारा०ब०—सर्वगीतार्थमुपसंहरति—इतीति । कर्मयोगस्या-

श्राद्धयोगस्य ज्ञानयोगस्य च ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञानशास्त्रं गुह्याद्गुह्यतरमित्यतिरहस्यत्वात् कैरपि बशिष्ठ-बादरायण-नारदाद्यैरपि स्व-स्व-कृत-शास्त्रेणाप्रकाशितम् ; यद्वा तेषां सार्वज्ञ्यमापेक्षिकं मम त्वात्यन्तिकमित्यतस्ते त्वेदतिगुह्यत्वान्न जानन्ति, मयाप्यतिगुह्यत्वादेव ते सर्वथैव नैतदुपदिष्टा इति भावः । एतदशेषेण निःशेषत एव विमृश्य यथा येन प्रकारेण स्वाभिरुचितस्तत् कर्त्तुमिच्छसि, तथा तत् कुर्वित्यन्त्यं ज्ञानषट्कं सम्पूर्णम् । षट्कत्रिकमिदं सर्वविद्याशिरोरत्नं श्रीगीताशास्त्रं महानर्घरहस्यतम-भक्तिसम्पुटं भवति—प्रथमं ‘कर्म’ षट्कं यस्याधारपिधानं कानकं भवति, अन्त्यं ‘ज्ञान’-षट्कं यस्योत्तारपिधानं मणिजटितं कानकं भवति, तयोर्मध्यवर्त्ति-षट्कगता भक्तिस्त्रीजगदनर्घ्या श्रीकृष्णवशीकारिणी महामणिमर्ताल्लिका विराजते, यस्याः परिचारिका तदुत्तरपिधानार्द्धगता ‘मन्मता भव’ इत्यादि पञ्चद्वयी चतुःषष्ट्यक्षरा शुद्धा भवतीति बुध्यते ॥ ६३ ॥

गी०भू०—शास्त्रमुपसंहरन्नाह—इतीति — इति पूर्वोक्तप्रकारकं ज्ञानं गीताशास्त्रम्—“ज्ञायन्ते कर्मभक्तज्ञानान्यनेन” इति निरुक्तेः, तन्मया ते तुभ्यमाख्यातं संप्रोक्तम् । गुह्याद्गुह्यतरमन्त्रादिशास्त्राद्गुह्यतरमिति गोप्यम् । एतच्छास्त्रशेषेण सामान्येन विमृश्य पश्चाद्यथेच्छसि, तथा कुरु । एतस्मिन् पर्यालोचिते तव मोहविनाशो मद्वर्त्तसि स्थितिश्च भविष्यतीति ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सारा०ब०—ततश्चातिगम्भीरार्थं गीताशास्त्रं पर्यालोचयितुं प्रवर्त्तमानं तृष्णीम्भूयैव स्थितं स्व-प्रियसखम्भुजुनमालक्ष्य कृपाद्रवाञ्चित नवनीतो भगवान्-भोः प्रियवयस्य अञ्जुन !

सर्वशास्त्रसारमहमेव श्लोकाष्टकेन ब्रवीमि, अलं ते तत्तत्-
पर्यालोचनकृतेनेत्याह-सर्वेति । भूय इति राजबिद्या राज-
गुह्याध्यायान्ते पूर्वमुक्तम् । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां
नतस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥” इति
यत्तदेव बचः परमं सर्वशास्त्रार्थ-सारस्य गीताशास्त्रस्यापि सारं
गुह्यतममिति-नातः परं किञ्चन गुह्यमस्ति क्वचित् कुतश्चित्
कथमप्यखण्डमिति भावः । पुनः कथने हेतुमाह-इष्टोऽसि
दृढमतिशयेन एव प्रियो मे सखा भवसीति । तत एव हेतोर्हितं
त इति सखायं विनातिरहस्यं न कमपि कश्चिदपि ब्रूत इति
भावः । दृढमतिरिति च पाठः ॥ ६४ ॥

गी०भू०—अथ निरपेक्षाणां साधनसाध्यपद्धतिमुपदेक्ष्यन्नादौ
तां स्तौति-सर्वेति - सर्वेषु गुह्येषु मध्येऽतिशयितं गुह्यमिति
सर्वगुह्यतमम् । भूय इति-राजबिद्याध्याये ‘मन्मना भव’ इत्या-
दिना पूर्वमपि समातिप्रियत्वादान्ते पुनरुच्यमानं शृणु परमं
सर्वसारस्यापि गीताशास्त्रस्य सारभूतम् । पुनःकथनेन हेतुः-
इष्टोऽसीति त्वं ममैष्टः प्रियतमोऽसि । मद्वाक्यं दृढनिश्चित-प्रमा-
णोपेतमिति निश्चिनोष्यतस्ते हितं वक्ष्यामि-तयाप्येतदेवानुष्ठेय-
मिति भावः ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

सारा०ब०—मन्मना भव इति मद्भक्तः सन्नेव मां चिन्तय,
न तु ज्ञानी योगी वा भूत्वा मद्भक्त्या नं कुर्वित्यर्थः, यद्वा
मन्मना भव मद्यं श्यामसुन्दराय सुस्निग्धाकुञ्चितकुन्तलकाय
सुन्दरभ्रबालि-मधुरकृपाकटाक्षामृतवर्षिबदनचन्द्राय स्वीयं देयत्वेन
मनो यस्य तथाभूतो भव, अथवा श्रोत्रादीन्द्रियाणां देहीत्याह

--मद्भक्तो भव श्रवणकीर्त्तन-मन्मूर्तिदर्शन-मन्मन्दिरमार्जन-
लेपन-पुष्पाहरण-मन्मालालङ्कारच्छत्रचामरादिभिः सर्वेन्द्रिय-
करणकं मद्भजनं कुरु, अथवा मद्यं गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादीनि
देहीत्याह-मद्याजी भव मत्पूजनं कुरु, अथवा मद्यं नमस्कार-
मात्रं देहीत्याह-मां नमस्कुरु भूमौ निपत्याष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा
प्रणामं कुरु । एषां चतुर्णां मच्चिन्तनसेवनपूजनप्रणामानां
समुच्चयमेकतरं वा त्वं कुरु । मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि, मनःप्रदानं
श्रोत्रादीन्द्रियप्रदानं गन्धपुष्पादिप्रदानं वा त्वं कुरु । तुभ्यमह-
मात्मानमेव दास्यामीति सत्यं—ते तवैव, नात्र संशयिष्ठा
इति भावः,—“सत्यं शपथतथ्ययोः” इत्यमरः । ननु माथुर-
देशोद्भूता लोकाः प्रतिवाक्यमेव शपथं कुर्वन्ति सत्यम्, तां
प्रतिजाने प्रतिज्ञां कृत्वा ब्रवीमि—त्वं मे प्रियोऽसि, न हि
प्रियं कोऽपि ब्रूयतीति भावः ॥ ६५ ॥

गी०भू०—एतद्वचः प्राह-मन्मना भवेति । व्याख्यातं प्राक्
मन्मनस्त्वादिविशिष्टो मामेव नीलोत्पलश्यामलत्वादिगुणकं त्वद-
तिप्रियं देवकीनन्दनं कृष्णमेव मनुष्यसंनिवेशिनमेष्यसि, न तु
मम रूपान्तरं सहस्रशीर्षत्वादिलक्षणमङ्गुष्ठमात्रमन्तर्यामिणं वा
नृसिंहवराहादिलक्षणं वेत्यर्थः । तुभ्यमहमात्मानमेव त्वत्सखं
दास्यामीति ते तव सत्यं शपथः—“सत्यं शपथतथ्ययोः” इति
नानार्थवर्गः । अत्र न संशयिष्ठा इति भावः । ननु माथुरत्वात्तव
शपथकरणादपि मे न संशयविनाशस्तत्राह-प्रतिजाने प्रतिज्ञां
कृत्वाहमब्रुवम् ; यत्त्वं मे प्रियोऽसि स्निग्धमनसा हि माथुराः
प्रियं न प्रतारयन्ति, किं पुनः प्रेष्टमिति भावः । यस्य मद्यति-
प्रीतिस्तस्मिन् ममापि तथा । तद्वियोगं सोढुमहं न शक्नोमीति
पूर्वमेव मयोक्तं—प्रियो हि इत्यादिना ; तस्मान्मद्वाचि विध-
सिहि मामेव प्राप्स्यसि ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सारा०ब०—ननु त्वद्ध्यानादिकं यत् करोमि तत् किं स्वा-
श्रमधर्मानुष्ठानपूर्वकं वा केवलं वा ? तत्राह—सर्वधर्मान्
वर्णाश्रमधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य एकं मामेव शरणं
ब्रज, परित्यज्य संन्यस्येति न व्याख्येयमज्जुनस्य क्षत्रियत्वेन
संन्यासानधिकारान्न चाज्जुनं लक्ष्यीकृत्यान्यजनसमुदायमेवो-
पदिदेश भगवानिति वाच्यम् । लक्ष्यभूतमज्जुनं प्रत्युपदेशं
योजयितुमौचित्ये सत्येवान्यस्याप्युपदेष्टव्यत्वं सम्भवेन्न त्वन्यथा,
न च परित्यज्येत्यस्य फलत्याग एव तात्पर्यमिति व्याख्येय-
मस्य वाक्यस्य “देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी
च राजन् । सर्व्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परि-
हृत्य कर्त्तुम ॥” “मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म निवेदितात्मा
बिचिक्रीर्षितो मे । तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च
कल्पते वै ॥” “तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥” आज्ञायैवं
गुणान् दोषान् मथादिष्ठानपि स्वकान् । धर्मान् संत्यज्य यः
सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥” इत्यादिभिर्भगवद्वाक्यैः
सहैकार्थस्यावश्यव्याख्येयत्वात् । अत्र च परि-शब्द-प्रयोगाच्च ।
अत एकं मां शरणं ब्रज न तु धर्मज्ञनयोग-देवतान्तरादिक-
मित्यर्थः । पूर्वं हि मदनन्यभक्तौ सर्वेष्टेष्टायां तवाधिकारो
नास्तीत्यतस्त्वं ‘यत् करोषि यदश्नासि’ इत्यादि-ब्रुवाणेन मया
कर्ममिश्रायां भक्तौ तवाधिकार उक्तः । सम्प्रति त्वतिकृपया
तुभ्यमनन्यभक्तावेवाधिकारस्तस्या अनन्यभक्तेर्यादृच्छिकमदै-
कान्तिक-भक्तकृपैकलभ्यत्वलक्षणं नियमं स्वकृतमपि भीष्मयुद्धे
स्वप्रतिज्ञामिवापनीय दत्ता इति भावः । न च मदाज्ञया नित्य-

नैमित्तिककर्मत्यागे तव प्रत्यवाय-शङ्का सम्भवेत् । वेदरूपेण
मयैव नित्यकर्मनुष्ठानमादिष्टमधुना तु स्वरूपेणैव तत्त्याग
आदिश्यत इत्यतः कथं ते नित्यकर्मकरणे पापानि सम्भवन्तु ?
प्रत्युतातः परं नित्यकर्मणि कृत एव पापानि भाविष्यन्ति साक्षा-
न्मदाज्ञालङ्घनादित्यवधेयम् । ननु यो हि यच्छरणो भवति, स
हि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः, स तं यत् कारयति, तदेव
करोति, यत्र स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति, यद्भोजयति तदेव भुङ्क्ते
इति शरणापत्तिलक्षणास्य धर्मस्य तत्त्वम्, यदुक्तं बायुपुराणे—
“आनुकूल्यस्य मङ्गलं प्रतिकूल्यस्य बर्जितम् । रक्षिष्यतीति
विश्वासो भर्त्तृत्वे (“गोप्तृत्वे” इति पाठो वा) वरणं तथा ।
निःक्षेपणमकार्पणं षड्विधा शरणागतिः ॥” इति । भक्तिशास्त्र-
विहिता स्वाभीष्टदेवाय रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यं, तद्विपरीतं
प्रातिकूल्यम्, ‘भर्त्तृत्वे’ (गोप्तृत्वे) इति स एव मम रक्षको नान्य
इति यत्, रक्षिष्यतीति स्वरक्षणप्रातिकूल्यवस्तुपूषस्थितेष्वपि स
मां रक्षिष्यत्येवेति द्रौपदीगजेन्द्रादीनामिव विश्वासः, निःक्षेपणं
स्वीयस्थूलसूक्ष्मदेहसहितस्य एव स्वस्य श्रीकृष्णार्थ एव विनियोगः,
अकार्पणं नान्यत्र कापि स्वदैवज्ञापनमिति पण्णां वस्तूनां
विधात्र्यनुष्ठानं यस्यां सा शरणागतिरिति । तदद्यारभ्य यद्यहं त्वां
शरणं गत एव बर्त्तुं, तर्हि त्वदुक्तं भद्रमभद्रं वा यद्भवेत्तदेव मम
कर्त्तव्यम् । तत्र यदि त्वं मां धर्ममेव कारयसि, तदा न काचि-
चिन्ता । यदि त्वीश्वरत्वात् स्वैराचारस्त्वं मामधर्ममेव कारयसि,
तदा का गतिस्तत्राह—अहमिति । प्राचीनाव्वाचीनानि यावन्ति
वर्त्तन्ते, यावन्ति बाहं कारयिष्यामि, तेभ्यः सर्वेभ्य एव पापे-
भ्यो मोक्षयिष्यामि—नाहमन्यशरण्य इव तत्रासमर्थ इति भावः ।
त्वामालम्ब्यैव शास्त्रमिदं लोकमात्रमेवोपदिष्टवानस्मि । मा शुचः—
स्वार्थं परार्थं वा शोकं मा कार्षीः—युष्मदादिकः सर्व एव लोकः

स्वपरधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य मच्चिन्तनादिपरो मां शरण-
मापद्य सुखेनैव वर्त्तातां, तस्य पापमोचनभारः संसारमोचनभारो
मत्प्रापणभारो मया प्रतिज्ञायैवाङ्गीकृतः । किं बहुना, देहव्यव-
हारभारोऽपि मयाङ्गीकृत एव, यदुक्तम्--“अनन्याश्चिन्तयन्तो
मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं
ब्रह्महम् ॥” इति । हन्त ! एतावान् भारो मया स्वप्रभौ
निक्षिप्त इत्यपि शोकं मा कार्षीर्भक्तवत्सलस्य सत्यसङ्कल्पस्य मम
न तत्रायासलेशोऽपीति नातः परमधिकमुपदेष्टव्यमस्तीति शास्त्रं
समाप्नोक्तम् ॥६६॥

गी०भू०--ननु यजनप्रणत्यादिस्तव शुद्धा भक्तिः प्राक्तनकर्म-
रूपान्तपापमलिनहृदा पुंसा कथं शक्या कर्त्तुं यावत् त्वद्भक्ति-
विरोधीनि तान्यनन्तानि पापानि कृच्छ्रादिप्रायश्चित्तैः सबिहितैश्च
धर्मैर्न विनश्येयुरिति चेत्तत्राह--सर्व्वेति । प्राक्तनपापप्रायश्चित्त-
भूतान् कृच्छ्रादीन् सबिहितांश्च सर्व्वान् धर्मान् परित्यज्य स्व-
रूपतत्त्वात् मां--सर्व्वेश्वरं कृष्णं नृसिंहदाशरथादिरूपेण बहु-
धाविभूतं विशुद्धभक्तिगोचरं सन्तमविद्यापर्यन्तसर्व्वकामविना-
शकमेकं, न तु मत्तोऽन्यं शितिकण्ठादि, शरणं ब्रज प्रपद्यस्व ।
शरण्यः सर्व्वेश्वरोऽहं सर्व्वपापेभ्यस्तेभ्यः प्राक्तनकर्मभ्यस्त्वां
शरणागतं मोक्षयिष्यामीति मिथःकर्त्तव्यता दर्शिता । त्वं मा
शुचः--अचिरायुषा मया हृद्विशुद्धिमिच्छतातिचिरसाध्या दुष्क-
राश्च ते कृच्छ्रादयः कथमनुष्ठेया इति शोकं मा कार्षीरित्यर्थः ।
अत्र मत्प्रपत्त्यैव निखिलो दोषविनाशात्तदर्थं कृच्छ्रादिप्रयासो
मत्प्रपत्तुर्न भवेदित्युक्तम् । श्रुतिश्चैवमाह--“न कर्मणा न प्रजया
धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः” इति । श्रद्धा-भक्तिध्यानयोगाद-
वैतीति चैवमाद्या । सनिष्ठानां हृद्विशुद्धये परिनिष्ठितानां च लोक-
संप्रदाययथायथं कार्य्यास्ते धर्मः--“तमेतम्” इत्यादिभ्यः--“सत्येन

लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा” इत्यादिभ्यश्च भ्रूतिभ्यः । न च बिहि-
तत्यागे प्रत्यवायलक्षणं पापं स्यादिति शोकं मा कुर्व्विति व्याख्ये-
यम् । वेदनिदेशेनाग्निहोत्रादित्यागे यत्तेरिव परेशनिदेशेन तत्त्यागे
तत्प्रपत्तुस्तदयोगात् ; प्रत्युत तन्निदेशातिक्रमे दोषापत्तिः स्यात् ।
न च स्वरूपतो बिहितत्यागे प्रत्यवायापत्तेः ; सर्व्वणि धर्म-
फलानीति व्याख्येयम् ; फलत्यागे तदनापत्तेः । तस्मात् प्रपन्नस्य
स्वरूपतो धर्मत्यागः ; न च ‘न हि कश्चित्’ इत्यादिन्यायेन स्व-
धर्मानुष्ठानापत्तिस्तद्यजनादीनरतस्य तेन न्यायेन तदनापत्तेः ।
तथा च सन्निष्ठस्यात्मानुभवान्तःपरिनिष्ठितस्य च परात्मानुभवान्तो
यथा धर्माचारस्तथा प्रपत्तुः प्रपत्तिः शुद्धान्तः स इति एवमेवो-
क्तमेकादशोऽपि--“तावत् कर्म्मणि कुर्व्वीत न निर्व्विद्येत
यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥” “ज्ञान-
निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो बानपेक्षकः । स लिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा
चरेदविधिगोचरः ॥” इति । एषा ‘शरणागति’-शब्दिता प्रपत्तिः
षडङ्गिका--“आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । रक्षि-
ष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्ये
षड्विधा शरणागतिः ॥” इति बायुपुराणात् । भक्तिशास्त्रविहिता
हरये रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यम् ; तद्विपरीतन्तु प्रातिकूल्यम् ;
आत्मनिक्षेपः शरण्ये तस्मिन् स्वभरण्यासः ; कार्पण्यमनुधर्षः ;
निक्षेपणमकार्पण्यमिति कश्चित् पाठः--तत्र कार्पण्यं ततोऽन्यस्मिन्
स्वदैव्यप्रकाशः । स्फुटमन्यत् ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

सारा०व०--एवं गीताशास्त्रमुपदिश्य सम्प्रदायप्रवर्त्तने निय-
ममाह--इदमिति । अतपस्कायासंयतेन्द्रियाय--“मनसश्चेन्द्रि-

याणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मृतेः । संयतेन्द्रियत्वे सत्यप्यभक्ताय न बाध्यम्, संयतेन्द्रियत्वेऽपि भक्तत्वेऽपि च सात अशुश्रूषवे न बाध्यम्, संयतेन्द्रियत्वादधर्मत्रयवत्त्वेऽपि यो मामभ्यसूयति, मयि निरुपाधिपूर्णब्रह्मणि माया-सावर्ण्यदोषमारोपयति, तस्मै सर्वथैव न बाध्यम् ॥६७॥

गी०भू०—अथ स्वोपदिष्टं गीताशास्त्रं पात्रेभ्य एव न त्वपात्रेभ्यो देयमिति उपदिशति-इदमिति । इदं शास्त्रं ते त्वया-तपस्काय अजितेन्द्रियाय न बाध्यम्; तपस्विनेऽप्यभक्ताय शास्त्रोपदेष्टरि त्वयि शास्त्रप्रतिपाद्ये मयि च सर्वेशभक्तिशून्याय न बाध्यम्; तपस्विनेऽपि भक्तायाप्यशुश्रूषवे श्रोतुमनिच्छवे न बाध्यम् । यो मां सर्वेश्वरं नित्यगुणविग्रहमसूयति मयि मायिकगुणविग्रहतामारोपयति, तस्मै तु नैव बाध्यमित्यतो भिन्नया विभक्त्या तस्य निर्देशः । एवमाह सूत्रकारः — "अनाबिषकुर्वन्न-न्वयात्"—इति ॥६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्याति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

सारा०ब०—एतदुपदेष्टुः फलमाह—य इति द्वाभ्याम् । परां भक्तिं कृत्वेति प्रथमं परमभक्तिप्राप्तिः, ततो मत्प्राप्तिः, एतदुपदेष्टु-र्भवति ॥६८॥

गी०भू०—शास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति । एतदुपदेष्टुरादौ मत्परभक्ति-लाभस्ततो मत्पदलाभो भवति ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

सारा०ब०—तस्मादुपदेष्टुः सकाशात् अन्योऽतिप्रियङ्करः अतिप्रियश्च नास्ति ॥६९॥

गी०भू०—न चेति — तस्माद्गीतोपदेष्टुः सकाशादन्यो मनु-ष्येषु मध्ये मम प्रियकृत्तमः परितोषकर्ता पूर्व नाभून्न च भवि-ष्यति—मम तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि नाभून्न च भविष्यति ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

सारा०ब०—एतदध्ययनफलमाह—अध्येष्यत इति ॥७०॥

गी०भू०—अथ शास्त्राध्येतुः फलमाह—अध्येष्यते चेति । अत्र यो ज्ञानयज्ञो वर्णितस्तेनाहमेतत्पाठमात्रणैवेष्टोऽभ्यर्चितः स्यामिति मे मतिस्तस्याहं सुलभ इत्यर्थः ॥७०॥

श्रद्धवाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

सारा०ब०—एतच्छ्रवणफलमाह—श्रद्धावानिति ॥७१॥

गी०भू०—श्रोतुः फलमाह—श्रद्धेति । यः केवलं श्रद्धया शृणोति, अनसूयः किमर्थं उच्चैरशुद्धं वा पठतीति दोषदृष्टिम-कुर्वन् सोऽपि निखिलैः पापैर्मुक्तः पुण्यकर्मणामश्वमेधादिया-जिनां लोकान् प्राप्नुयात्; यद्वा पुण्यकर्मणां भक्तिमतां लोकान् श्रुतलोकादीन् वैकुण्ठभेदानित्यर्थः ॥७१॥

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

सारा०ब०—सम्यग्बोधानुपपत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—कश्चिदिति ॥७२॥

गी०भू०—एवं शास्त्रं तद्वाचनादिमाहात्म्यञ्चोक्तम् । अथ शास्त्रार्थाविधानतदनुभवो पृच्छति—कश्चिदिति प्रश्नार्थेऽव्ययम् । सम्यगनुभवानुदये पुनरप्येतदुपदेक्ष्यामीति भावः ॥७२॥

अर्जुन उवाच -

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

सारा०ब०—किमतःपरं पृच्छाम्यहन्तु सर्वधर्मान् परित्यज्य
त्वां शरणं गतो निश्चिन्त एव त्वयि विश्रम्भवानस्मीत्याह—नष्ट
इति । करिष्ये इत्यतःपरं शरण्यस्य तवाज्ञायां स्थितिरेव शरणा-
पन्नस्य मम धर्मो, न तु स्वाश्रमधर्मो, नापि ज्ञानयोगा-
दयः, ते त्वद्यारभ्य त्यक्ता एव, ततश्च भोः प्रियसख अर्जुन !
मम भूभारहरणे किञ्चिदर्वाशष्टं कृत्यमस्ति, तत्तु त्वद्द्वारैव
चिकीर्षामीति भगवतांक्ते सति गाण्डीवपाणिरर्जुनो योद्धुमुद-
तिष्ठदिति ॥७३॥

गी०भू०—एवं पृष्टः पार्थः शास्त्रानुभवं फलद्वारेणाह—
नष्ट इति । मोहो विपरीतज्ञानलक्षणः मम नष्टत्वत्प्रसादादेव
स्मृतिश्च यथावस्थितवस्तुनिष्ठया मया लब्धा ; अहं गतसन्देह-
श्छिन्नसंशयः स्थितोऽधुनाऽस्मि ; तव वचनं करिष्ये । एतदुक्तं
भवति—देवमानवादयो निखिलाः प्राणिनः सर्वे स्वस्वकर्मसु
स्वतन्त्रा देहाभिमानिनो मानवैरर्चिता देवास्तेभ्योऽभीष्टप्रदाः ।
यस्त्वीश्वरः कोऽप्यस्ति, स हि निर्गुणो निराकृतरुदासीनस्तत्सं-
निधानात् प्रकृतिर्जगद्धेतुरित्येवं विपरीतज्ञानलक्षणो यो मोहः
पूर्वं ममाभूत्, स त्वदुपलब्धादुपदेशाद्भिन्नः । पराख्यस्वरूप-
शक्तिमान् विज्ञानानन्दमूर्तिः सार्वज्ञ्यसार्वेश्वर्य-सत्यसंकल्पा-
दिगुणरत्नाकरो भक्तसुहृत् सर्वेश्वरः प्रकृति-जीवकालाख्य-
शक्तिभिः संकल्पमात्रेण जीवकर्मणुगुणो विचित्रसर्गकृत् स्व-
भक्तेभ्यः स्वपर्यन्तसर्वप्रदोऽकिञ्चनभक्तवित्तः । स च त्वमेव
मत्सखो वसुदेवसूनुरिति तार्त्त्विकं ज्ञानं ममाभूत् ; अतःपरं

त्वामहं प्रपन्नः स्थितोऽस्मि ; त्वं मां कदाचिदपि न त्यक्ष्यसीति
सन्देहश्च मे छिन्नः । अथ भूभारहरणं स्वप्रयोजनं चेत् प्रपन्नेन
मया चिकीर्षितं तर्हि तद्वचनं तव करिष्यामीत्यर्जुनो धनुःपाणि-
रुदतिष्ठदिति ॥७३॥

संजय उवाच-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

गी०भू०—समाप्तः शास्त्रार्थः । अथ कथासम्बन्धमनुसन्द-
धानः सञ्जयो धृतराष्ट्रमुवाच—इत्यहमिति । अद्भुतं चेतसो
विस्मयकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात्, रोमहर्षणं देहे पुलकजन-
कम् ॥७४॥

सारा०ब०—अतःपरं पञ्चश्लोकव्याख्या सर्वगीतार्थतात्पर्य-
निष्कर्षेऽन्तिमश्लोकाः यत्र वर्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाह-
नेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्नालिखम् । तां तन्मात्रवादाम् । स
प्रसीदतु, तस्मै नमः । इति श्रीमद्भगवद्गीताटीका 'सारार्थ-
वर्षिणी' समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिति

सारार्थवर्षिणी विश्वजनीना भक्तचातकान् ।
माधुरी धिनुतादस्या माधुरी भातु मे हृदि ॥ (२)
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतास्वष्टादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

इति श्रील-विश्वनाथ-चक्रवर्ति-ठक्कुर-कृता

'सारार्थवर्षिणी' टीका समाप्ता ।



व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

गी०भू०—व्यवहिततत्संवादश्रवणे स्वयोग्यतामाह—व्यासेति । व्यासप्रसादात्तादृत्तादिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपादेतद्गुह्यं श्रुतवान् । किमेतदित्याह—परं योगामिति । कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं चेत्यर्थः । परत्वं सम्पादयति—योगेश्वरादिति । देवमानवादि-निखिलप्राणिनां स्वभावसम्बन्धो योगः ; तेषामीश्वरान्नियन्तुः स्वयंरूपात् कृष्णात् स्वमुखेनैव, न तु परम्परया कथयतः । श्रुतवानस्मीति स्वभाग्यं श्लाघयते ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।

केशवाजुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाज्जुनसंवादे मोक्षयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

गी०भू०—राजन् धृतराष्ट्र ! पुण्यं श्रोतुरविद्यापर्यन्तसर्वदोषहरम्, मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं हृष्यामि—रोमाञ्चितोऽस्मि ॥७६॥

गी०भू०—तच्च विश्वरूपं यदज्जुनायोपदर्शितम् ॥७७॥

गी०भू०—एवञ्च सति स्वपुत्रविजयादिस्पृहां परित्यजेत्याह—यत्रेति । यत्र योगेश्वरः पूर्वं व्याख्यातः स्वसंकल्पायत्ता-स्वेत-

रसर्वप्राणिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकः कृष्णो वसुदेवसूनुः सारथ्यपर्यन्त-साहाय्यकारितया वर्त्तते, यत्र पार्थस्वत्पितृस्वसृपुत्रो नरावतारः कृष्णैकान्ती धनुर्धरोऽच्छेद्यगाण्डीवपाणिर्वर्त्तते । तत्रैव श्रीकृष्णाज्जुनाधिष्ठिते, युधिष्ठिरपक्षे श्रीराजलक्ष्मीः, विजयः शत्रुपरिभवहेतुकः परमोत्कर्षः, भूतिरुत्तरोत्तरा राजलक्ष्मीविवृद्धिः, नीतिन्यायप्रवृत्तिध्रुवा स्थिरेति सर्वत्र सम्बध्यते । यत्तु युद्धपरमेतच्छास्त्रमिति शङ्क्यते ? तत्र—‘मन्मना भव मद्भक्तः’ इत्यादेः, ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इत्यादेशोपदेशस्तस्माच्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मा हृदिशुद्धिहेतुतया लोकसंग्रहार्थतया चेह निरूपिता इत्येव सुष्ठु ॥७८॥

उपाया बहवस्तेषु प्रपत्तिर्दास्यपूर्विका ।

क्षिप्रं प्रसादनी बिष्णोरित्यष्टादशतो मतम् ॥

पीतं येन यशोदास्तन्यं नीतं पार्थसारथ्यम् ।

स्फीतं सद्गुणवृन्दैस्तदत्र गीतं परं तत्त्वम् ॥१॥

यदिच्छातरि प्राप्य गीतापयोधौ न्यमज्जं गृहीतातिचित्रार्थरत्नम् । न चोत्थातुमस्मि प्रभुर्हर्षयोगात् स मे कौतुकी नन्दसूनुः प्रियस्तात् ॥२॥ श्रीमद्गीताभूषणं नाम भाष्यं यत्नाद्विद्याभूषणेनोपचीर्णम् । श्रीगोविन्दप्रेममाधुर्यलुब्धाः कारुण्याद्रीः साधवः शोधयध्वम् ॥३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्येऽष्टादशोऽध्यायः ।



❀ गीता-माहात्म्यम् ❀



गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।
 विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥१॥
 गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
 नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥२॥
 मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
 सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥३॥
 गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
 या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥४॥
 भारतामृत-सर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
 गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥५॥
 सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
 पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥६॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
 एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥



श्रीश्रीस्वयम्भगवत्वाष्टकम् ।



स्वजन्मन्यैश्वर्यं बलमिह बधे दैत्य-वितते-
 र्यशः पार्थ-त्राणे यदुपुरि महासम्पदमधात् ।
 परं ज्ञानं जिष्णौ मुषलमनु वैराग्यमनु यो
 भगैः षड्भिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥१॥
 चतुर्वर्हिहृत्वं यः स्वजनि समये यो मृदशने
 जगत्कोटीं कुक्ष्यन्तर-परिमितत्वं स्ववपुषः ।
 दधि—स्फोटे ब्रह्मण्यतनुत परानन्त—तनुतां
 महैश्वर्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥२॥
 बलं वक्त्रां दन्तच्छदन-वरयोः केशिनि नृगे
 नृपे बाह्वोरङ्घ्रिः फणिनि वपुषः कंस-मरुतोः ।
 गिरित्रे दैत्येष्वप्यतनुत निजास्त्रस्य यदतो
 महौजोभिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥३॥
 असंख्यातो गोप्यो ब्रजभुवि महिष्यो यदुपुरे
 सुताः प्रद्युम्नाद्याः सुरतरु-सुधम्मर्दि च धनम् ।
 बहिर्द्वारि ब्रह्माद्यपि बलिवहं स्तौति यदतः
 श्रियां पूरैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥४॥
 यतो दत्ते मुक्तिं रिपु-विततये यन्नरजनि-
 विजेता रुद्रादेरपि नत-जनाधीन इति यत् ।

सभायां द्रौपद्या वरकृदतिपूज्यो नृपमखे
यशोभिस्तत् पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥५॥

न्यधाद्गीतारत्नं त्रिजगदतुलं यत् प्रियसखे
परं तत्त्वं प्रेम्नोद्धव-परमभक्ते च निगमम् ।

निज-प्राण-प्रेष्ठास्वपि रसभृतं गोपकुलजा-
स्वतो ज्ञानैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥६॥

कृतागस्कं व्याधं सतनुमपि वैकुण्ठमनय-
न्ममत्वस्यैकाग्रानपि परिजनान् हन्त ! विजहौ ।

यद्यप्येते श्रुत्या ध्रुवतनुतयोक्तास्तदपि हा
स्ववैराग्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥७॥

अजत्वं जन्मिदं रतिररतितेहारहितता

सलीलत्वं व्याप्तिः परिमितिहन्ता-ममतयोः ।

पदे त्यागात्यागाबुभयमपि नित्यं सदुररी-
करोतीशः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥८॥

समुद्यत्—सन्देह—ज्वरशत—हरं भेषजवरं

जनो यः सेवेत प्रथित-भगवत्त्वाष्टकमिदम् ।

तदैश्वर्य-स्वादैः स्वधियमतिवेलं सरमयन्

लभेतासौ तस्य प्रिय-परिजनानुग्य-पदवीम् ॥९॥

इति श्रीमद्भिषनाथ-चक्रवर्ति-ठक्कुर-विरचित-स्तवामृतलहरी

श्रीश्रीस्वयम्भगवत्त्वाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

